सचित्र

जैन जाति महोदय

(प्रथम खण्ड)

यह ग्रन्थ इतिहास की पूरी शोध खोज करके बड़े ही परिश्रम से तैयार करवाया गया है। इसमें जैन धर्म की प्राचीनता, चौवीस तीर्थङ्करों आदि का इतिहास, ओसवाल, पोरवाल, श्रीमाल आदि जैन जातियों की उत्पत्ति, ओसवाल जाति का समय निर्णय, रीति रिवाज, गौरव, उदारता, वीरता एवं परोपकारता के प्राचीन प्रमाण, भगवान महावीर से ४७० वर्ष पर्य्यन्त का इतिहास और वर्तमा काल की प्रचलित हानिकारक रूढियों का विस्तार से विवेचन किया गया है। इसमें पृष्ठ १०००, चित्र ४३ और पक्की जिल्द होते हुए भी मूल्य मात्र रु० ४) चार रुपये रक्खा गया है।

मिलने का पता—

श्रीरत्नप्रभाकर ज्ञानपुष्पमाला

मु० फलोदी [मारवाड]

'Shree Ratna Prabhakar Gyan Pushpmala'

Ancient History of MOORTI POOJA

By

Muni Gyan Sundarji Maharaj of Upkeshgachh

Author of

171 Granthas including Jain Jati Mahodaya, Samaisingh, Gayavar Vilas, Siddha Pratima Muktawali, Sheeghrabodh etc.

Oswal Samvat 2393 Vikram Samvat 1993
Veer Samvat 2463

First Edition.

Price for "Ancient History of Moorti-Pooja" & "Shreeman Lonkashah" *Rs. 5/- only*

'श्रीरत्नप्रभाकर ज्ञान पुष्प माला' पुष्प नं० १६४

॥ श्रीरत्नप्रभसूरीश्वर पादकमलेभ्यो नमः ॥

'मूर्तिपूजा का प्राचीन इतिहास'

लेखक—

जैनजाति महोदय, धर्मवीर समरसिंह, जैन जाति निर्णय,
सिद्धप्रतिमा मुक्तावलि, गयवरविलास, शीघ्रबोध,
और श्रीमान् लौंकाशाह आदि १७१ ग्रन्थो
के सम्पादक एवं लेखक
श्रीउपकेशगच्छीय

मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी महाराज
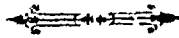
ओसवाल संवत् २३९३

वीर सं० २४६३ ई० सन् १९३६ वि० सं० १९९३

दोनों पुस्तकों "मूर्त्तिपूजा का प्राचीन इतिहास" व "श्रीमान् लौंकाशाह" का मूल्य ५) रु०

प्रकाशक—
श्रीरत्नप्रभाकर ज्ञान पुष्पमाला
फलोदी (मारवाड)

मुद्रक—
शम्भूसिंह भाटी
आदर्श प्रेस, केसरगंज
अजमेर

विश्व वन्द्य
भगवान् महावीर प्रभु
कृतापराधेऽपिजने, कृपामन्थर तारयो ।
ईषद्बाष्पार्द्रयोर्भद्रं, श्री वीर जिन नेत्रयो
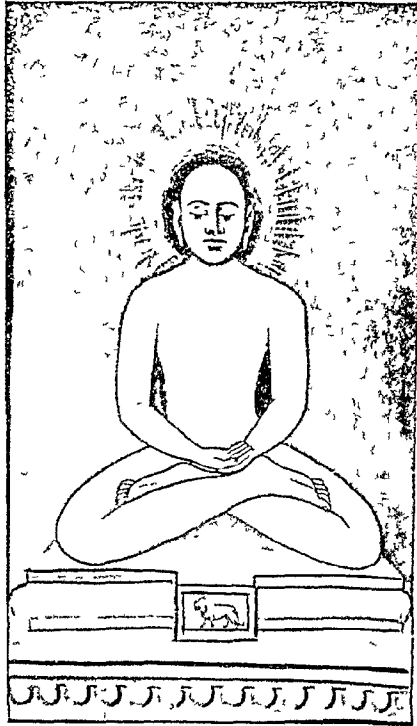
विचार परिवर्तन

मूर्तिपूजा का प्राचीन इतिहास और श्रीमान् लोंकाशाह के जीवन पर ऐतिहासिक प्रकाश, ये दोनो पुस्तकें एक ही जिल्द में बन्धाने का विचार था कि जिससे पढ़ने वालों को अच्छा सुविधा रहे और उस समय उन दोनो पुस्तकों का मेटर २५ से ३० फार्म होने का अनुमान लगाया गया था तदनुसार इनकी कीमत भी उसी प्रमाण से जाहिर की गई थी पर यथावश्यकता इनका कलेवर इतना बढ़ गया कि आज करीबन् ५७ फार्म और ४५ चित्र तक पहुँच गया है। इस हालत में इन दोनों पुस्तकों को अलग अलग बंधाने की योजना की गई है। यद्यपि इसमें बाइडिंग (जल्द बन्धी) का खरचा अधिक उठाना पड़ेगा तद्यपि पुस्तक का रक्षण और पढ़ने वालो की सुविधा के लिये पूर्व विचारों में परिवर्तन करना ठीक समझा है। फिर भी पाठक इस बात को ध्यान में रखें कि दोनो पुस्तको का मूल्य शामिल ही रखा है और मगाने पर दोनों किताबें साथ ही में भेजी जायगी। एक एक पुस्तक मंगाने का कोई भी सज्जन कष्ट न उठावें और दोनों पुस्तको का सम्बन्ध अन्यान्य मिलता होने से प्रत्येक पाठकों को साथ ही मंगानी और क्रमशः साथ ही पढ़ना जरूरी भी है।

❀ इति शुभम् ❀

—॥ संक्षिप्त सूची ॥—

कौन क्या कहते हैं ?

सुप्पतित्थ--भगवान् महावीर के पूर्वकालीन राजगृह नगर में सातवें सुपार्श्वनाथ का मन्दिर था। जिसमें महात्मा बुद्ध ठहरे थे, ऐसा बौद्ध ग्रन्थ "महावग्ग" में उल्लेख है। यह ऐतिहासिक घटना सर्वत्र माननीय है। देखो ! इसी पुस्तक के पृष्ठ १३४ पर।

× × ×

'नंदराज नीतं च कालिङ्ग जिन संनिवेसं'

कलिंग देश मे यह जिन मन्दिर भगवान् महावीर की मौजूदगी में बना था। महामेघवाहन महाराजा खारवेल का शिलालेख देखो ! इसी पुस्तक के पृष्ठ १२६ पर।

× × ×

"वीराय भगवत चतुरासितिय" प गौरीशंकरजी ओझा की शोध खोज से बड़ली ग्राम में मिला हुआ भगवान् महावीर के बाद ८४ वर्ष का शिलालेख देखो इसी पुस्तक के पृष्ठ १३८ पर।

× × ×

'आक्रोशाद्देवचैत्यानांउत्तमदंडमहार्त्ति"

कौटिल्य अर्थशास्त्र का ३-१८ का क़ानून, यह बतला रहा है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासन मे देव मन्दिरों के विरुद्ध जो कोई यद्वा तद्वा बोले वह महान् दंड का पात्र समझा जाता था, देखो इसी पुस्तक के पृष्ठ १९० पर।

'तो भी इतना माना जा सकता है कि इन देशों पर सम्प्रति का राज्य रहा हो और कितनेक जैनमन्दिर उसने अपने समय में बनवाये हों।

रा० ब० म० म० पं० गौरीशंकरजी, ओझा राजपूताना का इतिहास भाग १ पृष्ठ ९४

× × ×

यूरोप का महान् क्रान्तिकार डॉ० सोक्रेटिज (शुक्रात) ने कहा है कि मूर्त्तीपूजा छुड़ाने से लोगों की अज्ञानता घटेगी नहीं पर उल्टी बढ़ती जायगी या तो मिश्रवासियों की भांति मूर्त्तिपूजा छोड़ मगर व बीलाड़ा की पूजा करेगा या नास्तिक होकर कुछ भी नहीं करेगा।

× × ×

ऐतिहासिक—मर्मज्ञ प्रकाण्ड विद्वान् श्रीमान् राखलदास बनर्जी ने अपना यह निश्चय प्रगट किया है कि आज से २५०० वर्षों पूर्व जैनधर्म में मूर्त्तिपूजा होती थी (जैन सत्य प्रकाश) पृष्ठ १४९

× × ×

श्रीमान् केशवलाल हर्षदराय ध्रुव—भारतीय पुरातत्वज्ञो मे एक हैं आपने व्यक्त किया है कि कलिंग के शिलालेख से स्पष्ट हो जाता है कि आज से २३००–२५०० वर्ष पूर्व जैनों मे मूर्त्तिपूजा आम-तौर से प्रचलीत थी (   )

× × ×

"ढूँढियों का समुदाय वहुत प्राचीन नहीं है लगभग २०० वर्ष से यह प्रचलित है ।"

रा० व० पं० म० गौरीशङ्करजी ओझा राजपूताना का इतिहास भाग २ पृष्ठ १४१८ पर

× × ×

"लौंकाशाह पर किस धर्म का प्रभाव पड़ा था ? मेरा खयाल है कि यह इस्लाम (मुस्लिम) धर्म का ही प्रभाव था ।

दि० विद्वान् नाथूराम प्रेमी

× × ×

"जैन परम्परा में मूर्त्ति विरोध को पूरी पाँच शताब्दी भी नहीं वीती है ।

पं० सुखलालजी

× × ×

"हिन्द में इस्लाम संस्कृति का आगमन होने के वाद मूर्ति विरोध के आन्दोलन प्रारम्भ हुए ।

इतिहास मर्मज्ञ अंग्रेज महिला स्टीवन्सन

+ × ×

अब लुप्त सी हो गईं, रक्षित न रहने से यहाँ ।
सोचो तनिक कौशल्य की, कितनी कलाएँ थी यहाँ ॥
प्रस्तर विनिर्मित पर यहाँ थे, और दुर्ग बड़े-बड़े ।
अब भी हमारे शेष गुण के, चिह्न कुछ कुछ हैं खड़े ॥
अब तक पुराने खण्डहरों में, मंदिरों में भी कहीं ।
यह मूर्त्तियां अपनी कला का, पूर्ण परिचय दे रही ॥
प्रकटा रही है भग्न भी, सौन्दर्य की परिपुष्टता ।
दिखला रही है साथ ही, दुष्कर्मियों की दुष्टता ॥

—मैथिलीशरण गुप्त

मरु र उद्धारक और ओसवंश के आदि संस्थापक —जैनाचार्य श्रीमद् रत्नप्रभसूरीश्वरजी महाराज

उपकेशपुर नगर मे राजा और प्रजा को जैनी बनाते समय का दृश्य

वीर निर्वाण संवत ७० जिसको आज २३९३ वर्ष हुए

मरुधरोद्धारक एवं ओसवंश स्थापक

जैनाचार्य

श्रीमद् रत्नप्रभसूरीश्वरजी महाराज

आपश्री का पवित्र जन्म विद्याधर वंश के नायक महाराजा महेन्द्रचूड़ की पटराज्ञी सती शिरोमणि लक्ष्मीदेवी की रत्नकुक्षि से वीर निर्वाण के प्रथम वर्ष प्रथम मास के पाँचवे दिन मे हुआ था। आपका शुभ नाम रत्नचूड़ रक्खा गया। आपका घराना प्रारंभ से ही जैन धर्म का परमोपासक था। आपके पूर्वजो मे एक चन्द्रचूड़ नामक महान् पराक्रमी नरेश हुए, जो भगवान रामचन्द्र और लक्ष्मण के समसामयिक थे। जब वीर रामचन्द्र लक्ष्मण ने लङ्का पर चढ़ाई की थी, तब चन्द्रचूड़ ने भी आपका साथ दिया अर्थात् रावण के साथ युद्ध कर विजय प्राप्त करने में आप भी शरीक ही थे। अन्य विजयी पुरुषों ने लङ्का की लूट में जब रत्नादिक कीमती पार्थिव द्रव्य लूटा तब चंद्रचूड़ ने रावण के घरेलू देरासर से एक नीले पन्ने की अलौकिक, साधिष्ठित, महाप्रभाविक एवं चमत्करिक चिन्तामणि पार्श्वनाथ की मूर्त्ति प्राप्त की और आत्म-कल्याणार्थ उस मूर्त्ति की त्रिकाल पूजा करने लग गये। राजा चन्द्रचूड़ ने अपनी विद्यमानता मे ऐसा निश्चय कर दिया था कि मेरे पीछे इस सिंहासन पर जो राजा होगे वे मेरे सदृश ही इस पवित्र मूर्त्ति की पूजा कर आत्म-कल्याण करते रहेंगे, ठीक इसी नियमाऽनुसार वंश

परम्परा से हमारे चरित्रनायक रत्नचूड़ नरेश को भी उस प्रभाविक मूर्त्ति की पूजा का सौभाग्य मिल गया। रत्नचूड़ का २४ चौबीस वर्ष की वय मे ही राज्याभिषेक होगया और बाद में १६ वर्ष तक निष्कंटक राज्य कर जनता को सब प्रकार से आराम दिया। एक दिन आप अपने कुटुम्ब तथा सुहृद्वर्ग के साथ एक विमान पर सवार हो यात्रार्थ निकल पड़े और क्रमशः नाना स्थानों की यात्रा करते हुए अष्टम नन्दीश्वर द्वीप मे पहुँचे। वहाँ के ५२ भव्य जिनालयों की जब आपने यात्रा की तो आप एक दम संसार से विमुख हो मक्ति के इच्छुक बन गए। और जब वहाँ से लौट कर वापिस घर आ रहे थे तो उस समय प्रभु पार्श्वनाथ के पञ्चम पट्टधर आचार्यश्री स्वयंप्रभसूरि की मार्ग में आप से भेंट हुई और आचार्य श्री का वैराग्य मय उपदेश सुना। फिर तो क्या देर थी—झट से ज्येष्ठ पुत्र को राजगद्दी सौंप आपने ५०० मुमुक्षुओं के साथ सूरिजी के चरण कमलों में भगवती जैन दीक्षा को धारण कर १२ वर्ष तक गुरुदेव के पास विनय पूर्वक ज्ञानाऽभ्यास कर आप चौदह पूर्व के ज्ञाता बन गए। आचार्यश्रीस्वयप्रभसूरि ने अपनी अन्तिमाऽवस्था मे हजारों साधुओं में से मुनि रत्नचूड़ को सर्वतोभावेन योग्य समझ कर वीर निर्वाण के ५२ वें वर्ष आचार्य पदवी से विभूषित कर संघ का नायक बना दिया और आपका नाम रत्नप्रभ सूरि रक्खा गया। आप सादे और सरल जीवी होने पर भी बड़े ही प्रभावशाली और अहिंसा धर्म के कट्टर प्रचारक थे। आपने बड़ी २ कठिनाइयों का सामना कर अनेक प्रान्तों में विहार कर जैन धर्म का जोरों से प्रचार बढ़ाया और लाखो

विधर्मियों को जैन धर्म की शिक्षा दीक्षा दे जैन बनाया। इस प्रकार जैन धर्म का प्रचार करते हुए आप एक समय चक्रेश्वरी देवी की प्रेरणा से ५०० मुनियो के साथ क्रमशः विहार कर किसी भी परिषह और कठिनाईयों की परवाह न करते हुए मरुभूमि में पधारे। उस समय मरुभूमि मे जिधर देखो उधर वाममार्गियो के अखाड़े जमे हुए थे। यज्ञ यागादि में लाखों मूक प्राणियों का बलिदान और व्यभिचार करने मे धर्म बतलाया जाता था। मांस मदिरा के लिए सबको छूट थी—ऐसी हालत में विषय वासना ग्रस्त प्राणियो के लिए और क्या कामना शेष थी जो वे मनमानी करने में हिचकते। उस समय का नया बसा हुआ उपकेशपुर प्रधान रूप से वाममार्गियो का केन्द्र था अतः आचार्य रत्नप्रभसूरि अपने शिष्य मण्डल के साथ सर्व प्रथम वहीं पधारे पर उन पाखण्डियो के साम्राज्य मे आपको कौन पूछता ?। वहाँ तो उन्हे शुद्ध आहार पानी की भी कमी थी—अतः स्वयं आचार्यश्री ने तथा शेष साधुओ ने एक पहाड़ी पर कठोर तपश्चर्या प्रारंभ करदी। इधर देखा जाय तो निमित्त कारण[१] भी सानुकूल मिल गया कारण कार्य को लेकर आपकी तपश्चर्या का प्रभाव उस जनता पर इस तरह पड़ा कि वे सबके सब सूरिजी के पास आए और सूरिजी ने उन्हे प्रभावोत्पादक धर्मोपदेश सुनायाऔर राजा-प्रजा को मिथ्यात्वका त्याग करवाकर प्रायः ३८४००० तीनलाख चौरासी हजार घरवालो को वास क्षेप पूर्वक जैन बनाया। जिन लोगो के शक्ति तन्तु—वर्ण, जाति, और ऊँच नीचादि कई विभागो मे विभक्त थे उनका संगठन

१ देखो—जैन जाति महोदय ग्रंथ।

किया, उस संगठित समाज का नाम "महाजनसंघ" रक्खा और उसके आत्म-कल्याण के लिए भगवान् महावीर के मन्दिर की प्रतिष्ठा भी करवाई। इस घटना का समय वीर निर्वाण के बाद ७० वर्ष का था। यह घटना खास उपकेशपुर में घटी थी इस कारण कालाऽन्तर में वे लोग अन्यान्य स्थानों को चले जाने से "उपकेशवंशी" नाम से कहलाए और उसी "उपकेशवंश" का अपभ्रंश "ओसवाल" शब्द बना जो सर्वत्र प्रचलित है। क्योंकि मन्दिर मूर्त्तियों के शिलालेखों में इस ज्ञाति का प्राचीन नामोल्लेख प्रायः "उपकेशवंश" शब्द से ही हुआ सब जगह नजर आता है और ऐसा होना सम्भव भी है तथा बाद में उपकेशपुर या इसके आस पास विचरने वाले साधुओं का समूह भी "उपकेशगच्छ" के नाम से विख्यात हुआ जो आज भी इसी प्राचीन नाम से विद्यमान है।

आचार्यरत्नप्रभसूरि अपने जीवन में अनेक प्रान्तों में भ्रमण कर लाखों मांस, मदिरा और व्यभिचार सेवियों को शुद्ध "सनातन-धर्म" की राह पर लाये थे और अन्तिम समय में श्री शत्रुञ्जय तीर्थ पर एक मास का अनशन कर ८४ वर्ष की आयु पूर्ण कर वीर निर्वाण सं० ८४ माघ शुक्ला पूर्णिमा के दिन इस नश्वर शरीर को छोड़कर स्वर्गवास किया था। आचार्यश्री के स्वर्ग प्रयाण कर लेने पर अवशिष्ट साधुमण्डली को तथा सकल श्रावक समुदायको महान् दुःख हुआ परन्तु "अन्ततोगत्वा" फिर भी "शेरों की सन्तान भी शेर ही होती हैं" इस युक्ति के अनुसार "प्रारब्ध मुत्तमजनाः न परित्यजन्ति" इस नीतिवाक्य

---

१ देखो—जैन जाति महोदय तथा जयन्ति महोत्सव पुस्तकें।

को ध्यान में रखते हुए महापुरुषों द्वारा प्रचालित जैनधर्म के प्रचार कार्य को अक्षुण्ण रक्खा और उनके बाद में भी बराबर २००० वर्ष तक आपके शिष्य संप्रदायान्तर्गत इतर जैनाचार्यों ने आपकी स्थापित शुद्धि-मिशन द्वारा लाखों करोड़ों अजैनों को जैन बना अपने शासन को उन्नत बनाया, पर यह सब आपश्री के ही प्रथम पुरुषार्थ का सुन्दर फल था, अतएव जैन समाज एवं विशेषतः ओसवाल जाति आज भी आपके उपकार रूप ऋण से नत मस्तक है।

जैन समाज और खास कर ओसवाल समाज का यह सर्व प्रथम कर्त्तव्य है कि वे प्रतिवर्ष माघ शुक्ल पूर्णिमा के दिन विराट् सभा कर आचार्यरत्नप्रभसूरि की पवित्र जीवन-गाथा को प्रत्येक व्यक्ति के कर्णकुहरों एवं मन-मन्दिरों में भरदें जिससे कि वे अपने आपको आचार्य श्री के प्रबल ऋण भार से कुछ मुक्त कर सकें। अब यदि आप अपनी कृतघ्नता एवं प्रमादावस्था के कारण आचार्यश्री के जीवन से आज तक अज्ञात हैं तो लीजिये:-

"आचार्य रत्नप्रभसूरि का जयन्ति-महोत्सव"

नाम की पुस्तक, तथा जिस समय आचार्य देव ने उपकेशपुर के राजा प्रजा को उपदेश दे जैन धर्म में दीक्षित किया था उस समय के दृश्य का एक प्रभावोत्पादक १६=१२ इंच का बड़ा साइज वाला तिरङ्गा चित्र,। इन दोनों अलभ्य पदार्थों को आप अपने पास मँगवा कर मन के मधुर मनोरथों को आज ही सफल बना अपने को कृत-कृत्य करें। सुज्ञेषु किमधिकम्-

आचार्य चरणाऽब्जानां चञ्चरीकः

ज्ञानसुन्दर

महाजन वंश के मुख्य गौत्र

उपकेशपुर में वीरात ७० वर्ष महाजनवंश की स्थापना हुई उसके पश्चात् ३०३ वर्षों में एक दुर्घटना बनी जिसकी शान्ति के लिये स्नात्रपुजा पढ़ाई उस में निम्न लिखित १८ गौत्र के लग स्नात्रीय बन पूजा में लाभ लिया था। उन गौत्रों के नाम और बाद में हुई शाखाएँ।

१—तातेड गोत्र (तोटियाणि आदि २२ शाखा हुई)

२—बाफणा (नहाटा, जांघड़ा, वेताला, बलोटा, बालिया, पटवा, दफतरी आदि ५२ शाखा एक गोत्र से हुई)

३—करणावट (वागडिया सववी आदि १४ शाखाए)

४—बलाह (रांका बांका सेठ छावत चोधरी २६)

५—मोरख (पोकरणा संघवी तेजरादि १७ शा०)

६—कुलहट (सुरवा सुसाणी आदि १८ शाखा)

७—विरहट (भुरंट गोपत्तादि १७ शाखाए)

८—श्री श्रीमाल (निलडिया झावाणी आदि २२ शाखा)

९—श्रेष्टि (वैद्यमेहता सोनावत शूरमादि ३० शाखा)

१०—सचेति (छेलडिया बिंबादि ४४ शाखाएँ)

११—अदित्यनाग (चोरडिया पारख गुलेछा सावसुखा नाभरिया गदइया आदि ८५ शाखाएे इस गौत्र से निकली)

१२—भूरि (भटेवरा उडकादि २० शाखा)

१३—भाद्र (समदड़िया भांडावत हिंगडादि २९ शाखा)

१४—चिंचट (देसरडा ठाकुरादि १९ शाखाएं)

१५—कुमट (काजलिया धनंतरी आदि १९ शाखाए)

१६—डिड्डू (राजोत् सोसलाणी कोचरमेहतादि २१ शाखा)

१७—कनौजिया (वडभटा तेलियादि १७)

१८—लघुश्रेष्टि (वर्धमाना लुनेचादि १६)

इन के अलावा सुंघड दुघड चण्डालिया लुनावत छाजेड़ वागरेचादि कई जातिएं इसी गच्छ के आचार्यों ने बनाइ।

साहित्य प्रेमी

१६८ ग्रन्थों के लेखक व संपादक

मुनिश्री ज्ञानसुन्दरजी महाराज

इस ग्रन्थ के लिखने में

निमित्त कारण कौन है ?

मैं स्थानकवासी समुदाय से मूर्तिपूजक समाजमे आया उस समय कई प्रकार के लेखो और पुस्तकों द्वारा मेरे पर आक्रमण कर स्थानकवासी भाइयों ने मुझे एक प्रकार का बल प्रदान किया और बराबर १२ वर्ष, मैं उन आक्षेपो का मुँहतोड़ उत्तर देता ही रहा परन्तु बाद करीबन ७—८ वर्षों से मैंने इस विषय को छोड़ दिया और अपना समय तात्विक एवं इतिहास ग्रंथ लिखने में बिताया, पर इसीसे हमारे स्थानकवासी भाइयों को सन्तोष नहीं हुआ शायद् उन्होंने मुझे अपने लेखो के उत्तर के लिये कमजोर समझा होगा। इसी कारण पूज्य श्री जवाहरीलालजीमहाराज ने अपनी सचित्र पुस्तकों में आचार्य केशीश्रमण के, प्र० व० श्री चोथमलजी ने भगवान् महावीर के और शंकरमुनिजी ने आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के मुँहपर डोरावाली मुँहपत्ती बंधवाने के चित्र छपवाये तथा स्वामि सन्तबालजी व मणिलालजी ने अपनी पुस्तको मे लोंकाशाह को क्रान्तिकार लिख तीर्थङ्करों की तथा पूर्वाचार्यों की निंदा को किसी ने "क्या मूर्तिपूजा शास्त्रोयुक्त है" इत्यादि पुस्तकें छपवा कर मेरी आत्मा में इस विषय पर लिखने की मानो प्रेरणा ही की हो और उस प्रेरणा से प्रेरित हो इस कार्य के लिये मैंने चार मास जितना समय इन सज्जनों की सेवा के लिये निकाला कर यह दोनों पुस्तक तैयार की है अतएव इन पुस्तको को पढ़ कर सत्य ग्रहन करेगा तो मैं मेरा समय शक्ति का व्यय को सार्थक समझूंगा।

—ज्ञानसुन्दर

मरुधर केशरी

मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी महाराज

आप हमारे मारवाड़ के एक धर्मवीर और चमकते सितारे हैं। आप श्री का जन्म मरुधर जैसी वीर भूमि की प्रधान राज धानी जोधपुर स्टेट से १८ मिल के फासिले पर बसे हुए समृद्ध नगर वीसलपुर में उदारतादि अनेक गुण युक्त श्रेष्ठि गोत्रीय वैद्य मेहता जाति के नर रत्न श्रीमान् नवलमलजी साहिब की धर्मपत्नी श्रीमती रूपादेवी की रत्न कुक्षि से वि० सं० १९३७ विजयादशमी के शुभ दिन को हुआ था। जब आप माताश्री के गर्भ में आए तब माताजी ने "प्रधानगज" का स्वप्न देखा था तदनुसार आप का नाम भी " गयवरचन्द " रखा। आप के जन्म के शुभ सम्वाद से चारों ओर हर्ष की लहरें उमड़ पड़ी थीं और हर्ष के कारण आपश्री के माता पिता ने पुत्र जन्म की खुशी में अनेक प्रकार के दान और महोत्सव किए क्यो कि कहा भी है कि.—

रण-जीतण तोरण बन्धन, पुत्र जन्म उत्साव।
तीनों अवसर दान के, कौन रंक कौन राव ॥

आपकी बाल्यावस्था भी पूर्ण प्रमोद एवं परमानन्द से बीती थी और बाद में जब आपने विद्या के क्षेत्र में प्रवेश किया तो पूर्व जन्म के सजड़ संस्कारों के कारण आपने थोड़े ही समय में

व्यवहार और व्यापार की कुशलता हासिल करली और जैसे व्यापार में दक्ष थे वैसे ही वीर एवं साहसी भी थे। किशोरावस्था के बाद जब आपने युवावस्था में पदार्पण किया तो चारों ओर से आपकी शादी के लिए शुभ समाचार आने लगे, पर आपके पिताश्री ने अन्तिम निर्णय सलावास के श्रीमान् भानुमलजी बागरेचा की सुयोग्य कन्या राजकुंवर के साथ किया और तदनुरूप वि० सं० १९५४ मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी के दिन बड़े ही धूम धाम से हमारे चरित्र नायक कुंवर गयवरचन्द का विवाह श्रीमती राजकुंवर के साथ हो गया।

मेहताजी के हमारे चरित्र नायक के अतिरिक्त और भी पाँच पुत्र * तथा एक पुत्री थी, परन्तु इन सब में सब से बड़े आप ही थे। अतः मेहताजी आपके लिये पहिले से ही अनेक आशाओं के पुल मन ही मन बांध रहे थे, परन्तु प्रकृति को कुछ और ही मन्जूर था। हमारे चरित्र नायक के धार्मिक संस्कार आरम्भ से ही इतने उज्ज्वल थे कि आपने बचपन ही में सामायिक, प्रतिक्रमण और कई एक ढालें तथा अनेक थोकड़े कण्ठस्थ कर लिए थे।

आपकी शादी को पूरे चार वर्ष भी नहीं बीते थे कि दैववश आपका मन संसार से विरक्त होगया तथा आप दीक्षा लेने पर उतारू होगए, परन्तु आप के सम्बन्धी भला ऐसा करने में कब अनुमति देने वाले थे अतः "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" के अनुसार दीक्षा लेना और सम्बन्धियों द्वारा उसकी आज्ञा न मिलना,

---

* गणेशमलजी, हस्तीमलजी, वस्तीमलजी, मिश्रीमलजी, गजराजजी और जतनबाई।

इस झमेले में बहुत अर्सा गुजर गया। इस बीच में दैव दुर्विपाक से वि० सं० १९५८ में आप के पिताश्री का देहान्त हो गया। फिर तो क्या था सारे कुटुम्बका भार आपके ऊपर आ पड़ा और इच्छा के न होते हुए भी केवल नैतिक कर्तव्यवश आप फिर कुछ काल के लिये सांसारिक बने। तथापि आपका अन्त.करण हर समय दीक्षा के लिए उत्सुक रहता था। पिताश्री के देहान्त को पांच वर्ष बीत जाने के बाद आपके सुकर्मों का फिर उदय हुआ और वि० सं० १९६३ में आपने २६ वर्ष की युवक वय में माता, स्त्री, भाइयों आदि कुटम्ब का त्याग कर स्थानकवासी पूज्य श्रीलालजी महाराज के उपदेश से दीक्षा ग्रहण की और ७ वर्ष तक धार्मिक शास्त्र याने ३२ सूत्रो का और ३०० थोकड़ों का यथावत् अध्ययन किया। आपकी चढ़ती जवानी, उत्कृष्ट वैराग्य, विशालज्ञान, मधुर रोचक एवं प्रभवोत्पादक व्याख्यान की छटादि मौलिक गुणो से स्थानकवासी समाज में सर्वत्र प्रतिष्ठा और भूरि भूरि प्रशंसा हो रही थी। यदि एक बार आपकी अमृतमय देशना श्रवण करले तो उनको पुनः पुनः श्रवण करने की इच्छा सदा बनी रहती है और श्रोतागणों के अन्तःकरण से स्वयमेव इसके लिए प्रशंसा के वाक्य निकल पड़ते थे। पूज्य श्रीलालजी महाराज के बाद उनकी पूज्य पदवी के उत्तराधिकारी भी आप ही थे, किन्तु आपने जब अनवरत शास्त्रावलोकन के कारण शास्त्रो मे मूर्ति विषयक पाठ देखे और इस विषय का रहस्यमय अभ्यास किया तो ज्ञात हुआ कि स्थानकवासी मत शास्त्र-सम्मत मूर्तिपूजा को नहीं मानते हैं। और मूर्ति नहीं मानने से ही अनेक सूत्रो के अर्थ बदलने पड़ते हैं और सूत्रो पर की निर्युक्ति टीका चूर्णि भाष्य

तथा पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रन्थों के मानने में इन्कार करना पड़ता है। यही नहीं किन्तु जिन आचार्यों का हमें परमोपकार मनना चाहिये उलटी उनकी निन्दा कर कर्म बन्धन करना पड़ता है। इनके अलावा स्थानकवासी लोगों ने आगमानुसार व पूर्व परम्परागत आचार व्यवहार और क्रियाकर्म में पूर्णतः परिवर्तन कर अनेक निन्दनीय प्रवृत्तिएँ गढ़ डाली हैं। अस्तु उक्त विषय मे अपने लगातार दो वर्ष तक खूब चर्चा की परन्तु किसी ने आपके मन का सन्तोष जनक समाधान नहीं किया। समाधान नहीं करने का केवल मात्र कारण यही था कि इस कल्पित मत में कोरी अन्ध परम्परा ही चली आ रही है। इस मत में न तो साधुओं के करने योग्य क्रियाओं का ही कोई सम्यक ठिकाना है और न श्रावकों के सामायिक, पौसह, प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान का पूरा पता है। इस मत में यदि कोई किसी से कुछ प्रश्न पूछे तो उसका समाधान करने वाला भी कोई नहीं है। अतः जिस के दिल में जो आ जाता है वह उसे ही कर गुजरता है। इन सब का पूर्णतः विचार कर लेने पर भला कोई सुज्ञ पुरुष कब तक कल्पित अन्ध परम्परा में रहना अच्छा समझेगा ?। बस इसी से हमारे चरित्रनायकजी ने नौवर्षों के बाद वि० सं० १९७२ में ओसियाँ तीर्थ पर पधारे और परम योगिराज शान्तिमूर्ति मुनि श्रीरत्नविजयजी महाराज१ के चरण कमलों में पुनः जैनधर्म में दीक्षित होगए।

---

१ आप श्रीमान ने भी १८ वर्ष तक पहिले स्थानकवासी सम्प्रदाय में रह कर सत्य का संशोधन कर शास्त्र विशारद जैनाचार्य श्री विजयधर्म सूरिजी के पास जैन दीक्षा स्वीकार की थी।

आपका परम पवित्र जीवन अनुकरणीय एवं आदरणीय है उस सब को इस संक्षिप्त परिचयमें हम बतला नहीं सकते हैं अतः समय मिलने पर फिर कभी विस्तृत रूप से लिख कर पाठकों की सेवा में रखेंगे। यहा पर अभी तो मात्र इतना ही कह देना समुचित समझते हैं कि आप श्री ने मारवाड़ की वीर भूमि पर अवतार लेकर जनर्नजन्म भूमि की सेवा करने में अथाह परिश्रम किया है। कितनेक लोग आपद् समय में यह कह उठते हैं कि हम अकेले क्या करें? पर हमारे मरुधर केशरी मुनि श्री अकेले होते हुए भी अनेकानेक विपक्षियो के बीच में रह कर निडरता पूर्वक क्या-क्या काम किया और कर रहे हैं उनको सुनने ही मनुष्य चकित हो जाते हैं। यह तो आप जानते ही हैं कि जैन मुनियो को पैदल भ्रमण करना और क्रिया कल्पादि से यों ही बहुत कम समय मिलता है। किन्तु उस अवशिष्ट (वंचित) समय में भी छोटे बड़े १७१ ग्रन्थो का संपादन करना या कई तो हाथो से लिखना, प्रूफ संशोधन करना, आये हुए प्रश्नो का उत्तर लिखना, काम पड़ने पर शास्त्रार्थ के लिए तैयार रहना, प्रायः हमेशा व्याख्यान देना, इसके अलावा कई बोर्डिंगें, पाठशालाएं, कन्याशालाएँ, लाइब्रेरिएँ, सेवा मण्डलों आदि संस्थाएँ स्थापित करवाना, जहाँ धर्म की शिथिलता देखी वहां उत्सव महोत्सव करवा के धर्म की जागृति करना, कई मन्दिरो की आशातना मिटा के पुनः प्रतिष्ठा करवाना, इतना ही नहीं पर समय-समय तीर्थों की यात्रा और अन्य भव्यो के यात्रार्थ संघ निकलवाना आदि आदि अनेक समाज और धर्म कार्य आपश्री ने बड़ी योग्यता और उत्साह पूर्वक किये और करवाये हैं फिरभी आपके सहायक कौन ? ।

जहां तन और धन की प्रचुरता से सहायता मिलती हो वहां वो कार्य करने में आसानी है पर मारवाड़ जैसे शुष्क प्रदेश में तो इन दोनों बातों का प्रायः अभावसा ही है तथापि आत्मार्पण करने वाले पुरुषार्थी महात्माओं के लिए सब कुछ बन सकता है।

मुनि श्री की वृद्धावस्था के कारण शरीर शिथिल होने पर भी आपका प्रकाशन कार्य्य आज पर्यन्त चालू ही है और उनके प्रचार के लिये हमारे स्थानकवासी समाज द्वारा चारों ओर जाहिर खबर फैलाई जाती है। हम महाराजश्री को इस परोपकार के लिये हार्दिक धन्यवाद देते हैं और चाहते हैं कि ऐसे परोपकारी महात्मा चिरायु हों और हम भूले भटकों को सन्मार्ग की राह बतला कर मरुभूमि का उद्धार करते रहें। अस्तु—

आपश्री का चरण सेवक

दफ्तरी जवाहिरलाल जैन।

जगत् प्रसिद्ध

शास्त्रविशारद जैनाचार्यश्री विजयधर्म सूरीश्वरजी

का

संक्षिप्त परिचय

विश्व विख्यात सौराष्ट्र (काठियावाड़) प्रदेश, यों ही शत्रुञ्जय और गिरनार जैसे परम पावन तीर्थ स्थानों को अपने ऊपर लिए जैनी मात्र के लिए श्रद्धा का भाजन हो गया है, तिस पर भी वह अपने महुवा नामक सुदूरवर्त्ती, सदा-समुद्र कल्लोल-सुसेवित एक सुरम्य शहर में जैनाकाश के चमकते सितारे, वर्त्तमान काल के कल्पतरु स्वरूप आचार्य श्रीविजयधर्मसूरिजी को जन्म देकर धन्य २ हो गया है। हमारा यह विषय नहीं कि महाराज श्री के समग्र जीवन को हम पाठको के लिए सुगम कर सकें किन्तु उक्त महाराजश्री की प्राकृतिक महत्ता के वशीभूत हो हठात् कुछ शब्द लिख भव्य भावुक जनों को आपका कुछ परिचय करा देते हैं।

"आप श्री की माता कमला देवी और पिता रामचन्द्र इस भारत भूमि के अनुपम रत्न स्वरूप थे। वि० सं० १९२४ में महुवा नामक शहर में जन्म ले आपने अपने उभय (मातृ पितृ) कुल को देदीप्यमान किया। उस समय लोग आप को मूलचंद के नाम

जगतप्रसिद्ध
शास्त्रविशारद जैनाचार्य श्रीविजयधर्म सूरीश्वरजी

इस चित्र में वतलाये हुए विद्वान् अंग्रेजो के अलावा भी कई पौर्वात्य एवं पाश्चात्यों के मनमन्दिर मे जैनधर्म का स्थान वढाने वाले वीसवीं शताब्दी के एक जबर्दस्त सुधारक, जिन्होंने अनेक कठिनाइयों का सामना कर काशी जैसे प्रदेश मे पधार कर वहाँ के नरेश एवं ब्राह्मणो के हृदय की दूषित वायु मिटा कर उन्हो के द्वारा पदवी हासिल करनेवाले अद्वितीय समर्थ आचार्य के चरणो मे कोटि कोटि वन्दन।

से पुकारा करते थे। शिक्षा की अपेक्षा आप बचपन में खेल कूद पर विशेष रुचि रखते थे और इस प्रक्रिया में बढ़ते बढ़ते आपने वे खेल खेलने भी शुरू कर दिए जिनसे पांडवों और राजा नल को जंगल २ मे भटकना पड़ा था। पर आखिर "अंधेरा सूर्य को कब तक रोके रख सकता है" आपने उस मायावी द्यूत क्रीड़ाको दूरसे ही दुत्कार कर साथही साथ इस असार संसार की भी खराबी समझ ली और तदनुसार शान्तमूर्त्ति आचार्य प्रवर गुरुवर्य श्रीमान् वृद्धिचन्दजी महाराज के कर कमलो से आप दीक्षित हुए। दीक्षाऽनन्तर आपका नाम बदल कर मुनिधर्मविजय" रक्खा गया जो कालान्तर में "यथा नाम तथा गुण" के अनुसार सत्य में परिणत हुआ। थोड़े ही समय में आपने उज्वल गुरु भक्ति से जड़ता का परदा नाश कर दिया और शनैः २ ज्ञाना-भ्यास की ओर कदम बढ़ाना शुरू किया। जमाने की जरूरतों को समझ कर आपने पहिले से ही कई संकल्प दृढ़ कर लिए और प्राचीन रूढ़िवाद की खराबियो को समझ लिया। गुरुजी के स्वर्गवासाऽनन्तर आप अपने विचारो को क्रियात्मक रूप देने के लिए अनेक कष्ट उठा बनारस आगए।

वहाँ जैनधर्म के विद्वेषी धुरन्धर शास्त्रियों और पण्डितों को फिर से जैन-धर्म के प्रशंसक बनाए और वहाँ (बनारस) "यशो विजय जैन पाठशाला" स्थापित कर अनेक विद्वान् पैदा किए। तथा "श्री यशोविजय ग्रंथमाला, द्वारा अनेक प्राचीन ग्रन्थों का प्रकाशन कर लुप्त प्राय प्राचीन साहित्य का पुनरुद्धार शुरु किया। कलकत्ता यूनिवर्सिटी में जैन न्याय और व्याकरण के तीर्थ परिक्षा तक के ग्रन्थ दाखिल करवाए। लंका में अपने

शिष्यों को भेज बौद्धो में जन धर्म का प्रचार करवाया। स्वयं ने भी अनेक स्वतंत्र ग्रन्थों का निर्माण कर और समय समय पर समाचार पत्रादि में लेख लिख धर्म की आशाऽतीत उन्नति की विद्या के अविच्छिन्न और स्थायी प्रचार के लिए आप श्री ने.—

"श्री वीरतत्त्व प्रकाशक मण्डल शिवपुरी, महुआ का बाला-श्रम. तथा पालीताने का गुरु कुल" जैसे विशाल विद्या केन्द्र स्थापित किए और साथ ही "बम्बई जैन स्वयं सेवक मण्डल" जैसी उदार सामाजिक संस्था को भी जन्म दिया। आगरा के प्रसिद्ध "ज्ञान मन्दिर" जैसे अद्वितीय पुस्तकालय और अनेक गौशालाएँ आदिकी स्थापना करवाने का भी श्रेय आप ही को है।

एक समय के जैन धर्म के कट्टर विरोधी पण्डितों द्वारा श्रीकाशी नरेश के सभापतित्व में "शास्त्र विशारद जैनाचार्य" की पदवी हासिल की। यह वर्तमान आचार्यों में पहला ही उदा-हरण हैं कि विधर्मी पंडिता और एक नरेश द्वारा पदवी हासिल करना। यह तो आप का योग्य ही सत्कार किया गया है। बंगाल आदि अनेक प्रदेशों में दया रस की अविरल धारा बहा कर अनेक मांस भोजियोंको अपने दया धर्मी बनाया है। जोधपुर में भी जैन साहित्य सम्मेलन" करवा कर आपने देश विदेशो में जैन साहित्यकी महत्ता का डका बजाया है। आबू के मन्दिरो की आशातना टलवा कर उन्हे पूर्ववत् सर्वोच्चता प्राप्त कराने का श्रेय भी आप ही को मिला था। आप ही के उपदेश से राणकपुर और उपरियाला आदि तीर्थों का उद्वार हुआ था।

अनेक राजा महाराजाओं और उच्च आफिसरों को आपने अपने त्याग मय चारित्र-धर्म पर श्रद्धालु कर दिया। उदयपुर, जोधपुर, इन्दौर, ग्वालियर, दरभंगा और काशीआदि अनेक नगरों के राजा महाराजाओं ने आपका आदर्श उपदेश सुन अपने को धन्य समझा था। राजकोट की "राज कुमार कॉलेज में आपके उदात्त व्याख्यान खूब धाम धूम से हुए थे। बम्बई के "गवर्नर" ने अपने गवर्नमेण्ट हाउस में सन् १९२० में आपको बुला कर अपने आपको पवित्र किया था। अनेक प्रान्तों के कलेक्टर, सूबा और हाकिम आपके भक्त हैं।

आपश्री ने पश्चात्य विद्वानों को भी उनके साहित्यिक उद्योग में पूर्ण सहायता दी थी। कई एक पश्चात्य विद्वान् तो आपकी सेवा में यहाँ (भारत में) आ आकर आप से पढ़े थे। यूरोप आदि विदेशों के विद्वान् आपकी सर्वतोमुखी प्रतिमा पर मुग्ध होकर भगवान् महावीर और बुद्ध से आपका मुक़ाबिला करने लग गये हैं। वहाँ का एक पत्र "The Near East" लिखता है कि:—"इस शताब्दी के पूर्व जैनिज्म स्थिर था, उसे एक सुधारक विजयधर्मसूरि ने जबर्दस्त उत्तेजन दिया है, जिसका मुक़ाबिला महावीर और बुद्ध से किया जा सकता है"।

डॉ० हर्टल, डॉ० जॉली, डॉ० टुचच डॉ० शुब्रिंग डॉ० जोहोन्सेन, डॉ जेकोबी, डॉ० थोमस, डॉ० बेलोनी, डॉ० कोनो आदि २ प्राय: पौन सो विद्वान् आपके भक्त हैं। वहाँ का एक दूसरा पत्र (The Glasgow Herald) तो यहाँ तक लिखता है:—

"पिछले कुछ वर्षों से जैनों में जो खास मानसिक, नैतिक

और धार्मिक परिवर्तन हुए हैं, वे सिर्फ विजयधर्मसूरिजी के चारित्र के प्रभाव से ही हुए हैं"।

आपके व्यक्तित्व के लिए फ्रेञ्च विद्वान डॉक्टर सिल्वनलेवी कहता है "—मुझे यह कहना होगा कि वे उत्कृष्ट प्रभावशाली व्यक्तियों में से एक हैं जिनके जैसा (दूसरा) महात्मा शायद ही इस दुनिया में मिलेगा।"

स्वीडन विद्वान् डॉक्टर जॉल चारपेन्टीयर कहते हैं—" वे महा पुरुष सच्चे महापुरुषों के प्रमाणित नमूने थे। जिनमें उच्च से उच्च माननीय आदर्श देखेहैं, जिन आदर्शों मे साधुता और विद्वत्ता का सुन्दर सम्मिश्रण है"।

इस प्रकार अनेक अमेरिकन, फ्रेञ्च, जर्मन, इटालियन, स्वीडन आदि देशों के विद्वानों ने आपके प्रति उच्च अभिप्राय व्यक्त किए हैं।

डॉ० शारलोटी क्राउजे ने तो जैन धर्म स्वीकार कर "अणुव्रतादिक (श्रावक व्रत) भी ले लिए हैं"

शान्ति निकेतन की विश्व भारती में जैन शिक्षण का सेन्टर स्थापित करने में श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर ने आपसे ही मदद ली थी।

इत्यादि बहुत से प्रभावान्वित कार्यों को करते हुए हमारे आचार्यश्री वि० सं० १९७९ में शिवपुरी में इस नश्वर देह को छोड़ सदा के लिए स्वर्गवासी हुए।

अन्त में हम इतना ही कहते हैं कि आप आदर्श थे, उच्च कोटि के विद्वान् थे, और जैन समाज में एक प्रबल नवयुग प्रवर्त्तक थे।

आपने जैन साहित्य का अभूतपूर्व उद्धार किया और क्षुद्र विचारो का नाश किया, आपने अपने लघु जीवन में जो २ महत्व के कार्य किए हैं वे सदा के लिए स्थायी रहेंगे और इसीसे हम कहते हैं कि आप केवल जैन समाज के ही नहीं किन्तु भारत भर के एक जग मगाते अमूल्य हीरे थे।

अव- भूरि २ वन्दन हो उन महात्मा को।

चरणरज

ज्ञानसुन्दर

दानवीर

श्रीमान् सूरजमलजी साहिब कोचर।

आप श्रीमान् फलोदी (मारवाड़) के नागरिक, और सेठ धारजी चान्दनमलजी सिकन्दराबाद फर्म के मालिक हैं। यों तो आपका उदार जीवन विस्तृत और अनुकरणीय है किन्तु यहां मुझे आपकी संक्षेप से आर्थिक उदारता का नमूना पाठकों की सेवा में रखना है इसलिए समुचित समझता हूँ कि लक्ष्मी के लाड़ले पूत इन महाशय का अनुकरण कर जैन-शासन सेवा के निमित्त अपने धन का सदुपयोग कर निज मनुष्य जीवन को समुन्नत बनावें। सेठजी के दान का ब्यौरा निम्न लिखित है।

२२०००) रु० आपने फलोदी में तपागच्छ की धर्मशाला बनाने मे व्यय कर पुण्योपार्जन किया।

७०००) रु० श्री कदमगिरि पर मन्दिर बनाने में खर्च किए।

६०००) रु० स्वयं आपने तथा आपकी पुत्रवधू ने तपश्चर्या की पूर्णाहुति में उद्यापन करके व्यय कर तपाराधन किया।

२०००) रु० सिकन्दराबाद की जैन लाइब्रेरी में लगाए।

१७८१) रु० फलोदी में श्री शान्तिनाथजी के मन्दिर की प्रतिष्ठा में व्यय कर दर्शन पद की आराधना की।

१६००) रु० श्री सिद्धक्षेत्र में नवकारसी जीमणवार में खर्च किए।

दानवीर श्रीमान् सूरजमलजी साहिब कोचर मेहता

फलोदी (मारवाड़) सिकन्दराबाद (दक्षिण)

१५७२) रु० तीर्थश्री कुलपाकजी के निमित्त लगाए।

१४०१) रु० सिकन्दराबाद में मन्दिर और धर्मशाला के निमित्त दिए।

१०६१) रु० हैदराबाद (दक्खिन) में मन्दिर व धर्मशाला के लिए दिये।

१०००) रु० मद्रास की जीवदया संस्था को प्रदान किए।

१०००) रु० पालड़ी का संघ जैसलमेर जाता हुआ फलोदी आया तब स्वामिवात्सल्य कर स्वधर्मी भाईयों की सेवा की।

९८५) रु० श्री कापरड़ाजी तीर्थ में खर्च किए।

५७६) रु० तीर्थ श्री ओसियां में लगाए।

५००) रु० श्री कदमगिरी पर पदवी महोत्सव के समय अठाई महोत्सव आदि में लगाए।

५००) रु० सिकन्दराबाद में श्री जैन पाठशाला को दिए।

३००) रु० खर्च कर श्री भांदकजी में एक कोटड़ी बनवाई।

२५१) रु० अलवर के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराने में लगाए।

२५१) रु० विहार भूकम्प फण्ड में दिए।

१९१) रु० कोइटा भूकम्प फण्ड में दिए।

१५०) ,, अलीराजपुर तीर्थ के जीर्णोद्धार में लगाए।

१११) ,, फलोदी समवसरण के चन्दे में।

१०२) ,, जामनेर जैन बालाश्रम मे।

१०१) ,, जैसलमेर ज्ञान भण्डार के जीर्णोद्धार में।

१०१) ,, सिकन्दराबाद में गऊओं को घास निमित्त।

१०१) ,, जोधपुर के भैरूबाग वाले मन्दिर में ।
१००) ,, किशनगढ़ मन्दिर के जीर्णोद्धार में ।
१००) ,, श्री चींचोड़ पाठशाला मे ।
७१) ,, दादाजी का जीवन छपवाने में ।
५१) ,, सोजत के मन्दिर के जीर्णोद्धार में ।
४००) ,, अभी हाल ही में "मूर्त्तिपूजा का प्राचीन इतिहास" छपवाने मे ।

इनके अलावा भी पावापुरी और कुण्डलपुर में यात्रियों की सुविधा के लिए धर्मशालाएं बनवाई । "राइदेवसि प्रतिक्रमण" विधि सहित छपवा के मुफ्त में वितीर्ण कराया । और भी अनेक कामो में आपने अपनी चललक्ष्मी का सदुपयोग किया है । आप जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक तपागच्छ के श्रद्धा सम्पन्न श्रावक हैं । पर दान करते समय आप कोई संकीर्ण वृत्ति नहीं रखते हैं जो आया और आवश्यकता देखी उसे यथा शक्ति देने की आप श्रीमान् की प्रवृत्ति आज भी विद्यमान है । ऐसे उदार हृदय वाले परोपकारियों को मैं धन्यवाद देना अपना प्रथम कर्तव्य समझता हूँ ।

विनीत

रूपचन्द मेहता पाली (मारवाड़)

श्रीरत्नप्रभाकर ज्ञान पुष्पमाला

फलोदी (मारवाड़)

पूज्यपाद मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी महाराज साहिब के सदुपदेश से वि० सं० १९७३ अक्षय तृतीया के दिन शुभ मुहूर्त्त में इस संस्था का जन्म हुआ उस समय मुनि श्री जी के उपदेश से फलोदी श्रीसंघ की ओर से उदारता पूर्वक प्रायः १५००) का चन्दा इकट्ठा हुआ था। यद्यपि यह रकम ऐसी संस्था के लिए बहुत स्वल्प ही थी तद्यपि शुभ भावों से किया हुआ यह कार्य एवं ज्ञान दान देने से निरन्तर बढ़ता ही गया और इस संस्था की नींव इतनी सुदृढ़ होगई कि आज तक इस संस्था से छोटी बड़ी १७१ पुस्तकें प्रकाशित होकर उनकी तीन लाख से भी अधिक प्रतिएं भारत के प्रत्येक प्रान्त में बड़े चाव से पढ़ी जारही हैं इसका खास कारण यही है कि इस संस्था द्वारा सभी विषयों की पुस्तकें जैसे:— तात्त्विक, ऐतिहासिक, औपदेशिक, विधिविधान, भक्तिरस, समाज सुधार और सामयिक चर्चा आदि विषयों की छपती हैं। इस संस्था का लक्ष्य बिन्दु व्यापारिक नहीं पर ज्ञानप्रचार का है। इसी कारण इस संस्था से प्रकाशित पुस्तकें बहुत ही स्वल्प (सस्ते) मूल्य पर दी जाती हैं और अधिकांश तो भेंट ही दी गई हैं। एकबार साधु साध्वियों, ज्ञानभण्डार और लाइब्ररियों को ४५ पुस्तकें भेंट तथा अन्य सबके लिए केवल १) रु० मूल्य लेकर दीगई थी। यदि इस संस्था का २० वर्षों का हिसाब देखा

जाय तो मालुम होगा कि पुस्तकों की बिक्री की रकम नाम मात्र की ही आई है और जो रकम आई वह भी पुनः पुस्तकों के छपवाने में ही लगादी गई है । फिर भी आप विद्याप्रेमी और साहित्य प्रचारक सज्जनों की कृपा से यह संस्था अपना शिर ऊँचा रख समाज की सेवा करने में आगे कदम बढ़ाती ही जारही है। कृपया ऐसी संस्था को अपनाइये कार्यकर्ताओं के उत्साह में वृद्धि पहुंचाइये तथा नयी पुस्तक के प्रसिद्ध होते ही कम से कम उसकी ११ प्रति मंगवा कर अवश्य पढ़िये इससे आपको अनेक लाभ हैं (१) आपका द्रव्य ज्ञान खाता में लगेगा (२) अपूर्वज्ञान पढ़ने को मिलेगा तथा (३) आपके द्रव्य से पुनः पुस्तकों के छपने से निरन्तर ज्ञान प्रचार होगा ।

अब जरा पुस्तक का महात्म्य भी सुन लीजिये ।

ज्ञान प्राप्ति का खास साधन पुस्तक ही है । स्कूलों में तो विद्यार्थी सिर्फ टाइमसर ही विद्या हाँसल कर सकते हैं । परन्तु पुस्तकों द्वारा तो विद्यार्थी हमेशा ज्ञान प्राप्ति कर सकते हैं चाहे हम व्यौपारी हों,—अहलकार वकील हों,–डाक्टर कारीगर हों, ज्योतिष वैद्यक के इच्छुक हों चाहे जवान हों, बालक हों, बुड्ढा हों स्त्री हों, पुरुष हो, पुस्तकें हमारी गुरु हैं, जो हमें बिना मारे पीटे ज्ञान देती हैं, पुस्तकें न तो कटुवचन बोलती हैं और न क्रोध कर गाली प्रदान करती हैं । पुस्तकें महावारी तनख्वाह भी नहीं मांगती हैं । आप इनसे रातदिन घरमें या बाहरजहां जी चाहे और जब इच्छा हो काम ले सकते हो । पुस्तकें कभी सोती भी नहीं हैं । ज्ञान देने से इन्कार करना तो ये जानती ही नहीं हैं ।

इनसे कुछ पूछो तो ये आपसे कोई बात छुपाती भी नहीं हैं। बार बार पूछो तो उकताती या झुँझलाती भी नहीं पर प्रेम के साथ अपूर्व ज्ञान देती हैं अगर आप इनकी बात एक बार ही में नहीं समझ सकते तो ये आपकी हांसी किल्लिये भी नहीं उड़ाती हैं। अतएव ज्ञान भण्डार की पुस्तकें सब धनों में अमूल्य धन हैं। अगर आप सत्य सदाचार ज्ञान विज्ञान धर्म इतिहास कला-कौशल्य व्यापार हुन्नर और वास्तव में आनन्द के सच्चे जिज्ञासु होना चाहते हों तो पुस्तकों के प्रेमी बन प्रत्येक दिन-मास वर्ष की आमंद से कुछ द्रव्य बचा कर या फिजूल खर्च घटाकर बोध दायक पुस्तकों का संग्रह करें और उचित टाइम में प्रेम पूर्वक अध्ययन करें।

सस्ती सुन्दर और उपयोगी पुस्तकें मिलने का का पता—

श्री रत्नप्रभाकर ज्ञान पुष्पमाला

फलोदी (मारवाड़)

निवेदक—जोरावरमल्ल जैन, फलोदी (मारवाड़)

आभार प्रदर्शन

इस ग्रन्थ को तैयार करने में और सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने में यों तो बहुत से सज्जनों ने हमारा हाथ बँटाया है किन्तु निम्न लिखित महानुभावों के नाम विशेष उल्लेखनीय है:—

१—सर्व प्रथम तो पूज्यपाद मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी महाराज साहिब, का हम पर असीम उपकार है क्योंकि जिन्होंने पूर्ण परिश्रम कर इस कार्य को अपने हाथ में ले इसका सम्पादन करने को अपनी अप्रतिम विद्वत्ता द्वारा नाना जैनशास्त्रों को निचोड़, अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों को संग्रहीत कर इसे सर्वांग सुन्दर बनाने में जी जान से प्रयत्न किया है। आपश्री का ही प्रताप है कि आज हम इस पुस्तक को इस सुन्दर रूप में आप श्रीमानों के हाथ में सोपने में समर्थ हुए हैं। हमारा खास कर्त्तव्य है कि हम सबसे पहिले आपश्री का महान् आभार मानें।

२—पूज्यपाद विद्वद्वर्य मुनि श्री दर्शनविजयजी महाराजादि आप श्रीमानो ने इस पुस्तक के विषय मे समय समय पर अनेक सूचनायें देने मे अपनी उदारता का परिचय दिया है और इसकी महत्व पूर्ण प्रस्तावना लिखने का अभिवचन भी दिया।

३—पूज्यपाद शान्तमूर्ति मुनिश्री जयन्तिविजयजी महाराज आप श्री ने कुंभारियां अजारी और आबू के अवश्यक चित्र भिजवाने की कृपा की है।

४—श्रीमान् सेठ सूरजमलजी साहिब कोचर (फलोदी) हाल मुकाम सिकन्दराबाद वालो ने भी हमें पूर्ण सहयोग दिया

है। क्योंकि आपने स्था० साधु अमोलखर्षिजी कृत ३२ सूत्रों के हिन्दी अनुवाद की एक पेटी हमको देखने के लिये भेजाई और द्रव्य सहायता भी दी है।

५—श्रीमान् रूपचन्दजी मूता (भन्साली) पाली (मारवाड़) आपने भी इस कार्य मे काफी सहायता दी है। इस किताब के मैटर को देखना और प्रूफ संशोधन करने में आपने समय समय पर सहयोग दिया है।

६—श्रीमान् जीतमलजी लूणिया अजमेर वालों ने इस किताब के लिए कई प्रकार की सहायता और दिलचस्पी से काम दिया अतएव आपका उपकार मानना भी हम भूल नहीं सकते हैं।

७—इनके अलावा और भी अनेक सज्जनो ने आवश्यक ब्लॉक आदि भेजने की कृपा की है, जिनमें निम्न महाशय विशेष धन्यवाद के पात्र है। जैसे:— मुनिश्री चरणविजयजी महाराज, शशि एण्ड कम्पनी बड़ोदा, मुनिश्री हेमेन्द्रसागरजी प्रान्तेज, शाह जयन्तिलाल छोटालाल, साराभाइ नबाव वडोदरा जैन सत्य प्रकाश कार्यलय, अहमदाबाद आदि सज्जनों ने उक्त (ब्लाक आदि की) सहायता दे समाज के द्रव्य की रक्षा की है।

८—श्रीमान् बदनमलजी वैद फलोदी वालों ने भी इस कार्य में सहायता दी है।

९—अब अन्तिम उपकार हम उन सज्जनो का मानते हैं जिन्होंने कि इस ग्रन्थ के लिखने के समय प्रमाणिक साहित्य भेज कर हमे उपकृत किया है।

—प्रकाशक

द्रव्य सहायकों की शुभ नामावली ।

५००) पाली (मारवाड़) के श्रीसंघ की ओर से ।

४००) श्रीमान् सूरजमलजी पूनमचन्दजी कोचर मेहता फलोदी (सिकन्दराबाद)

१५०) श्रीमान् छोगमलजी कोचर की धर्मपत्नी लोहावट वालों की ओर से ।

१०१) श्रीमान् हजारीमलजी कंवरलालजी पारख लोहावट (मारवाड़)

१०१) श्रीमान् सुखमलजी समदड़िया नागोर मारवाड़ (मद्रास)

१००) श्रीमान् अमोलखचन्दजी चतुरमेहता जोधपुर (उज्जैन)

१००) श्रीमान् घेवरचंदजी लौंकड़ फलोदी (मारवाड़)

१००) श्रीमान् एक गुप्त दानेश्वरी की ओर से ।

५५) श्रीमान् वस्तीमलजी कानमलजी वेद मेहता पीपलिया (बेंगलोर)

५१) श्रीमान् फूलचन्दजी झावक फलोदी (मारवाड़)

५१) श्रीमान दोलतरामजी सहसमलजी मुड़ारावाल (पाली)

५०) श्रीमान् माणिकलालजी अमरचन्दजी कोचर फलोदी (मारवाड़)

२६) श्रीमान् गजराजजी सिंघवी सोजत (मारवाड़)

२५) श्री जैन कन्या पाठशाला सोजत (मारवाड़)

२०) श्रीमान् लछमीलालजी कोचर फलोदी (मारवाड़)

१५) श्रीमान् ज्ञानमलजी वेद मुहता फलोदी (मारवाड़)
११) श्रीमान् किस्तूरचंदजी राजमलजी वरदिया, फलोदी ।

१८५६)

उपर्युक्त उदार सद्गृहस्थों को हम धन्यवाद देते हैं और अन्य सज्जनों से प्रार्थना करते हैं कि वे अपनी चल लक्ष्मी को इस प्रकार सत्कार्य मे सदुपयोग कर अचल बनावें । शुभम् ।

—प्रकाशक

इस ग्रन्थ के पहिले से ग्राहक बनें उन सज्जनों की

शुभ नामावली

१२५	श्रीमान्	नवलमलजी गणेशमलजी मूथा	जोधपुर।
२५	,,	वदनमलजी जोगावरमलजी वैद	फलोदी।
३५	,,	गजराजजी सिंघवी,	सोजत (मारवाड़)।
९	,,	श्रीकुशलचद्रजी जैन लायब्रेरी, बीकानेर	(राजपूताना)
१	,,	रतिलालजी भीखा भाई	बम्बई।
१	,,	कालूरामजी कांकरिया	बड़लू।
१	,,	दुर्लभजी त्रिभुवन,	मोरबी (का०)।
१	,,	जसवंतमलजी भंडारी,	ब्यावर (रा०)।
१	,,	भूरामलजी गादिया	ब्यावर (रा०)।
१	,,	हंसराजजी पेथाजी चुन्नीलालजी कुंगा	बंबई।
१	,,	मोहनलालजी वैद	फलादी (मारवाड़)।
१	,,	नेमीचंदजी वैद	,, ,,
१	,,	छगनलालजी वैद	,, ,,
१	,,	माणकलालजी वैद	,, ,,
१	,,	लूणकरणजी वैद	,, ,,
१	,,	आशकरणजी वैद	,, ,,
२	,,	रूपचंदजी ताराचंदजी	अमरावती
१	,,	दीपाजी सहाजी	,,
१	,,	रुगनाथचंदजी कोचर	,,

श्रीमान् अमरचंदजी कोचर मेहता
फलौदी (मारवाड)
मालिक फर्म श्रीमान् जोरावरमल भोलाराम
दक्षिण हैदराबाद

१	श्रीमान्	जसवंतमलजी कोठारी	पाली
१	,,	बखतावरमलजी सेठिया	,,
१	,,	मानचन्दजी भंडारी	जैतारण
१	,,	सायबचन्दजी खीवराजजी खीवसरा	पाली
१	,,	धनराजजी चाँदमलजी खीवसरा	अजमेर
१	,,	मिश्रीलालजी मूलचंदजी सियाल	पाली
१	,,	भीखमचन्दजी नागोरी	पाली
१	,,	लखमीचन्दजी नागोर	,,
१	,,	जुगराजजी सुराण	पिपलिया
१	,,	अचलदासजी कालूरामजी पटवारी	बालोतरा
१	,,	पुनमचंदजी कस्तूरचंदजी मूथा	बालोतरा
१	,,	केशरीमलजी पोकरणा	पीसांगन (अजमेर)
१	,,	जैनश्वेताम्बर लायब्रेरी	पीसागन (अजमेर)
२	,,	जातमलजी लोढ़ा की धर्मपत्नी श्रीमती प्रभावती बाई	[अजमेर]
२	,,	सेठ हिम्मतमलजी	सिरोही
१	,,	कुन्दनमलजी अनराजजी कोठारी	ब्यावर
१	,,	जतनमलजी सुजाणमलजी भंडारी,	

४	,,	हीराचन्दजी सचेती	१	श्रीमोतीलालजी भंडारी		अज०
१	,,	देवकरणजी महता	१	,,	शिवचन्दजी धाड़ीवाल	,,
१	,,	सोभागमलजी महता	१	,,	पन्नालालजी मेहता	,,
२	,,	महेशराजजी भंडारी	१	,,	हीरालालजी बोहरा	,,
१	,,	वर्द्धमानजी बांठिया	१	,,	अगरचन्दजी पारख	किशन.
१	,,	गोड़ीदासजी ढड्ढा	१	,,	सिरेमलजी सोनी	,,

इस ग्रन्थ के लिखने में जिन-जिन शास्त्रों को सहायता ली गई है उनकी

संक्षिप्त सूची

लौंकागच्छीय विद्वानों द्वारा संशोधित जैनागम

१—श्रीआचारांगसूत्र
२—श्रीसूत्रकृताङ्गसूत्र
३—श्रीस्थानाङ्गसूत्र
४—श्रीसमवायङ्गजीसूत्र
५—श्रीभगवतीजीसूत्र
६—श्रीज्ञातजीसूत्र
७—श्रीउपासक दशागसूत्र
८—श्रीप्रश्नव्याकरणसूत्र
९—श्रीविपाकसूत्र
१०—श्रीउववाईजीसूत्र
११—श्रीरायप्पसेनोजीसूत्र
१२—श्रीजीवाभिगमसूत्र
१३—श्रीजम्बुद्वीपपन्नतिसूत्र
१४—दशश्रीवैकालिकसूत्र
१५—श्रीनन्दीसूत्र
१६—श्रीआवश्यकसूत्र

स्था० साधु अमोलखऋषिजीकृत सूत्रों का हिन्दी अनुवाद

१७—श्रीआचारांगसूत्र
१८—श्रीस्थानायाङ्गसूत्र
१९—श्रीसमवायांगसूत्र
२०—श्रीभगवतीजीसूत्र
२१—श्रीज्ञाताजीसूत्र
२२—श्रीउपासकदशांगसूत्र
२३—श्रीप्रश्नव्याकरणसूत्र
२४—श्रीविपाकसूत्र
२५—श्रीउववाईसूत्र
२६—श्रीरायप्पसेणीजीसूत्र
२७—श्रीजीवाभिगमजीसूत्र
२८—श्रीजम्बुद्वीपपन्नतिसूत्र
२९—श्रीदशवैकालिकसूत्र
३०—श्रीनिशीथसूत्र
३१—श्रीआवश्यकसूत्र
३२—श्रीनन्दीसूत्र

३३—श्रीउत्तराध्ययन सूत्र
३४—श्रीअनुयोगद्वारसूत्र
३५—श्रीनिशीथसूत्र (हस्त लिखित)
३६—श्रीमहानिशीथसूत्र (,,)
३७—श्रीव्यवहारसूत्र (,,)
३८—दीपसागर पन्नतिसूत्र (,,)
३९—श्रीओघनिर्युक्तिसूत्र (आगमोदय समितिका)
४०—श्रीअंगचूलियासूत्र (हस्त लिखित)
४१—श्रीअभयदेवसूरिकृत टीकाएँ।
४२—श्रीरत्नसंचय प्रकरण
४३—श्रीमद्रायचन्द्र विचार निरीक्षण
४४—श्रीतत्त्वनिर्णय प्रसाद (विजयानन्दसूरिकृत)
४५—अज्ञानतिमिर भास्कर (,,)
४६—प्राचीन जैन स्मारक (ब्र० शीतलप्रसादजी)
४७—महावग्ग बौद्धग्रन्थ)
४८—राजपूताना का प्राचीन इतिहास (पं० गौरीशंकरजी ओझा)
४९—भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास भाग १-२ (डॉ० ती० ले०)
५०—भारतीय इतिहास की रूप-रेखा
५१—मुसलमानों का इतिहास
५२—कथा-कोश ग्रन्थ
५३—जैन तत्त्वसार और मूर्त्तिपूजा
५४—महामेघवहान खारवेल का शिलालेख
५५—मथुरा का शिलालेख (तत्वनिर्णय प्रासाद)
५६—सिद्धान्त चौपाई (पं० लावण्यसमयकृत)

५७—सिद्धान्तसार चौपाई (उ० कमलसंयम कृत)

५८ असूत्र निवारण बत्तीसी (मुनि बाँका)

५९—दयाधर्म चौपाई (लौं० यति भानूचन्द्र)

६०—लौंकाशाह का सिलोका (लौं० यति केशवजी)

६१—लौंकाशाह का जीवन वृत्तान्त (यति कान्तिविजय)

६२—समकितसार (स्वामि जेठमलजी)

६३—शास्त्रोद्धार मीमांसा (स्था० मुनि अमोलखऋषिजी)

६४—जैनधर्म नो सं० इतिहास (मुनि मणिलालजी)

६५—ऐतिहासिक नोंध (वा० मो० शाह)

६६—धर्मप्राण लौंकाशाह (मुनि सन्तबालजी)

६७—वीर वंशावलि (जै० सा० सं० त्रिमासिका)

६८—तपागच्छ पट्टावलि (मुनि श्रीदर्शनविजयजी सं०)

६९—उपकेशगच्छ पट्टावलि (हस्तलिखित)

७०—आँचलगच्छ पट्टावलि (पं० हीरालाल हंसराज)

७१—लघुपोसालिया-पट्टावलि (मुनि श्रीदर्शनविजयजी द्वारा)

७२—कडुआशाह की पट्टावलि (जैन सा० सं० त्रि० मा०)

७३—पंजाब की पट्टावलि (ऐतिहासिक नोंध)

७४—कोटावालों की पट्टावलि (हस्त लिखित पत्र)

७५—नागरी-प्रचारणी पत्रिका, जैन साहित्य संशोधक त्रिमासिक, जैनसाहित्य सम्मेलन, माधुरी मासिक पत्रिका, जैन, जैनयुग, जैन-ज्योति, जैन सत्यप्रकाश, वीरसन्देश, सुघोषा, सत्य सन्देश इत्यादि पत्र पत्रिकाएँ ।

७६—अभिप्राय—दि० पं० नाथूराम प्रेमी, पं० सुखलालजी, वसुदेव अग्रवाल, विद्वान राखलदास बनर्जी, महोपाध्याय

सतिशचन्द्र विद्याभूषण, पं० गौरीशंकरजी ओझा, पं० अवनेन्द्रचन्द्र डा० प्राणनाथ, पं० हीरानन्द, पं० दरबारीलालजी ।

७७—सिद्धप्रतिमा मुक्तावलि (मुनि ज्ञानसुन्दरजी)

७८—जैनधर्म का प्राचीन इतिहास (ही० हं० जामनगर)

७९—इतिहास की सामग्री (संग्रह कोश से)

८०—नाभानरेश का फैसला (मुद्रित पुस्तकों से)

इनके अलावा भी छोटे बड़े कई ग्रन्थों की सहायता से यह ग्रन्थ सर्वाङ्ग सुन्दर बनाया गया है तदार्थ हम इन सब का आभार मानते हैं ।

प्राक्कथन

मनुष्य गति ही क्या संसार की समस्त अवस्थाओं में जीव का कार्य, रूपी मूर्तिक पदार्थ को स्वीकार किये विना चल ही नहीं सकता:—देवगति में देखिये जहाँ कहीं वर्णन मिलेगा उनकी सुखोपभोग सामग्री एवं विक्रिया आदि का मिलेगा। इसी तरह नरकगति में दुःखप्रद सामग्रियों के चित्र सामने प्रतीत होंगे। मनुष्य और तिर्यञ्च गति के विषय में कहने की आवश्यकता नहीं।

मुमुक्षु जीवों का अंतिम ध्येय जन्म-मरण के महान् दुःखों का अंत कर मोक्ष प्राप्त करने का ही होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इसी पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिये अन्यान्य साधनों में विश्ववन्द्य, जगत्पूज्य, महान् उपकारी, वीतराग देव की निर्विकार, शान्तमुद्रा, ध्यानावस्थित मूर्ति एक मुख्य साधन है। और इसी के निमित्त से साधारण परिस्थिति में स्थित व्यक्तियों से लेकर उच्च अध्यात्म कोटि में रमण करने वाले भव्यात्माओं ने अपनी आत्मा का कल्याण किया। यही कारण है कि एक समय अखिल संसार मूर्तिपूजक था और आज भी किसी प्रकार से क्यों न हो पर मूर्ति का सत्कार संसार भर में हो ही रहा है। अभी ही क्या आगे भी जब तक सृष्टि का अस्तित्व है तब तक बराबर मूर्ति की सत्ता स्थापित रहेगी—सच है ध्रुव-सत्ता का न तो कभी उत्पाद होता है और न कभी नाश, उसका अस्तित्व सदैव बना ही रहता है।

विद्वानों ने ठीक ही कहा है कि जितना ज्ञानी पुरुष उपकार नहीं कर सकते उससे कहीं अधिक अज्ञानी पुरुष अपकार कर सकते हैं क्योंकि संसार में जितनी समीचीन युक्तियां है उनसे अनंतगुनी कुयुक्तियां हैं। जब ज्ञानी युक्तियों को काम में लेते हैं तब अज्ञानी कुयुक्तियों का प्रयोग कर जीवों को ठगने का प्रयत्न करते हैं, यही कारण है कि संसार में सम्यग्दृष्टि जीवों से अनंतगुने मिथ्या दृष्टि हैं। फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि ज्ञानियों का ज्ञान सूर्य अज्ञानियों के अन्धकार को नाश कर अपना जाज्वल्यमान किरणों के प्रकाश को भव्य प्राणियों के हृदय तक पहुँचा ही देता है।

उस ज्ञान रूपी प्रकाश की एक किरण जो कि "मूर्त्तिपूजा का प्राचीन इतिहास" शीर्षक द्वारा शोभायमान रूप को लेकर मेरे सामने उपस्थित है—इस ग्रन्थ रत्न की मैं अधिक प्रशंसा करूँ—यह मेरी शक्ति से बाहर है किन्तु फिर भी इस आदर्श कार्य को प्रकट करने वाली विभूति के विषय में कुछ परिचय देना अत्यन्त आवश्यक है।

इस ग्रन्थराज के लेखक मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी महाराज हैं। आपने इस विषय का कैसा गंभीर मथन एवं अभ्यास किया है यह तो आपको इस ग्रन्थ के अध्ययन से ही मालूम होगा। इस समय में स्वाध्याय के बराबर अन्य कोई तप रूप उत्कृष्ट साधन नहीं, ऐसा सोचकर आपने अब तक अतुल परिश्रम करके १७१ पुस्तकें प्रकाशित करवाई हैं जिसमें अधिकांश पुस्तकें आपकी ही बनाई हुई हैं, जैसे आपने निरंतर अभ्यास करके जैन शास्त्रों में दक्षता प्राप्त की है वैसे आपने इतिहास विषय को भी परमोपयोगी

जान उसकी प्रमाणता के अनुकूल अपनी इस पवित्र कृति को सुसज्जित करने का भरसक प्रयत्न किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मूर्त्ति पूजा ही एक असाधारण विषय था और फिर उसकी प्रत्येक घटना को इतिहास द्वारा प्रमाणित करके आपने सोना और सुगंध की कहावत चरितार्थ की है। लेखक महोदय ने पुस्तक के विषयानुसार इसे पाँच भागों में विभक्त कर दिया है—और भिन्न भिन्न विषय को समझने के लिये तत्संबंधी प्रकरण का निर्वाचन पढने वालों के लिये सुविधाकारक होता है यह विज्ञ पाठकों से छिपा नहीं है। साथ ही पुस्तक ऐसे रोचक ढंग पर लिखी गई है कि, हाथ में लेने के बाद बिना सम्पूर्ण पढ़े इसे रखने की इच्छा ही नहीं होती है। उदाहरण स्वरूपः—

प्रकरण पहिला—मूर्त्ति की प्राचीनता, विश्व के साथ मूर्ति का घनिष्ट संबध, निराकार ईश्वर की उपासना के लिये उनकी मूर्त्ति की परमावश्यकता, साथ ही साथ यह भी व्यक्त कर दिया है कि संसार भर में मूर्त्ति का विरोध कब, क्यों और किस व्यक्ति द्वारा हुआ इतना ही नहीं बल्कि यह भी कि कुछ समय बाद उनके ही अनुयायियों ने किस प्रकार से मूर्त्ति स्वीकार करली। इन सब बातों के स्पष्टीकरण करने में लेखक महोदय को कितना परिश्रम उठाना पड़ा होगा- यह आप इसके विस्तृत विवेचन को पढ़ कर ही निर्णय कर सकेंगे।

प्रकरण दूसरा—जैनागमों की वास्तविक प्रमाणिकता, प्राचीनता और विशालता बतलाते हुये उनकी संख्या के लिए पद, श्लोक के अंक कोष्टक में देकर यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि

जिस समय आगमों की रचना हुई वे आज लाख नहीं बल्कि करोड़वें हिस्से में भी नहीं रहे हैं फिर भी कई अनभिज्ञ लोगो ने तो अपने हृदय को इतना संकीर्ण बना लिया है कि उस रहे हुए साहित्य समुद्र को छोड़ केवल ३२ सूत्र और उसमें भी मूल पाठ को ही मानने का आग्रह करते हैं। यही कारण है कि वे लोग, दार्शनिक, तात्त्विक और ऐतिहासिक ज्ञान से हाथ धो बैठे हैं। इसी कारण उनमें अज्ञान की इतनी मात्रा बढ़ गई है कि अपनी मानी हुई हठग्राहिता के अतिरिक्त जैन धर्म के वास्तविक मर्म को वे अभी समझे ही नहीं हैं–इत्यादि विषय का दिग्दर्शन कराने वाले इस प्रकरण को लिखकर इसमें कोई सन्देह नहीं है कि लेखक महोदय ने जैन-साहित्य की अनुपम सेवा की है।

प्रकरण तीसरा और चौथा—जैन धर्म में अनादि काल से शाश्वत एवं अशाश्वत मूर्त्तियों के लिए बहुत ही उच्चासन दिया है और उन मूर्त्तियों के द्वारा वीतराग तीर्थङ्कर देवों की सेवा भक्ति एवं उपासना कर अपनी आत्मा का विकास करना भी बतलाया है इस विषय का विशेष उल्लेख आपने प्रस्तुत ग्रन्थराज के ३ व ४ प्रकरण मे किया है तथा साथ ही इस बात को परिपुष्ट करने के लिए लेखक श्री ने बहुत से आगमों के मूल पाठ, एवं उनके स्पष्टीकरण के निमित्त श्रीमान् लौंकाशाह के अनुयायी लौंका-गच्छीय विद्वानों द्वारा संशोधित गुर्जर भाषानुवाद, तथा स्थानक-वासी मुनि अमोलखऋषिजीकृत हिन्दी अनुवाद को उस मूल पाठ के नीचे दोनों तरफ अर्थात् आमने-सामने रखकर तुलनात्मक दृष्टि से यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि स्थानकवासी आप अपने को लौंकाशाह की संतान होना बतलाते हैं पर वास्तव में

लौंकाशाह का सिद्धान्त उनको मान्य नहीं है। और वे लौंका-गच्छीय विद्वानों के अर्थ का किस प्रकार अनर्थ कर अपने मिथ्या स्वार्थ को सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं, इत्यादि।

प्रकरण पाँचवाँ—समय का प्रभाव है कि कुछ लोग आगम की ओर दृष्टि न कर केवल इतिहास प्रमाण को ही मान्य करते हैं! हमें यह प्रकट करते हुए अत्यन्त हर्ष होता है कि समर्थ लेखक विद्वान् महोदय ने इसी ग्रन्थ के पांचवे प्रकरण में ऐतिहासिक अकाट्य प्रमाणों द्वारा हमारे शास्त्रों के विधानों को इतने मौलिक एवं प्रमाणित रूप में सिद्ध कर दिया है कि वे तीर्थङ्कर-प्रणीत आगम अक्षर २ सत्य एवं वास्तविक कथन के प्रदर्शित करने वाले हैं। हमें यह लिखते हुये गौरव होता है कि मुनिश्री ने पूर्ण परिश्रम कर ऐतिहासिक प्रमाणों का एक जबर्दस्त संग्रह कोश तैयार करके अपना नाम ऐतिहासकारों के समक्ष स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य कर दिया है इतना ही क्यों? पूर्व और पश्चिम सभ्यता के उद्योग से जो भूगर्भ से हजारों वर्ष की प्राचीन मूर्तियां, सिक्के, ताम्रपत्र, आयगपटादि अनेक ऐतिहासिक साधन प्राप्त कर जैन धर्म पर उज्ज्वल प्रकाश डाला है उनके प्रमाण मात्र ही नहीं किन्तु आपश्री ने तो उनके चित्र भी साथ ही में दे दिये हैं कि जिनको पढ़ लेने पर जैन धर्मानुयायियों की मूर्ति पूजा कदीमी मानने मे किसी प्रकार का सन्देह शेष नहीं रह सकता है। आगे चल कर इस प्रकरण के अन्त में एक परिशिष्ट कि जिसमे कलिंग अर्थात् महामेघवहान चक्रवर्ती महाराजा खारवेल का शिलालेख तथा मथुरा से मिली हुई कई प्राचीन मूर्त्तियों के शिलालेख मुद्रित करवा कर इस पुस्तक की

मौलिकता में असाधारण वृद्धि की है। फलतः यह ग्रन्थ सभी सम्प्रदायों के लिये अनुपम साहित्य निश्चय सिद्ध होता है और मुझे पूर्ण आशा है कि सभी धर्मानुरागी सम्प्रदाएं इसे पढ़ कर लाभ उठायेंगी।

मूर्तिपूजा के विषय में जो भी कुयुक्तियाँ देकर भोली आत्माओं का पतन करने का प्रयत्न किया जाता है उनके हित को ध्यान में रखते हुये लेखक महोदय ने इसी ग्रन्थ से सम्बन्ध रखने वाली "मूर्ति पूजा विषयक प्रश्नोत्तर" और जोड़ने की कृपा की है जिससे इस विषय का खूब अच्छा प्रतिपादन हो गया है। खास कर प्रश्न और उत्तर के तौर पर लिखने से अबोध जीवों को इस कृति द्वारा बहुत ही लाभ होने की सम्भावना है। क्यों कि मूर्ति की निन्दा करने वाले व्यक्ति इस विषय में जितनी भी कुयुक्तियां पेश कर सकते हैं उन सबका मुँह तोड़ उत्तर देने वाले इस पुस्तक को पढ़ कर प्रत्येक सहृदय महानुभाव का हृदय गद्गद हुये बिना नहीं रह सकेगा, साथ ही स्था० पूज्य० घासी लालजी द्वारा प्रकाशित "उपासगदशांगसूत्र" पर भी अच्छा प्रकाश डाल कर इस ग्रन्थराज के महत्त्व को और अधिक प्रभावान्वित करने का प्रयास किया है।

एक बात और विशेष विचार करने योग्य यह है कि वर्तमान समय में मूर्तिपूजा निषेध के साथ मुँहपत्ती में डोराडाल दिन भर मुँह पर बाँधने का भी जो आग्रह किया जाता है और उसी बात की पुष्टि के लिये मूर्ति नहीं मानने वाले स्थानकमार्गियों की तरफ से "तीर्थङ्कर सिर्फ देव दुष्य के ही धारक थे बाद में वस्त्र रहित थे, उन महावीर के मुंह पर डोरे वाली मुँहपत्ती बंधा देने

के कल्पित चित्र बनवा कर पुस्तकों मे लगा दिये गये हैं" उसके पूर्ण प्रतिकार एवं खण्डन के लिये मुनि श्री ने "क्या जैन तीर्थङ्कर डोरा डाल मुँहपत्ती मुँह पर बांधते थे ?" शीर्षक पुस्तक लिख कर इसी के साथ सङ्कलित करने का कष्ट किया है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि मिथ्या प्रवृत्ति को चलाने वाले महानुभावों के हृदय इसे पढ़ कर विचलित हो जायंगे किन्तु मैं समझता हूँ कि यदि वे निष्पक्ष दृष्टि से इस विषय को आद्योपान्त पढ़ने की स्थिरता रखेंगे तो उनका वह भ्रमजाल दूर हो जायगा।

मुँह पर डोरा डाल मुँहपत्ती बांधने की प्राचीन प्रथा अठारहवीं शताब्दी के पूर्व कहीं नहीं उपलब्ध होती है। क्योंकि इस शताब्दी के पूर्व के किसी भी आचार्य ने इसका कभी अवलम्बन नहीं लिया था। इस पुस्तक में इसी बात को सिद्ध करने के लिये ऐसे अनेक ऐतिहासिक प्रमाण दिये हैं कि जिनके सामने सबको नत मस्तक होना पडता है, साथ ही इसके, वीर की प्रथम शताब्दी से लेकर १७ वीं शताब्दी तक के कई चित्र देकर इस कृति को और अधिक गौरवान्वित सिद्ध करने का परिश्रम उठाया है। इन सबको पढ़ कर आपके यह बात गले बैठ जायगी कि जैन श्रमण सदैव मुँहपत्ती अपने हाथ मे रखते थे, इसी बात को हर तरह से प्रमाणित करने के लिए लेखक श्री ने भगवान् महावीर से लेकर बाईस शताब्दी तक के आचार्यों का परिचय दे दिया है।

मुँहपत्ती बांधने की प्रथा अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में स्वामी लवजी ने चलाई उसी की पुष्टि के लिए आधुनिक समय मे स्थानकमार्गियों ने भगवान महावीर के मुँह पर डोरेवाली

मुँहपत्ती बंधाने के कल्पित चित्र बनाये हैं उनके दो चित्र ज्यों के त्यों यहाँ प्रकाशित किये गए हैं, जैन सूत्रों में किसी भी साधु या श्रावकों को मुंह पर डोरे से मुँहपत्ती बांधने का विधान नहीं मिलता है, जो विधान मिलता है वह सिर्फ नाई की हजामत बनाते समय का मिलता है, उस नाई की प्रथा आज भी राजे रजवाड़ों मे प्रचलित है, ऐसा ही एक चित्र इसमें दर्ज है जिसका अनुकरण करने वाले स्थानकमार्गी भाई उससे कुछ बोध पाठ ले सकते हैं।

आगे चल कर मुनि श्री ने (१) लौंकाशाह के अनुयायी साधु (२) और उनके बाद वेश परिवर्तन करने वाले देशी साधु (३) परदेशी साधु (४) तेरहपन्थी साधु—इन चारों के चित्र देकर यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि यह जो मुँह पर डोरेवाली मुँहपत्ती महावीर के बांधी गई है वे महावीर किस समुदाय के हैं ? यदि छोटी मुँहपत्ती के कारण ये महावीर देशी साधुओं के हैं तो परदेशी और तेरहपन्थियों को अपनी आम्नाय के अनुसार दूसरे महावीर की कल्पना करनी चाहिये। साथ ही आपने यह भी व्यक्त किया है कि श्वेताम्बर, दिगम्बर और लौंकागच्छ के भगवान महावीर ने न तो मुँहपत्ती ली थी, न बाँधी थी, न बाँधने का उपदेश दिया था, फिर भी स्थानकमार्गी तीर्थङ्करों को भी उपयोग शून्य मान कर मुँहपत्ती बंधा देते हैं, यह दूसरी बात है। आगे चल कर लेखक महोदय ने नाभा नरेश की अध्यक्षता में जो एक जैन मुनियों और स्थानकमार्गियों का शास्त्रार्थ हुआ था, उसके मध्यस्थ पांच पण्डित थे, जो कुछ भी उनको सत्य मालूम हुआ और उन्होंने फैसला दिया है वह

भी ज्यों का त्यों यहाँ नाभानरेश की आज्ञा से अक्षरशः नकल देकर इस विषय को सर्वाङ्ग परिपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है। इससे भी वास्तविक सत्यता पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा इसमें कोई सन्देह नहीं है।

अन्त में मुझे यह कह देना समुचित होगा कि मुनिवर्य ने इस अनुपम ग्रन्थराज का निर्माण कर जैन समाज उसमे भी स्थानकमार्गी समाज पर महान् उपकार किया है। इस ग्रन्थ को आद्योपांत पढ़ कर पाठक महाशय अवश्य लाभ उठावें।

पुस्तक के पढ़ने से यह भी ज्ञात होता है कि प्रूफ संशोधन में कही कहीं अशुद्धियां रह गई हैं उन्हे दूसरी आवृत्ति में सुधारने का यथासाध्य प्रयत्न किया जाय। इत्यलम्

वि० सं० १९९२
कार्तिक शुक्ला ११
अजमेर

—दर्शनविजय

विषयानुक्रमणिका

मूर्त्तिपूजा विषयक प्रश्नोत्तर

स्था० के प्रश्न .... जिनका उत्तर

उपासकदशाँग और पूज्य घासीलालजी

क्या ज० ती० डो० मुं० मुं० बांधते थे।

चित्र परिचय

इनके अलावे १६ चित्र श्रीमान् लौंकाशाह की पुस्तक मे दिये एवं कूल ५२ चित्र दोनों पुस्तको मे हैं।

प्रभास पटण से ताम्र पत्र की प्राप्ती।

प्रभास इतिहास संशोधक मण्डल को प्रभास पाटण में एक सोमपुरा ब्राह्मण से एक ताम्र पत्र प्राप्त हुआ है। इस ताम्र पत्र की भाषा इतनी दुर्गम्य है कि साधारण पण्डित भी उसको ठीक तौर पर नहीं पढ़ सकता है, तथापि हिन्दू विश्व विद्यालय के अध्यापक प्रखर भाषा शास्त्री श्रीमान् प्राणनाथजी ने बड़े ही परिश्रम से प्रस्तुत ताम्र पत्र को पढ कर उसका भाव इस प्रकार प्रगट किया है।

"रेवा नगर के राज्य का स्वामी सु······जाति के देव नेबुस दनेश्वर हुए वे यदुराज (कृष्ण) के स्थान (द्वारका) आया उसने एक मन्दिर सूर्य··देव 'नेमि' जो स्वर्ग समान रेवत पर्वत का देव है। उसने मन्दिर बनाकर सदैव के लिए अर्पण किया।"

जैन पत्र वर्ष–३५-अंक १, ता० ३–१–३७

इस नरपति का समय ई० सन् पूर्व छठी शताब्दी का बतलाया है इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि राज नेबुसदनेश्वर जैन धर्मोपासक था और उसने एक भव्य मन्दिर बनवा कर रेवत (गिरनार) गिरि मण्डन नेमिनाथ भगवान को सदैव के लिये अर्पण किया अर्थात् उस मन्दिर में भगवान नेमिनाथ की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवाई थी इस शोध खोज के प्रकाश में मूर्तिपूजा की प्राचीनता कहाँ तक बढ़ रही है और भविष्य में न जाने कहा तक प्रकाश डालेगा। क्या मूर्ति नहीं मानने वाले सज्जन इस प्राचीन प्रमाण को ध्यान में लेकर अपनी कुत्सित मान्यता को तिलांजली देकर तीर्थंकरों की मूर्ति की द्रव्य भाव से पूजा कर स्वकल्याण करेंगे।
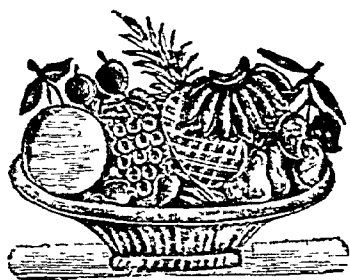
॥ श्रीवीतरागायनमः ॥

मूर्तिपूजा का प्राचीन इतिहास

मंगलाचरण
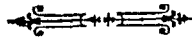
सकलार्हत्प्रतिष्ठान,-मधिष्ठानं शिवश्रियः ।
भूर्भुवः स्वस्त्रयीशान,-मार्हन्त्यं प्रणिदध्महे ॥ १ ॥
नामाकृतिद्रव्यभावैः, पुनतस्त्रिजगज्जनम् ।
क्षेत्रे काले च सर्वस्मि,न्नर्हतः समुपास्महे ॥ २ ॥
आदिमं पृथिवीनाथ,-मादिमं निष्परिग्रहम् ।
आदिमं तीर्थनाथं च,-ऋषभस्वामिनं स्तुमः ॥ ३ ॥
अर्हन्तमजितं विश्व,-कमलाकरभास्करम् ।
अम्लानकेवलादर्श,-संक्रान्तजगतं स्तुवे ॥ ४ ॥
विश्वभव्यजनाराम,-कुल्यातुल्या जयंति ताः ।
देशनासमये वाचः, श्रीसंभवजगत्पतेः ॥ ५ ॥
अनेकांतमताम्भोधि,-समुल्लासनचन्द्रमाः ।
दद्यादमन्दमानन्दं, भगवानभिनंदनः ॥ ६ ॥
द्युसत्किरीटशाणाग्रो,-त्तेजिताङ्घ्रिनखावलिः ।
भगवान् सुमतिस्वामी, तनोत्वभिमतानि वः ॥ ७ ॥

पद्मप्रभप्रभोर्देह,-भासः पुष्णंतु वः श्रियम् ।
अंतरङ्गारिमथने, कोपाटोपादिवारुणाः ॥ ८ ॥
श्रीसुपार्श्वजिनेन्द्राय, महेंद्रमहिताङ्घ्रये ।
नमश्चतुर्वर्णसंघ,-गगनाभोगभास्वते ॥ ९ ॥
चन्द्रप्रभप्रभोश्चन्द्र-,मरीचिनिचयोज्ज्वला ।
मूर्त्तिर्मूर्त्तसितध्यान,-निर्मितेव श्रियेऽस्तुवः ॥ १० ॥
करामलकवद्विश्वं, कलयन् केवलश्रिया ।
अचिंत्यमाहात्म्यनिधिः,-सुविधिर्बोधयेऽस्तुवः ॥११॥
सत्त्वानां परमानन्द,-कन्दोद्भेदनवाम्बुदः ।
स्याद्वादामृतनिस्यंदी, शीतलः पातु वो जिनः ॥ १२ ॥
भवरोगार्तजन्तूना-मगदङ्कारदर्शनः ।
निःश्रेयसश्रीरमणः, श्रेयांसः श्रेयसेऽस्तु वः ॥ १३ ॥
विश्वोपकारकीभूत,-तीर्थकृत्कर्मनिर्मितिः ।
सुरासुरनरैः पूज्यो, वासुपूज्यः पुनातु वः ॥ १४ ॥
विमलस्वामिनो वाचः, कतकक्षोदसोदराः ।
जयंति त्रिजगच्चेतो,-जलनैर्मल्यहेतवः ॥ १५ ॥
स्वयंभूरमणस्पर्धि,-करुणारसवारिणा ।
अनंतजिदनन्तां वः, प्रयच्छतु सुखश्रियम् ॥ १६ ॥
कल्पद्रुमसधर्माण,-मिष्टप्राप्तौ शरीरिणाम् ।
चतुर्धाधर्मदेष्टारं, धर्मनाथमुपास्महे ॥ १७ ॥

सुधासोदरवाग्ज्योत्स्ना,-निर्मलीकृतदिङ्मुखः ।
मृगलक्ष्मा तमःशान्त्यै, शांतिनाथजिनोऽस्तु वः ॥१८॥

श्रीकुंथुनाथो भगवान्, सनाथोऽतिशयर्द्धिभिः ।
सुरासुरनृनाथाना,-मेकनाथोऽस्तु वः श्रिये ॥ १९ ॥

अरनाथस्तु भगवाँ,-श्चतुर्थारनभोरविः ।
चतुर्थपुरुषार्थश्री-विलासं वितनोतु वः ॥ २० ॥

सुरासुरनराधीश,-मयूरनववारिदम् ।
कर्मद्रून्मूलने हस्ति,-मल्लं मल्लीमभिष्टुमः ॥२१ ॥

जगन्महामोहनिद्रा,-प्रत्यूषसमयोपमम् ।
मुनिसुव्रतनाथस्य, देशनावचनं स्तुमः ॥ २२ ॥

लुठन्तो नमतां मूर्ध्नि, निर्मलीकारकारणम् ।
वारि प्लवा इव नमेः, पांतु पादनखांशवः ॥ २३ ॥

यदुवंशसमुद्रेन्दुः, कर्मकक्षहुताशनः ।
अरिष्टनेमिर्भगवान्, भूयाद्वोऽरिष्टनाशनः ॥ २४ ॥

कमठे धरणेन्द्रे च, स्वोचितं कर्म कुर्वति ।
प्रभुस्तुल्यमनोवृत्तिः, पार्श्वनाथः श्रियेऽस्तु वः ॥ २५॥

श्रीमते वीरनाथाय, सनाथायाद्भुतश्रिया ।
महानन्दसरोराज,-मरालायार्हते नमः ॥ २६ ॥

कृतापराधेऽपि जने, कृपामन्थरतारयोः ।
ईषद्बाष्पार्द्रयो र्भद्रं, श्रीवीरजिननेत्रयोः ॥ २७ ॥

जयति विजितान्यतेजाः, सुरासुराधीशसेवितः श्रीमान् ।
विमलस्त्रासविरहित,-स्त्रिभुवनचूडामणिर्भगवान् ॥ २८ ॥

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो वीरं बुधाः संश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो वीराय नित्यं नमः ।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्तिकांतिनिचयः श्रीवीर! भद्रं दिश ॥२९॥

अवनितलगतानां कृत्रिमाकृत्रिमानां,
वरभवनगतानां दिव्यवैमानिकानाम् ।
इह मनुजकृतानां देवराजार्चितानां,
जिनवरभवनानां भावतोऽहं नमामि ॥ ३० ॥

सर्वेषां वेधसामाद्य,-मादिमं परमेष्ठिनाम् ।
देवाधिदेवं सर्वज्ञं, श्रीवीरं प्रणिदध्महे ॥ ३१ ॥

देवोऽनेकभवार्जितोर्जितमहापापप्रदीपानलो,
देवः सिद्धिवधूविशालहृदयालङ्कारहारोपमः ।
देवोऽष्टादशदोषसिन्धुरघटानिर्भेदपञ्चाननो,
भव्यानां विदधातु वाञ्छितफलं श्रीवीतरागो जिनः ॥३२॥

ख्यातोऽष्टापदपर्वतो गजपदः संमेतशैलाभिधः,
श्रीमान् रैवतकः प्रसिद्धमहिमा शत्रुञ्जयो मण्डपः ।
वैभारः कनकाचलोऽर्बुदगिरिः श्रीचित्रकूटादय-
स्तत्र श्रीऋषभादयो जिनवराः कुर्वन्तु वो मङ्गलम् ॥३३॥

मूर्त्तिपूजा का प्राचीन इतिहास
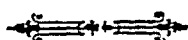
प्रकरण पहिला ।

(मूर्त्तिपूजा की प्राचीनता)

मूर्त्तिपूजा का इतिहास मानव जाति के सम सामयिक प्राचीन है । यदि मानव जाति अनादि और अनन्त है तो मूर्त्तिपूजा को भी अनादि और अनन्त मानने मे विद्वानों को किसी प्रकार की शंका करने का स्थान नहीं मिलता है, और यह बात अनुभव सिद्ध भी हैं क्योंकि विश्व के साथ मूर्त्तिपूजा का घनिष्ट सम्बन्ध है । इसका कारण यह है कि विश्व स्वयं मूर्त्तिमान् पदार्थों का समूह है ।

जैन-आगमों में षट्-द्रव्य शाश्वत बतलाए हैं, जिसमें पांच द्रव्य अमूर्त्त और एक द्रव्य मूर्त्त है । परन्तु पांच अमूर्त्त द्रव्यों का ज्ञान भी मूर्त्त द्रव्य द्वारा ही होता है । अतएव मूर्त्तिमान् द्रव्य अनादि और अनन्त है, जब मूर्त्त द्रव्य अनादि है तो मूर्त्तिपूजा अनादि मानने में संदेह ही क्या हो सकता है ? कदापि नहीं ।

मूर्त्ति का अर्थ है—आकृति, शकल, नक़शा, चित्र-फोटू, प्रतिबिम्ब और प्रतिमा । सभ्य समाज में मूर्त्ति का खूब आदर है ।

वैज्ञानिक, व्यवहारिक और धार्मिक, कोई भी कार्य क्यों न हो विना मूर्त्ति न तो इतना ज्ञान हो सकता है, और न किसी का काम ही चल सकता है। छोटे से छोटा वालक और बड़े से बड़ा अध्यात्मयोगी कोई भी क्यो न हो पर उनको भी अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए सर्वप्रथम मूर्त्ति की आवश्यकता रहती है। इस विषय में वर्त्तमान के विद्वानों के भी दो मत नहीं, किन्तु मूर्त्ति मानने में तो सब का एक मत ही है।

मूर्त्तिपूजा का सिद्धान्त विश्व व्यापक है। यह किसी भी समय विश्व से पृथक् नहीं हो सकता। जैसे सुवर्ण और तद्गत पीलापन ये दोनों अभिन्न हैं, वैसे ही विश्व और विश्ववन्द्य मूर्त्ति-पूजा ये भी अभिन्न हैं। ऐसी दशा में मूर्त्ति को नहीं मानना एक प्रकार से प्रकृति का खून करना ही है।

यद्यपि मुमुक्षुओ का अन्तिम ध्येय जन्म, मरण आदि के दुःखों का अन्तकर अक्षय सुख प्राप्त करने का होता है, और इसी उज्ज्वल उद्देश्य को लक्ष्य में रख, वे यथा साध्य प्रयत्न भी करते हैं। परन्तु इस महान् कार्य की पूर्त्ति के लिए भी सबसे पहिले शुभाऽऽवह निमित्त कारण की आवश्यकता रहती है, जिस से चञ्चल चित्त की एकाग्रता, इन्द्रियों का दमन, कषायो पर विजय, आदि प्राप्त कर सके। और वह निमित्त कारण संसार भर में मुख्यतया में एक मात्र प्रभु की शान्त मुद्रा ध्यानस्थित मूर्त्ति ही है कि जिसके द्वारा पूर्वोक्त सब कार्य सरलता से सिद्ध हो सकते हैं। फिर मूर्त्ति चाहे पाषण की हो, काष्ठ की हो, सर्वधातु की हो, अथवा किसी अन्य पदार्थ की भी क्यों न हो, किन्तु उपासक का तो लक्ष्य, उस मूर्त्ति द्वारा परमात्मा के सच्चे स्वरूप

का चिन्तवन करना है। जिन महानुभावों ने मूर्त्तिपूजा के गूढ़ रहस्य को ठीक तौर से समझ लिया है, वे तो संसार से सदा विरक्त रह कर सांसारिक सुख भोगों में लेश मात्र भी रति नहीं रखते हैं। पाप और अन्याय उन्हे छू तक भी नहीं सकता है। ईश्वरके प्रति श्रद्धा, प्रेम और भक्ति, धर्मपर दृढ़ श्रद्धा, और विश्वास तथा ईश्वरत्व के विषय में अस्तित्व बुद्धि रखना उनका प्रधान ध्येय होता है। अतः यह सिद्ध है कि संसार में सदाचार, शान्ति सुख और समृद्धि का मूल कारण केवल मूर्त्तिपूजा ही है। अस्तु! इससे आगे चल कर जब हम धार्मिक सिद्धान्तों की ओर देखते हैं तब भी हमें मूर्ति की परमावश्यकता प्रतीत होती है। क्योंकि ईश्वर की उपासना करना धर्म का एक मुख्य अङ्ग है, और उसकी सिद्धि के लिए मूर्त्ति की खास जरूरत है। कारण यह कि निराकार ईश्वर की उपासना बिना मूर्त्ति के हो ही नहीं सकती है।

यदि कोई सज्जन यह सवाल करें कि उपासना के लिए जड़ रूप मूर्त्ति की क्या आवश्यकता है? हम तो केवल ईश्वर के गुणों की उपासना कर सकते हैं? परन्तु यह कहना केवल अपना वचाव करना मात्र है। कारण, कि जैसे ईश्वर निराकार है वैसे ही ईश्वर के गुण भी तो निराकार हैं। अर्थात् ईश्वर के गुण ईश्वर से पृथक् २ वस्तु नहीं है, किन्तु एक ही है। जैसे गुण और गुणी भिन्न २ नहीं है, वैसे ही ईश्वर और ईश्वर के गुण अलग २ नहीं है। जब ईश्वर और ईश्वर के गुण निराकार हैं, तथा उनको चर्म चक्षु वाले प्राणी देख नहीं सकते हैं तो उन निराकार गुणों की उपासना अल्पज्ञ जन कैसे कर सकते हैं? इनके लिए तो साकार, इन्द्रिय गोचर, दृश्य पदार्थों की ही आवश्यकता रहती है।

यदि कोई यह प्रश्न करे कि ईश्वर या ईश्वर के निराकार गुणो की, हम हमारे मन मन्दिर में केवल मानसिक कल्पना कर उपासना कर लेंगे, तो फिर पाषाणमय मन्दिर मूर्त्ति की क्या आवश्यकता है ? पर यह भी एक अज्ञान ही है। कारण ! जब आप अपने मन मन्दिर में निराकार ईश्वर की कल्पना करेंगे तो वह कल्पना साकार ही होगी। जैसे कि—"तीर्थंकर अष्ट महाप्रतिहार विभूषित केवल ज्ञानादि संयुक्त समवसरण में विराज कर देशना दे रहे हैं, इत्यादि"। अब आप स्वयं सोचिये कि मन्दिर वा मूर्त्ति मानने वाले आपकी इस कल्पना से विशेष क्या करते हैं ? वे लोग भी मन्दिरो में समवसरण स्थित अष्टमहा प्रतिहार सहित शान्तमुद्रा ध्यानमय मूर्त्ति स्थापित करते हैं। इस तरह कल्पना या साक्षात् मूर्त्ति मानने वालों का ध्येय, वीतराग की उपासना करने का तो एक ही है। यदि अन्तर है तो इतना ही कि काल्पनिक मन मन्दिर तो क्षण विध्वंसी है, और साक्षात् मन्दिरमूर्त्ति चिरस्थायी होते हैं। अतः सर्वश्रेष्ठ तो यह है कि चिरस्थायी बने बनाये दृश्य मंदिरो में जाकर भक्तिभाव पूर्वक भगवान् की शातमुद्रा मूर्त्ति की पूजा-अर्चा करके आत्म-कल्याण करें। क्योंकि शास्त्रों में भी यही विधान है जो हम आगे चल कर तृतीय और चतुर्थ प्रकरण में मूल सूत्रों के उद्धरण दे देकर स्पष्ट सिद्ध कर बतावेंगे। जब हम इतिहास के जूने-पुराने पन्नों को टटोलते हैं तब हमें स्पष्ट पता चलता है कि जितना प्राचीन इतिहास संसार के लिए मिलता है, उतना ही प्राचीन, मूर्त्तिपूजा, की सिद्धि के लिए भी मिलता है। इसका कारण यह है कि संसार के इतिहास के साथ ही साथ संसारी

जीवों के कल्याण के लिए स्थापित मूर्त्तिपूजा का भी यत्र तत्र प्रचुरता से उल्लेख मिलता है। क्योंकि—कल्याण, और तत् हेतुरूप मूर्त्तिपूजा के आपस में घनिष्ट ही नहीं अपितु घनिष्टतम सम्बन्ध है। और यह बात अनुभव सिद्ध होने से इसमें किसी प्रमाण की भी आवश्यकता नहीं है। तद्यपि आज पुरातत्वज्ञो की शोध एवं खोज से इतने प्राचीन प्रमाण उपलब्ध हुए हैं कि वे मूर्त्तिपूजा को संसार के सदृश ही प्राचीन सिद्ध कर रहे हैं।

फिर भी यहाँ पर यह सवाल पैदा होता है कि यदि मूर्त्ति-पूजा इतनी प्राचीन है तो इसका विरोध, किस कारण, कब, और किसने किया ?

इतिहास की पूर्ण गवेपणा द्वारा यह निश्चय हो चुका है कि विक्रम की सातवीं शताब्दी पूर्व क्या यूरोप, क्या एशिया, अर्थात् सब संसार मूर्त्तिपूजा का उपासक था। पैगम्बर मुहम्मद साहिब के पूर्व किसी देश, किसी जाति, किसी व्यक्ति और किसी साहित्य मे ऐसा शब्द दृष्टिगोचर नही होता है कि, कोई आर्य अथवा, अनार्य उस समय मूर्त्तिपूजा को अस्वीकार करता हो। हाँ! सर्व प्रथम पैग़म्बर मुहम्मद साहिब ने अर्बस्तान में मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध घोषणा की थी, जिसे (हिजरी सन् के अनुसार) आज १३५८ वर्ष हुए हैं। इसका कारण शायद उस समय उस देश में मूर्त्तिपूजा की ओट में कुछ अत्याचार होता हो। पर मुहम्मद सहिब ने उस समय अविचार से काम लिया। आपने "शिर पर बाल बढ़ जाने से बालो के बजाय शिर को काट डालने का" प्रोग्राम किया अर्थात् अत्याचार का विरोध न करके मूर्त्तिपूजा का ही विरोध कर डाला। वह भी किन्हीं पुष्ट

प्रमाणों द्वारा नहीं पर केवल तलवार के बल पर ही किया ।
बस ? इसी कारण आपका प्रभाव जनता पर इतना नहीं पड़ा
कि वे मूर्त्तिपूजा को छोड़कर एक दम से नास्तिक बन जायँ ।

इतिहास स्पष्ट बतला रहा है कि आर्य प्रजा में तो क्या पर
विक्रम की चौदहवीं शताब्दी तक जर्मन आदि पाश्चात्य प्रदेशों में
भी मूर्त्तिपूजा का काफी प्रचार था । इतना ही नहीं पर उस समय
उन प्रान्तो में जैन मन्दिर भी विद्यमान थे । जिनके ध्वंसाऽवशेष
खोज करने पर आज भी प्रचुरता से प्राप्त हो रहे हैं । जैसे
आष्ट्रिया में महावीर मूर्त्ति, अमेरिका से ताम्रमय सिद्धचक्र का
गट्टा, मंगोलिया प्रांत में अनेक मूर्त्तिएँ वगैरह के भग्नखण्ड मिलते
हैं । इतनाही क्यों, खास मक्कामदीना मे जैन मंदिर थे । परन्तु
जब वहाँ जैनमूर्त्ति पूजने वाला कोई जैन ही नहीं रहा तब वे
मूर्त्तिएँ मधुमति (महुवा बन्दर)में लाई गई । जिस प्रदेश में सबसे
पहिला मूर्त्तिपूजा का विरोध पैदा हुआ था वह प्रदेश आज भी
मूर्त्तिपूजा से विहीन नहीं है । तथा आधुनिक देशाटन करने वालों
से यह बातभी छिपी हुई नहीं है कि भूमिका कोई भी ऐसा प्रदेश
नही है कि जहाँ मूर्त्तिपूजा का प्रचार न हो । अर्थात् आज भी
सर्वत्र मूर्त्तिपूजा प्रचलित है । हाँ कोई व्यक्तिगत मूर्त्तिपूजा नहीं
मानता हो तो यह बात अलग है ।

मुस्लिम मत की स्थापना के अनन्तर मुसलमानों ने भारत
पर कई बार आक्रमण किए, और धर्मान्धता के कारण कई
शिल्पकला के आदर्श आर्य मन्दिरमूर्त्तियो को तोड़-फोड़ कर नष्ट-
भ्रष्ट कर डाला । परन्तु विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी तक भारत
की आर्यप्रजा पर मुस्लिम संस्कृति का थोड़ा भी प्रभाव नहीं

पड़ा। अपितु भारतीय जनता अपने आर्य धर्म और उनके मन्तव्यों पर अटल रही ।

विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में देहली पर मुस्लिम सत्ता का अमल हुआ और वे मत-मदान्धता के कारण तलवार के पाशविक बल पर कई भाद्रिक अज्ञात लोगो को हिन्दुधर्म से पतित बना कर अपने अन्दर मिलाने लगे। पर उसमें उन्हे पूरी सफलता नहीं मिली। जो थोड़े बहुत विधर्मी हुए, उनमें भी अधिकांश स्वार्थी और धर्म से नितान्त अनभिज्ञ लोग ही थे। फिर भी उस विकट समय में हमारे भारतीय धर्मवीरों पर उस अनार्य संस्कृति का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। अर्थात् वे अपनी आर्य संस्कृति से तनिक भी विमुख न हुए।

आगे चलकर विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में मालवा और गुर्जर भूमि पर मुसलमानों का अधिकार कायम हुआ और तत्रस्थ आर्य शिल्पकला के अनेक भव्य मंदिर नष्ट भ्रष्ट कर आर्य प्रजा को अनेकाऽनेक कष्ट पहुँचाए। यहाँ तक कि उनके धन-माल को लूँट कर प्राण-दण्ड देने में भी उन अनार्यों ने कमी नहीं रक्खी, किंतु इतना कुछ होने पर भी उन आर्य धर्मवीरों के दिल पर अनार्य संस्कृति का जरा भी असर नहीं हुआ। अपितु प्रतिस्पर्धा के कारण उनकी धर्मपर श्रद्धा, मूर्त्तिपूजा पर अधिकाधिक विश्वास और भक्तिभाव बढ़ता ही गया। मंदिर मूर्त्तियों के शिलालेखों से इस बात का पता मिलता है कि उस कटाकटी के समय में भी पूर्व मंदिरों की अपेक्षा नये मंदिर अधिक बने थे। उदहारण लीजिये:—वि० सं० १३६९ में मुसलमानों ने शत्रुञ्जय के सम्पूर्ण मंदिरों का उच्छेद कर दिया, और वि० सं० १३७१

में ही स्वनाम धन्य श्रेष्ठिवर्य समरसिंह ने करोड़ों द्रव्य व्यय करके पुन: शत्रुञ्जय को स्वर्ग सदृश मंदिरो से विभूषित कर दिया, इससे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि उन अनार्यों के समय में भी आर्य लोगों की मंदिर—मूर्त्तियों पर कैसी अटूट श्रद्धा थी।

किन्तु विक्रम की सोलहवीं शताब्दी भारत के लिए महा-दुःख और भीषण कलंक का समय थी। कई व्यक्तियों पर दूषित अनार्य संस्कृति ने अपना अशुद्ध असर उस समय डाल ही दिया था, और फल स्वरूप उन अज्ञात व्यक्तियों ने बिना कुछ सोचे समझे अनार्य संस्कृति का अन्धाऽनुकरण कर आर्य-मंदिर—मूर्त्तियों की ओर क्रूर दृष्टि से देखना भी शुरू कर दिया था।

उस समय भारत में क्या हिन्दू, क्या जैन, सब लोग अपने २ इष्ट देवताओं की मूर्त्तिएँ पूज कर अपना कल्याण कर रहे थे। पर बदनसीबी के कारण कई अज्ञ लोगों ने इस पवित्र प्रवृत्ति में भी अनेक प्रकार के उत्पात मचाने शुरू कर दिए। जैसे—जैन श्वेताम्बर समुदाय में लौंकाशाह, दिगम्बरों में तारण स्वामी, जुलाहो में कबीर, सिक्खो में गुरु नानक, वैष्णवों में रामचरण, और अंग्रेजों में ल्यूथर, प्रभृति व्यक्तियों ने विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में अनार्य संस्कृति के बुरे प्रभाव से प्रभावित हो आर्य-धर्म के आधारस्तंभ रूप मन्दिर-मूर्त्तियों के विरुद्ध घोषणा कर दी कि, ईश्वर की उपासना के लिए इन जड़ पदार्थों की क्या आवश्यकता है, इत्यादि। परन्तु इस लेख के साथ श्रीमान् लौंकाशाह का ही सम्बन्ध होने से आज मैं यह बतला देना

चाहता हूँ कि लौंकाशाह एक जैन कुल मे पैदा हुए तो फिर उन पर मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव कैसे पड़ा ? इस विषय मे मैं लौंकाशाह के समकालीन ग्रंथकारो के उल्लेख यहां उद्धृत करता हूँ। पाठक ! इन्हे ध्यान से पढ़ें।

श्रीमान लौंकाशाह के जीवन के विषय में भिन्न २ लेखको ने भिन्न २ उल्लेख किए हैं। परन्तु "लौंकाशाह का जैन यतियो द्वारा अपमान हुआ" इसमें सब सहमत हैं। क्योंकि इसके बिना त्रिकाल पूजा करने वाले लौंकाशाह का सहसा मन्दिर-मूर्त्तियों के विरुद्ध होना कदापि सिद्ध नहीं होता है। और जब एक ओर लौंकाशाह का अपमान हुआ, और दूसरी ओर उन्हे मुसलमानों का सहयोग मिला तो लौंकाशाह स्वकर्त्तव्य भ्रष्ट हुए हो इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नही है। देखिये—

(१) वि० सं० १५४४ के आस-पास श्रीमान् उपाध्याय कमलसंयम ने अपनी सिद्धान्त सार चौपाई मे लिखा है कि:—

"ओहवई हुऊ पीरोज्जिखान, तेहनई पातशाह दिई मान।
पाडइ देहरा नई पोसाल, जिनमत पीडई दुष्मकाल॥
लुंका नेइ ते मिलियु संयोग, ताव मांहि जिम शीशक रोग॥

× × ×

इस लेख से पाया जाता है कि लौंकाशाह पर मुस्लिम संस्कृति का बुरा प्रभाव पड़ा था और लौंकाशाह का मत चल पड़ने में मुसलमानों की सहायता थी।

(२) वीर वंशावली नामक पटावली जो जैन साहित्य संशोधक त्रिमासिक पात्रिका वर्ष ३ अंक ३ पृष्ट ४९ में प्रकाशित

हुई है उसमें लौंकाशाह के बारे में यों लिखा है कि यतियों द्वारा लौंकाशाह का अपमान हुआ, और जिस समय लौंकाशाह क्रोध में आकर बाजार में बैठा था, उस समयः—

"एतली तिहाँ गुजराती शैयद लेखक मित्र मिल्यो ते पण म्लेच्छ फारसी ना हिरफइ वरख लिखई ते पण कह्यो। सा० लुंका! लेखक ए तुम्हारइ कपाली क्या लगा है?। लुंको कहि मन्दिर का थभा (तिलक) लगा। ते सांभली म्लेच्छ कहइ तुम्हारे जे फकीर दुनिया छोड़ि के हुए सो साहिब की बन्दगी करइ? कै साहिब क हुजूर भुक्ति माई बैठा है? अल्ला अनन्त ते जय अखण्ड हेइ, असत्य नापा की से दूर हुई ते म्लच्छ ना वचन सांभली सा० लौंका ने म्लेच्छ धर्म प्यारो लाग्यो तण शैयद पीर हाजी नी आम्नाय दीधु।"

इनके अलवा पं० खुशालविजय गणि कृत भाषा पट्टावलि जो वि० सं० १८८९ जेठ शुद्ध १३ शुक्रवार को सिरोही में रहकर १४ पानों में लिखी हुई है उसमें लौंकाशाह के विषय में यही लिखा हुआ है कि.—

लौंकाशाह लिखाई करता था और उसकी लिखाई के १७॥ दोकड़ों शेष रह जाने के कारण तकरार हुई। लौंकाशाह जिस समय आवेश-गुस्सा में था उसी समय शैयद लिखारा का संयोग मिला और उसका लौंकाशाह पर प्रभाव पडा इसी कारण लौंकाशाह ने जैनयतियों, उपाश्रय, मन्दिर और जैन

धर्म की मुख्य क्रियाओं से खिलाप होकर अपना नया मत निकाला इत्यादि ।

आवेश में अन्ध बना हुआ मनुष्य क्या-क्या अकृत्य नहीं करता है ? क्या जमाली ने भगवान् को झूठा नहीं बतलाया था ? क्या गोसाला ने भगवान् को उपसर्ग नहीं किया ? यदि हाँ ! तो फिर लौंकाशाह भी उसी क्रोधावेश में आकर मुसलमान शैयद के वचनों पर विश्वास कर अपने धर्म से पतित बन गया हो तो इसमें असंभव ही क्या है ? क्योंकि "गहना कर्मणो गतिः" के अनुसार कर्मगति बड़ी गहन है ।

इस उद्धरण से यह तो निःसन्देह स्पष्ट हो जाता है कि लौंकाशाह परमात्मा की हमेशा पूजा करते थे, क्योंकि तभी तो शैयद ने पूछा कि तुम्हारे कपाल पर क्या लगा है और लौंकाशाह ने उत्तर दिया कि मंदिर का थंभा (तिलक) है । लौंकागच्छीय यति भानुचंद्रजी की चौपाई से भी यही पाया जाता है कि लौंकाशाह त्रिकाल प्रभु पूजा करते थे, परन्तु जिस समय लौंकाशाह यतियों द्वारा अपमानित हुए, उस समय आप बड़े ही क्रोधित थे, और तत्क्षण ही शैयद ने आकर, उसे पूछ-ताछ कर जलती हुई अग्नि में घृत डालने का काम किया । शैयद ने लौंकाशाह को कहा कि साहब तो मुक्ति में है अर्थात् उनके लिए मन्दिर मूर्त्तियों की जरूरत ही क्या है ? और जब मन्दिर मूर्तियों की कोई जरूरत ही नहीं तो फिर पूजा करना, तिलक लगाना आदि की क्या आवश्यकता है ? दूसरा शैयद ने कहा कि ईश्वर तो नापाकी से दूर है, अर्थात् इसका भाव यों

समझाया होगा कि जब ईश्वर नापाकी से दूर है तब उसको स्नान कराने, पुष्प चढ़ाने आदि की क्या जरूरत है ? "क्रोध हतात्म बुद्धि" लौंकाशाहको यदि यह बात सोलह आना सच जँच गई हो तो कोई विशेषता नहीं ? क्योंकि जैसे कडुआशाह को जँच गई कि इस समय न तो कोई साधु ही है, और न साधुपना पालने योग्य शरीर ही है। धर्मसिंहजी को जँच गई कि श्रावक के सामायिक आठ कोटि से होते हैं। लवजी के जँच गई कि डोरा डाल, दिन भर मुँहपती बाँधने से हिंसा नहीं होती है। भीखमजी के जँच गई कि हमारे सिवाय किसी को भी दान देना एकान्त पाप है, तथा कोई जीव किसी अन्य जीव को मारता हो तो उस मरते हुए जीव को बचाने में अठारह पाप लगते हैं। इत्यादि" मिथ्यात्व का उदय होने पर ऐसी बुरी बातें भी मनुष्यों के हृदय में स्थिर स्थान जमा लेती हैं। किन्तु दुःख तो इस बात का है कि अज्ञानियो के हृदय में ऐसी बुरी बाते जम जाने पर, अनेक युक्ति, शास्त्र, इतिहास आदि के प्रमाणों से भी पीछी उखड़नी कठिन हो जाती हैं। इसी कारण अज्ञानियो ने ही अनेक नये पन्थ और मत निकाल-निकाल कर शासन को छिन्न-भिन्न कर डाला है।

यदि लौंकाशाह पर शैयद का प्रभाव नहीं पड़ा, ऐसा कहें तो फिर त्रिकाल पूजा करने वाला लौंकाशाह एकदम मन्दिर मूर्त्तियों के खिलाफ कैसे हो गया ? और यह इनसे जब खिलाफ हुआ है तो यह मानना जरूरी है कि लौंकाशाह पर शैयद का प्रभाव अवश्य पड़ा था। इसकी पुष्टि में खास लौंका-गच्छीय यति केशवजी लौंकामत के "शिलोका" में स्पष्ट बताते

हैं कि "शैयद ना आशिष वचन थी" लौंकाशाह पर प्रारम्भ से ही शैयद की आशिष का बुरा असर पड़ा हुआ था। अब जरा अन्य विद्वानों के भी इस विषय के मत यहाँ उद्धृत करते हैं:—

(३) इतिहास मर्मज्ञा एक अंग्रेज महिला मीसीस स्टीवन्सन लिखती है कि "हिन्द में इस्लाम संस्कृति का आगमन होने के बाद मूर्त्ति-विरोध के आन्दोलन प्रारंभ हुए, और उनके लंबे समय के परिचय से इस आन्दोलन को पुष्टि मिली।"

× × ×

(४) पं० सुखलालजी अपने पर्युषणों के व्याख्यान में लिखते हैं कि "हिन्दुस्थान में मूर्ति के विरोध की विचारणा मुहम्मद पैगम्बर के पीछे उनके अनुयायी अरबों और दूसरों के द्वारा धीरे-धीरे प्रविष्ट हुई। × × × जैन परम्परा में मूर्त्ति-विरोध को पूरी पाँच शताब्दी भी नहीं बीती है।"

× × ×

(५) श्रीमान् अवनीन्द्रचन्द्र विद्यालंकार अपने पठान काल का सिंहावलोकन नामक लेख में लिखते है कि:—

"× × पर मुसलमानों की सभ्यता एक दम निराली थी। वे जाति पाँति और मूर्त्ति पूजा को नहीं मानते थे, हिन्द में इनके आने के बाद ही मूर्त्ति पूजा के विरोध का प्रबल आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था ('माधुरी' मासिक पत्रिका) ×"

(६) श्रीमान रा० ब० पं० गौरीशंकरजी ओझा अपने राजपूताना का इतिहास पृष्ठ १४१८ में लिखते हैं कि स्थानकवासी (ढूंढिया), श्वेताम्बर समुदाय से पृथक हुए जो मन्दिरों और मूर्तियों को नहीं मानते है उस शाखा के भी दो भेद हैं जो बारा*पन्थी और तेरह पन्थी कहलाते हैं, ढूंढियों का समुदाय बहुत प्राचीन नहीं है, लगभग २०० वर्ष से यह प्रचालित हुआ है।

(७) दि० विद्वान् श्रीमान् नाथूरामजी प्रेमी ने अपने भाषण में खुल्लम खुल्ला यों कहा था कि "क्या आपने कभी इस पर विचार किया है कि जैन समुदाय में हज़ारों वर्षों से प्रचलित मूर्त्ति-पूजा का विरोध करके स्थानकवासी सम्प्रदाय की स्थापना करने वाले लौंकाशाह पर किस धर्म का प्रभाव पड़ा था? मेरा ख़याल है कि यह इस्लाम या मुस्लिम धर्म का ही प्रभाव था। दिगम्बर सम्प्रदाय का तारण पंथ भी शायद इसी प्रभाव का फल है" इत्यादि।

उपर्युक्त इन प्राचीन एवं अर्वाचीन प्रमाणो से यही सिद्ध होता है कि विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के पूर्व तो भारत भर में सिवाय मुसलमानों के और कोई भी व्यक्ति मूर्त्तिपूजा का विरोध करने वाला नहीं था। तथा जब हम लौंकाशाह के सम सामयिक गुजरात का इतिहास देखते हैं तब भी यही ज्ञात

* मेवाड में ढूंढियों को बारह पन्थी कहते हैं।

होता है कि उस समय क्या जैनों में और क्या हिन्दुओं में सर्वत्र मूर्त्तिपूजा का खूब प्रचार था। और बाद में लौंकाशाह ने ही सर्व प्रथम इसका विरोध किया। ऐसी हालत में हम यह क्यों नहीं मान लें कि लौंकाशाह पर इस प्रभाव के पड़ने का कारण केवल अनार्य संस्कृति का संसर्ग ही था। क्योंकि सिवाय इसके अन्य तो कारण ढूँढे ही नहीं मिलता है। लौंकाशाह ने केवल मूर्त्तिपूजा का ही विरोध किया हो, सो नहीं किन्तु आपने तो उपाश्रय और यतियों के प्रति द्वेष के कारण जैनागम, जैनश्रमण, सामायिक, पौसह, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, दान और देवपूजा का भी विरोध किया था। * परन्तु आखिर जैन कुल में जन्म तथा तत्रत्य चिरकालीन धार्मिक संस्कारों के कारण जब उनका क्रोध शान्त हुआ तो उन्होंने इन दूषित विचारों पर पुनः विचार किया और मन में खयाल किया कि मैंने जरा से क्रोध के कारण यह क्या अनर्थ कर डाला? बहुत संभव है, कि लौंकाशाहने शायद अपनी अन्तिमाऽवस्था में इन कुकृत्योंके लिए प्रायश्चित्त और पश्चात्ताप भी किए हों? पर पकड़ी हुई बातों को आप अपने जीवन में छोड़ नहीं सके तथा पीछे से उनके अनुयायी वर्ग में धीरे २ पुनः परिवर्त्तन होता गया और पहिले के पवित्र संस्कार पुनः उनके दिलों में अपनी जड़ें जमाने लगे। इसी कारण ये फिर से जैनश्रमण और ३२ सूत्रों को मान

---

* देखो पं० लावण्य समय, उ० कमलसंयम मुनि बीका तथा लौंका-गच्छीय यति भानुचन्द्र तथा यति केशवजी कृत ग्रन्थ जो लौंकाशाह के जीवन के परिशिष्ट में मुद्रित हो चुके है।

ने लगे, और ३२ सूत्रों में श्रावक के सामायिक पौसह प्रति-क्रमणादि के विस्तृत विधान न होने पर भी उन्होंने अपने समुदाय में इन क्रियाओं को सादर स्थान दिया; तथा साथही दान देने की भी छूट दे दी। इस प्रकार समय अपना कार्य करता रहा। समय के इस प्रबल परिवर्त्तनशील प्रताप से ही जिस मत के मूल पुरुष मूर्त्तिपूजा आदि का सख्त विरोध करते थे, अन्त में उनके ही अनुयायियों ने अपने मत में मूर्त्तिपूजा को भी उच्चासन दे दिया। और अद्यावधि यही नहीं किन्तु पीछे से ये तमाम क्रियाएँ इस मत में सादर चालू हुई।

लौंकागच्छीय श्रीपूज्य मेघजी, श्रीपालजी, आनन्दजी आदि सैकड़ों साधु लौंकामत का त्याग कर पुन जैनदीक्षा स्वीकार कर मूर्त्तिपूजा के कट्टर समर्थक और प्रचारक बन गये थे। इतना ही क्यों पर लौंकागच्छीय आचार्यों ने मूर्त्तिपूजा स्वीकार कर कई एक मन्दिर-मूर्त्तियो की प्रतिष्ठाएँ भी कराई, तथा अपने उपाश्रयों में वीतराग भगवान् को मूर्त्तिएँ स्थापित कर स्वयं भी उनकी उपासना करने लग गए। ऐसा कोई ग्राम या नगर नहीं रहा कि जहाँ लौंकागच्छ का उपाश्रय हो, और वहाँ वीतराग की मूर्त्तियों का अभाव हो ? अर्थात् सर्वत्र मूर्त्तियों का अबाध प्रचार हो गया जो आज भी लौंकागच्छ के उपाश्रयों में मूर्त्तियों की विद्यमानता से स्पष्ट प्रमाणित होता है।

विक्रम की अठारहवी शताब्दी मे फिर लौंकागच्छ से यति धर्मसिंहजी और लवजी ने अलग हो; मूर्त्ति के खिलाफ़ बलवा उठाया, इससे लौंकागच्छ के श्रीपूज्यों ने इन दोनों को गच्छ से बाहिर कर दिया। इनके इस नव प्रचारित मत का नाम ढूँढिया

हुआ, साधुमार्गी तथा स्थानकवासी भी इन्हीं ढूँढिया सम्प्रदाय वालों का अपर नाम है। इस नये मत में आज भी मूर्त्ति का विरोध विद्यमान है। पर ये लौंकाशाह के अनुयायी नहीं हैं। क्योंकि लौंकाशाह के अनुयायियों और इन ढूँढियोकी श्रद्धा तथा क्रियाओं में रात-दिन का अन्तर है। स्थानकमार्गी समाज तो यति लवजी का अनुयायी है।

स्थानकमार्गी समाज प्रारंभ से ही मूर्त्तिपूजा का विरोध करता था, परन्तु जब जमाना पलटा, और संसार में ज्ञान का प्रचार हुआ तो स्थानकमार्गी समाज पर भी इस जमाने का न्यूनाऽधिक प्रभाव जरूर पड़ा और इसने भगवान् महावीर के पश्चात् ८४ वर्षों के अन्तर से मूर्त्तिपूजा का अस्तित्व भी स्वीकार किया *। यही नहीं, किन्तु इससे विशेष-मूर्त्तिपूजा की प्रारम्भ स्थिति सुविहितचार्यों द्वारा प्रचलित हुई, और इस प्रवृत्ति से जैनाचार्यों ने जैन समाज का महान् उपकार किया, ये बातें भी स्वीकार कर लीं †अब तो मात्र एक कदम और आगे बढ़ने की जरूरत है, जिससे ४५० वर्षों का मतभेद स्वयं निर्मूल हो जाय और भिन्न भिन्न समुदायों में विभक्त जैनसमाज एकत्रित हो पूर्ववत् शासन-सेवा एवं धर्म-प्रचार करने में समर्थ हो जायँ, यही मेरी हार्दिक शुभ भावना है।

---

* स्वामी सन्तबालजी।

† स्वामी मणिलालजी के लेखों को देखिये, प्रकरण चौदहवां।

प्रकरण का सारांश

(१) मूर्त्तिपूजा के सर्व प्रथम विरोधी, मुस्लिम मत के संस्थापक हजरत पैगम्बर मुहम्मद थे, परन्तु समयान्तर में इनके अनुयायी भी अपनी मसजिदों में पीरों की आकृतिएँ बना उन्हें पुष्प धूपादि से पूजने लगे। ताजिया बना कर उनके सामने रोना पीटना करने लगे। तथा यात्रार्थ मक्के मदीने जाकर वहाँ एक गोल काले पत्थर का चुम्बन कर अपने कृत कर्मों का नाश मानने लगे। क्या यह मूर्त्तिपूजा नहीं है ? अपितु अवश्य है।

(२) मूर्त्तिपूजा नहीं मानने वाले ईसाई अपने गिरजाघरों में जाकर ईसामसीह की शूली पर लटकती हुई मूर्त्ति (क्रास) स्थापित कर उन्हे पूज्य भाव से देखते हैं। द्रव्य भाव से उनकी पूजा करते हैं। पुष्प-हार चढ़ते हैं। क्या यह मूर्त्तिपूजा का प्रकारान्तर नहीं है ? आज यूरोप के भूमि गर्भ से पाँच २ हजार वर्षों की नाना देवी-देवताओं की पुरानी मूर्त्तिएँ मिलती हैं। तथा यूरोप के प्रत्येक प्रान्त में किसी न किसी प्रकार से मुर्त्तिपूजा की जाती है। क्या यह सब मूर्त्तिपूजा का रूपान्तर नहीं है ?

(३) कबीर, नानक, और रामचरण आदि मूर्त्ति-विरोधियों के अनुयायी भी आज अपने २ पूज्य पुरुषों की समाधिएँ बना कर उनकी पूजा करते हैं। भक्त लोग उन स्मारकों के दर्शनार्थ दूर दूर से नाना कष्ट उठा उन समाधियों के पास इकट्ठे होते हैं। पुष्पादि पूजनीय पदार्थों से उन पर श्रद्धाञ्जलि चढाते हैं। यह भी तो मूर्त्तिपूजा की ही क्रिया का एक समर्थन है।

(४) स्थानकमार्गी लोग अपने पूज्य पुरुषों की समाधि, पादुका, मूर्त्ति, चित्र-फोटो बनवा कर उनकी उपासना करते हैं।

अपने २ भक्तों को चित्र फ़ोटो दर्शनार्थ देते हैं और वे भक्त उन चित्रों के दर्शन कर अपने आपको कृत-कृत्य मानते हैं। क्या यह मूर्त्ति पूजा नहीं है ?

क्या कोई व्यक्ति यह बतलाने का साहस कर सकता है कि संसार में अमुक मत, पंथ, संप्रदाय, समाज, जाति, धर्म, या व्यक्ति मूर्त्तिपूजा से वञ्चित रह सकता है ? मनुष्यों के लिए तो क्या पर पशुओं के लिये भी मूर्त्तिकी परमावश्यकता प्रतीत होती है। मैं तो दावे के साथ यह कह सकता हूँ कि चाहे प्रत्यक्ष में मानो चाहे परोक्ष में, पर सब संसार मूर्त्तिपूजा को मानता जरूर है। हाँ ! मताग्रह के कारण मुँह से भले ही यह कह दो कि हम मूर्त्ति पूजा नहीं मानते हैं, पर वास्तव में मूर्त्ति बिना उनका काम भी नहीं चलता है।

अन्त में मैं यह कह कर इस प्रकरण को यहीं समाप्त कर देता हूँ कि मूर्त्ति-पूजकों ने संसार का जितना उपकार किया है उतना ही मूर्त्तिविरोधको ने संसार का अपकार किया है। मूर्त्ति आत्म-कल्याण करने के साथ ही संसार की सच्ची उन्नति का साधन है। मूर्त्ति का विरोध करना आत्मा का अहित तथा संसार की पतन दशा का प्रधान कारण है। अतएव प्रत्येक आत्मार्थी को चाहिए कि वे मूर्तिपूजा के उपासक बन संसार मे स्व-पर-कल्याण का साधन करें।

संसार का अधिक भाग अशिक्षित एवं भद्रिक है। उसे पक्ष-विमोह के आग्रह के कारण आगमो के नाम से भ्रम में डाल दिया जाता है। अतएव उनके हितार्थ अगले प्रकरणो मे आगमों के विषय मे कुछ लिखने का प्रयत्न करेंगे। ओं शान्तिः

द्वितीय प्रकरण

जैनागमों की प्रमाणिकता।

किसी भी वस्तु का निर्णय करने के साधन इस समय तीर्थंकर, केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी और पूर्वधर नहीं हैं। आज तो जो-कुछ भी साधन उपलब्ध है, वह जैनागम—जैनशास्त्र—ही हैं। किंतु शास्त्र भी जितने प्रारम्भ में थे, उतने आज नहीं रहे। तो भी जितने शास्त्र शेष रहे हैं, वे ही हमारे लिये पर्याप्त हैं। कारण, कि मूलसूत्र संक्षिप्त होने पर भी उन पर पूर्वाचार्यों ने अत्यन्त-विस्तार पूर्वक निर्युक्ति, टीका, चूर्णि, भाष्य इत्यादि बनाकर उन आगमों के गूढ़-रहस्यो को अत्यन्त-सुलभ बना दिया, जिसके कारण हम लोग प्रत्येक पदार्थ के सम्बन्ध मे सरलतापूर्वक निर्णय कर सकते हैं।

जैनागम, मूल में तो द्वादशांग (बारह अंग) ही थे। यथा श्रीआचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांङ्ग, समवायाङ्ग, भगवत्यङ्ग, ज्ञाताङ्ग, उपासकदशाङ्ग, अन्तगड़दशाङ्ग, अनुत्तरोववाई, प्रश्नव्याकरण, विपाक और दृष्टिवादाङ्ग—इन्हीं द्वादशाङ्गो मे, सारे संसार के धार्मिक तथा व्यवहारिक ज्ञान का समावेश हो जाता है। उपर्युक्त द्वादशाङ्गों में बारहवां दृष्टिवाद अंग है। इस अंग का क्रमशः ह्रास होता गया और भगवान महावीर के पश्चात् १००० वर्षों में तो उसका ज्ञान सर्वथा विच्छेद ही होगया और ग्यारह अंग शेष रह गये। किंतु वे भी प्रारम्भ मे जिस स्थिति मे

थे उतने अब नहीं रहे—जैसे एक आचारांग सूत्र के ही १८००० पद थे और एक पद के ५१०८८४६२१।। श्लोक* होते थे यदि, १८००० का ५१०८८४६२१।। के साथ गुणाकार किया जाय तो ९१९५९२३१८७००० श्लोक तो अकेले आचारांगसूत्र के ही होते हैं। इसके पश्चात् प्रत्येक अंगसूत्र को द्विगुणित—द्विगुणित बतलाया गया है, जो निम्न कोष्ठकानुसार होते हैं:—

नं०	आगम नामावली	पदसंख्या	पदों के श्लोकों की संख्या	वर्त्तमान श्लोक
१	श्री आचारांग	१८०००	९१९५९२३१८७०००	२५२५
२	,, सूत्रकृतांग	३६०००	१८३९१८४६३७४०००	२१००
३	,, स्थानायांग	७२०००	३६७८३६९२७४८०००	३६००
४	,, समवायांग	१४४०००	७३५६७३८५४९६०००	१६६७
५	,, विवाहप्रज्ञप्ति	२८८०००	१४७१३४७०९९२०००	१५७५२
६	,, ज्ञातांग	५७६०००	२९४२६९५४१९८४०००	५४००
७	,, उपासक दशांग	११५२०००	५८८५३९०८३९६८०००	८१२
८	,, अन्तगढ़ दशांग	२३०४०००	११७७०७८१६७९३६०००	८९९
९	,, अनुत्तरोवाई	४६०८०००	२३५४१५६३३५८७२०००	१९२
१०	,,प्रश्नव्याकरण	९२१६०००	४७०८३१२६७१७४४०००	१२५६
११	,, विपाकसूत्र	१८४३२०००	९४१६६२५३४३४८८०००	१२१७

* एगवन्न कोड़ी लक्खा, अट्ठे व सहस्स चुलासीय,
सय छक्कं नायव्वं, सड्ढा एगवीस समयम्मि।
— रत्नसंचय प्रकरण गाथा २०६

उपर्युक्त तालिका के प्रथम कोष्ठक में क्रमसंख्या, दूसरे में आगमों के नाम, तीसरे में आगमों के पद और चतुर्थ में पदों के श्लोकों की संख्या अंकित है। किंतु यह श्लोक-संख्या, भगवान् महावीर के ९८० वर्ष पश्चात, यानी आचार्य देवार्द्धिगणि क्षमाश्रमणजी के समय तक नहीं रह गई थी। श्री देवर्द्धिगणिजी के समय आचारांगसूत्र के केवल २५२५ श्लोक ही शेष रह गये थे, जो तालिका के पांचवें कोष्ठक में दर्ज हैं, और इतने ही श्लोक क्षमाश्रमणजी ने पुस्तकारूढ़ किये थे। उस समय पुस्तक के रूप में लेखनीवद्ध किये आगम, आज भी ज्यों के त्यों विद्यमान् हैं। उनमें, आज तक किसी ने एक अक्षर भी न्यूनाधिक नहीं किया है। इसका कारण यह है, कि जैनधर्मावलम्बियों की यह सुदृढ़ मान्यता है, कि अंगसूत्र स्वयं तीर्थंकरों के फरमाये एवं गणधरो के ग्रन्थित किये हुए हैं। इनमें, यदि कोई अक्षरमात्र भी न्यूनाधिक करे तो उसे अनन्त संसार परिभ्रमण करना पड़ेगा। यही कारण है, कि आगमों का स्वरूप आज तक उसी दशा मे चला आ रहा है कि जिस रूप में श्री क्षमाश्रमणजी ने उन्हें लेखनीवद्ध किया था।

इन अंगशास्त्रों के अतिरिक्त, भगवान महावीर के पश्चात् और श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणजी के पूर्व कई स्थविरों ने उपांगसूत्रों तथा कालिक-उत्कालिक शास्त्रों की रचना की थी। इन सबको भी श्री क्षमाश्रमणजी ने अपने नेतृत्व में लेखनीवद्ध करवा दिया था और इन सब आगमों का उल्लेख उन्होंने स्वरचित नन्दीसूत्र मे कर लिया। इस तरह, उस समय सब आगमों की संख्या ८४ निश्चित हुई थी।

हमारे दूरदर्शी, जैनाचार्य लोग यदि केवल ८४ आगमों से ही संतोष करके बैठे रह जाते, तो आज साहित्यिक-क्षेत्र में हमारा जो सर्वोपरि स्थान माना जाता है, वह कदापि न रह पाता। हमारे उन शासन-स्तम्भ, धर्म-रक्षक आचार्यों ने, अपने साधारण ज्ञानवाले मुमुक्षुओं के बोधार्थ आगमों में निहित गूढ़-रहस्यों को प्रस्फुटित करने के उद्देश्य से आगमों पर निर्युक्ति, टीका, चूर्णि, भाष्य और वृत्यादि की रचना करके दीपक नहीं बल्कि सूर्य के सदृश प्रकाश फैला दिया। यह सब होने पर भी, उन आचार्यों में एक बड़ी भारी विशेषता यह थी कि भिन्न-भिन्न आचार्यों ने पृथक २ समय में आगमों पर विवरणों की रचना की है, किंतु फिर भी सब आचार्य आगमों की बात को ही पुष्ट करते रहे हैं। यदि किसी ने तर्क का समाधान भी किया है, तो आगमों के अनुकूल ही। यदि, कोई बात किसी के समझ में न आई, तो उसे 'केवलीगम्य' कह कर छोड़ दिया गया। उन भवभीरु महापुरुषों ने, यह कहने का दुस्साहस कभी नहीं किया कि आगमों अथवा विवरणों की अमुक बात हमें मान्य नहीं है। कारण, कि वे मुमुक्षुगण, भवभ्रमणके वज्रपाप से सदैव भयभीत रहते थे।

आगमों के अतिरिक्त जैनाचार्यों ने अन्य अनेक विषयों पर पर्याप्त-संख्या में ग्रंथों की रचना की है। यह रचनाकार्य भी स्वमति से नहीं, अपितु जैनागमो के आधार पर ही किया गया है। जिस तरह किसी विशाल-भवन के टूटने पर समझदार मनुष्य उसकी सामग्री से अन्य अनेक छोटे-बड़े मकान बना डालते हैं, उसी तरह जब हमारा दृष्टिवादाङ्गरूपी विशाल-

भवन टूटने लगा, तब उसका मसाला लेकर तात्कालिक-आचार्यों ने अनेक छोटे—बड़े ग्रन्थ बनाने में अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया। यदि, वे आचार्य इस पवित्र कार्य के निमित्त प्रयत्न न करते, तो आज हमारे मुख्य सिद्धान्त स्याद्वाद, कर्मवाद, आत्मवाद, परमाणुवादादि को समझने के लिये अन्य कोई भी साधन शेष नहीं रह जाते।

जिस तरह उन महोपकारी-आचार्यों ने तात्विक, दार्शनिक, आध्यात्मिक आदि विषयों के ग्रन्थों का निर्माण किया, उसी तरह उन्होंने विधि-विधानादि के भी अनेक ग्रन्थों की रचना कर डाली! यदि उन आचार्यों ने यह उपकार न किया होता, तो, हमारे साधुओं को दीक्षा—बड़ीदीक्षा—वाचना और आलोचना तथा श्रावकों को सामायिक पौषध प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं की विधि से भी वंचित रह जाना पड़ता। क्योंकि, उपर्युक्त क्रियाओं का विस्तृत-विधि-विधान हमारे मूलागमों में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। शायद इनका कारण यह हो, कि उपर्युक्त क्रियाएं उस समय आम तौर से प्रचलित हो रही हो और अन्यान्य आगम जो मुनियों को कण्ठस्थ थे, उन्हें पहिले लिखने की आवश्यकता समझ कर इन प्रचलित क्रियाओं के वर्णन को स्थान न दिया जा सका हो।

हमारे धर्माचार्यों ने, धार्मिक-विषयों के साथ ही साथ, न्याय व्याकरण, तर्क, छन्द, अलङ्कार, ज्योतिष और संस्कारादि के साहित्य की सेवा करके, समाज पर कुछ कम उपकार नहीं किया था। उसी का यह परिणाम है, कि आज हमें किसी भी

विषय के साहित्य की अन्य धर्मावलम्बियों से भिक्षा माँगने की आवश्यकता नहीं रह गई है।

हमारा, यह सर्व प्रथम कर्त्तव्य है, कि हम उन जगतपूज्य विश्वोपकारी आचार्यों का अधिक-से-अधिक आभार मानें। क्योंकि, वे हमारे लिये एक समृद्धिशाली-ज्ञान का अपरिमित-भण्डार छोड़ गये हैं, जिसके बल पर जैन-शासन उज्जवल-मुख से संसार के सन्मुख गर्जना कर रहा है। जैनो की संख्या कम होने पर भी, आज सभ्य-समाज में जैनो का आसन ऊँचा है, यह केवल उन आचार्यों के निर्माण किये हुए साहित्य का ही परिणाम है।

जैन साहित्य, समुद्र के सदृश था, जिसमें का केवल एक बूँद के बराबर हमारे पास शेष रह गया। हमारे दुर्भाग्य से, उस बचे हुए कई ज्ञान भण्डारों को अनार्य लोगों ने ज्यों-का-त्यों जला दिया। यवनों ने, जैनशास्त्रों को भट्टियों में जला-जला कर पानी गरम किया और उस पानी से स्नान किया। बहुत दिनों तक धर्मान्ध यवनों ने भारतीय-साहित्य की होलियां जलाकर हमारे उत्तमोत्तम साहित्य को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। उसमें से यत्किञ्चित बचा हुआ साहित्य आज हमारे पास है, इतने ही को हम अपना सौभाग्य समझते हैं।

पूर्वोक्त दुःखद और विकट परस्थिति को पार करके जो साहित्य बचा है, उसकी जैन, जैनेतर और पौर्वात्य एवं पाश्चात्य-विद्वान लोग मुक्तकण्ठ से भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में, महावीर के पुत्र होने का दम भरने वाला एक समुदाय, उस साहित्य में भी अनेक प्रकार की त्रुटियों के स्वप्न देख रहा

है, यह कितने दुःख और खेद की बात है। वे लोग कभी तो कहते हैं कि हम इतने सूत्र मानते हैं, शेष नहीं और कभी कहते हैं, कि हम मूल सूत्र मानते हैं, पर नियुक्त, टीका, आदि को नहीं मानते। शायद उन लोगों ने आगम और नियुक्त तथा टीका आदि को बच्चों का एक खेल ही समझ लिया है। बात है भी ठीक। जिसे इतना ज्ञान ही न होगा, वह इसके अतिरिक्त और तो कर ही क्या सकता है? यहाँ, मैं जरा इस बात को स्पष्ट कर देना चाहता हूँ, कि आगम और आगमों के विवरण किस-किस समय बने तथा इससे शासन को क्या हानि-लाभ हुआ?

" *अत्थं भासइ अरहा, सुत्त गुत्थइ गणहरा* "

(१) अरिहन्त देव ने, आगम अर्थरूप में फरमाये।

(२) उसी अर्थ को गणधरों ने सूत्र रूप में संकलित कर लिया।

(३) उन्हीं सूत्रों पर वीरनिर्वाण की दूसरी शताब्दी में चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहुसूरि ने निर्युक्ति को रचना कर सम्बन्ध को सगठित किया।

(४) गणधर देवों के संकलित किये हुये सूत्रों पर विक्रम की तीसरी शताब्दी में आचार्य गन्धहस्तिसूरि ने विस्तृत-टीका रचकर सूत्रों में रहे हुए गूढ़-रहस्य को सुगम्य बना, सर्व साधारण का महान् उपकार किया। श्रीगन्धहस्तीआचार्य की टीका इस समय विद्यमान नहीं है, पर शीलांगाचार्य ने अपनी टीका में यों फरमाया है, कि—

"शास्त्रपरिज्ञा विवरणमति बहु गहनं च गन्धहस्ती कृतं।
तस्मात् सुखबोधार्थं गृह्णाम्यहमञ्जसा सारं ॥ ३ ॥

श्री आचारांग सूत्र पृष्ठ ३

इस अवतरण से स्पष्ट सिद्ध होता है, कि शीलांगाचार्य से पूर्व गन्धहस्तिसूरि की टीका थी, किन्तु वह क्लिष्ट और विस्तृत थी, अतः शीलांगाचार्य ने उसे स्वल्प तथा सरल बना डाला। गन्धहस्तीआचार्य का समय, वीराब्द की सातवीं शताब्दी माना जाता है और उस समय दश पूर्वधर विद्यमान भी थे। आगमों की टीका करना, कोई सामान्य-ज्ञानवाले मनुष्यों का कार्य नहीं था। इस महान् कार्य के लिये तो बड़े धुरन्धर एवं अगाध-ज्ञानवाले महापुरुषों की आवश्यकता थी। यदि, गन्धहस्तीआचार्य पूर्व-धर हों, तो यह टीका पूर्वधरों की रची हुई मानने में किसी भी तरह शंका को स्थान नहीं मिल सकता। कारण, कि गन्धहस्ती आचार्य के ३००वर्ष पश्चात् देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण हुए, जिन्होंने आगमों को लेखनीबद्ध किया और नन्दीसूत्र की रचना की। यदि, उन्हें माना जाता है, तो गन्धहस्तीआचार्य की टीका तो उनसे ३०० वर्ष पूर्व की बनी हुई है, अतः उसे तो और अधिक प्रमाणिक मानना चाहिये।

(५) आचार्य गन्धहस्तीसूरी की टीका भी कालक्रम से साधुओं को कठिन प्रतीत होने लगी, तब वि० सं० ९३३ में श्री शीलागाचार्य ने पूर्व टीका को स्वल्प-विस्तारवाली तथा सरल बनाई थी। इनमें श्री आचारांग और सूत्रकृतांग इन दो अगों की टीका उपलब्ध है, शेष नौ अंगों की टीका इस समय नहीं

मिलती है। इसका कारण शायद विधर्मियों का अत्याचारपूर्ण आक्रमण ही हो।

(६) नौ अंगों पर टीका का अभाव देखकर वि० सं० ११२० में चँद्रकुलीय आचार्य अभयदेवसूरि ने नौ अंगों पर पुनः टीका की रचना की जो सम्प्रत काल में विद्यमान है।

(७) श्री शीलागाचार्य कृत दो अंगों की टीका भी अल्पज्ञों के लिये कठिन प्रतीत होने लगी, तब विक्रम की सौलहवीं शताब्दी में आचार्य जिनहंसूरि ने आचारांगसूत्र पर एक दीपिका रची। आप स्वय ही फरमाते हैं, कि—

"शीलांकाचार्य रचिता वृत्तिरास्ति सविस्तरा,
श्री आचारागसूत्रस्य दुर्विगाह तरंगतः ॥२॥
अनुग्रहार्थं सभ्याना व्याख्यातृणां सुखावहा,
श्री जिनहससूरीन्दैः क्रियतेस्म प्रदीपिका ॥३॥

श्री आचारांगसूत्र पृष्ठ २

(८) श्री शीलांगचार्य एवं श्री अभयदेवसूरि कृत टीकाएँ और जिनहँससूरी रचित दीपिका भी जब लोगों के लिए कठिन प्रतीत होने लगी, साधारण-ज्ञानवाले मनुष्य उनसे समुचित-लाभ उठा सकने में असमर्थ प्रतीत होने लगे, तब विक्रम की सोहलवीं शताब्दी में श्रीपार्श्वचन्द्रसूर ने उन आगमों पर टीका अनुसार गुर्जर भाषा में टब्बा यानी गुजराती भाषा में अनुवाद कर डाला, इस विषय में आप फरमाते हैं, कि—

"प्रणम्य श्री जिनाधीशं, श्रीगुरुणामनुगृहात् ।
लिखते सुखबोधार्थमाचारांगर्थवार्तिकम् ॥ १ ॥

सुतरां शब्दशास्त्रेण, येषांबुद्धिरसंस्कृता ।
व्यमोहो जायते तेषा, दुर्गमेवृत्तिविस्तरे ॥ २ ॥
ततो वृत्तेः समुद्धृत्य, सुलभो लोकभाषण ।
धर्मलिप्सूपकारायदि मांऽगाऽर्थः पतन्यते ॥ ३ ॥

श्री आचारांगसूत्र पृष्ठ १ ।

आचार्य गन्धहस्ती सूरि और पार्श्वचन्द्र सूरि के वीच में लगभग १३०० वर्षों का अन्तर है। इन १३०० वर्षों में अनेक चैत्यवासी क्रियोद्धारक गच्छ मत पैदा हुए, किन्तु किसी ने इस प्रकार का एक शब्द भी उच्चारण नहीं किया, कि अमुक आगम अथवा अमुक टीकादि हमे मान्य नहीं है। कारण कि वे लोग उच्चकोटि के विद्वान् थे और आगमो तथा निर्युक्ति एवं टीका के सम्बन्ध में जानते थे कि ये चीजें हमारे धर्म के लिए स्तम्भ हैं और इन पर ही शासन चल रहा है।

किन्तु, यह हमारा दुर्भाग्य था, कि विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में लौंकाशाह नामक एक व्यक्ति उत्पन्न हुआ। श्री संघ से तिरस्कृत होकर उसने अपना एक अलग मत निकाला। उस पर, अनार्य-संस्कृति का इतना बुरा प्रभाव पड़ा, कि प्रारम्भ में तो उसने क्रोध तथा आवेश मे भरकर जैनसाधु, जैनागम, सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, दान और मूर्तिपूजादि से खिलाफ एवं बिलकुल इन्कार ही कर दिया और केवल पाप-पाप, हिंसा-हिंसा, दया-दया चिल्लाकर अपना मत चलाना चाहा। किन्तु ऐसे अल्पज्ञ और जैनशास्त्रो क विरुद्ध प्ररूपण करनेवाले मनुष्य की बात कौन स्वीकार कर

सकता था ? अन्त में, लौंकाशाह को अपनी अन्तिम अवस्था में इस अकृत्य के लिये पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त करना पड़ा एवं भाणादि कई मनुष्यों को विना गुरु के ही वेश पहनाकर साधु बनाया। इसके पश्चात् श्री पार्श्वचन्द्रसूरिकृत गुर्जर भाषा के अनुवादवाले ३२ सूत्र उन के हाथ लगे, जिनमें अर्थ का अध्ययन करने पर उन लोगों की समझ में यह बात आ गई कि लौंकाशाह ने जिन क्रियाओं का निषेध किया है वे क्रियाएँ उचित हैं और बिना सोचे-समझे ही निषेध किया गया है। परिणाम यह हुआ कि जिन क्रियाओं का लौंकाशाह ने निषेध किया था, उन्हीं को लौंकाशाह के पश्चात् उसके अनुयायियों ने स्वीकार कर लिया और अनेक मुमुक्षु सत्य बात की खोज करके लौंकामत का परित्याग कर शुद्ध-सनातन जैनधर्म की शरण में आये एवं मूर्तिपूजक बन गये। लौंकामत के शेष अनुयायियों ने अन्यान्य क्रियाओं के साथ ही मूर्तिपूजा को भी स्वीकार करके तथा अपने उपाश्रयों में वीतराग की मूर्तियों की स्थापना कर एवं द्रव्य भाव से उनकी पूजा करके अपना आत्म-कल्याण करना प्रारम्भ कर दिया।

लौंकागच्छ के विद्वान यतियों ने कई मन्दिरों की प्रतिष्ठा करवाई, अनेक ग्रन्थो को निर्माण किया, बहुत से सूत्रों की प्रतिलिपियाँ की जिनमे टीकानुसार जो टब्बा श्री पार्श्वचन्द्रसूरि ने किया था उसे ही मान्य रक्खा। जब मूर्तिपूजा का खास मतभेद मिट गया, तो फिर सूत्रों में तो मतभेद रह ही क्या जाता है?

विक्रमकी अठारहवीं शताब्दी, लौंकामत के लिये एक उत्पात का दुःखद समय था। लौंकागच्छीय श्रीपूज्य शिवजी ने

अपने शिष्य धर्मसिंह को अयोग्य समझकर गच्छ से बाहर निकाल दिया। उसने श्रावक की आठकोटि सामायिक के बाहना से एक अलग मत निकाला। इसके बाद लवजी और धर्मदास जी ने भी अपने-अपने अखाड़े अलग जमाये। धर्मसिंहजी ने पार्श्वचन्द्रसूरी कृत टब्बे में मूर्ति विषयक कई अर्थ बदलकर अपने नाम से कई सूत्रों पर टब्बा बना लिया। यह 'दरियापुरी टब्बा' के नाम से प्रसिद्ध है। किन्तु, इसका प्रचार आठकोटि समुदाय में ही विशेष था और मारवाड़, कोटा, मालवा आदि के स्थानकमार्गी सिंघाड़ों में तो श्रीपार्श्वचन्द्रसूरि कृत टब्बे का ही प्रचार था। स्थानकवासी पूज्य हुक्मीचन्दजी महाराज ने अपने हाथों से १९ सूत्र टब्बे सहित लिखे, जिनमें उपासकदशांगसूत्र में आनन्द श्रावक के अधिकार में आपने स्पष्ट रूप से यह लिखा है कि "अन्यतीर्थियों द्वारा ग्रहण की हुई जिन प्रतिमा को वन्दन नमस्कार करना आनन्द को नहीं कल्पता है"। इसी प्रकार से उववाईसूत्र में अम्बड़ के अधिकार में भी लिखा था और श्री पीरचन्दजी स्वामी आदि कई आत्मार्थी साधुओं ने इसी प्रकार से श्री पार्श्वचन्द्रसूरि का ही अनुकरण किया। कारण, कि वे लोग भववृद्धि से डरते थे। इन लेखों को देखकर बहुत से समझदारों की श्रद्धा मूर्ति की ओर झुक गई और अनेक व्यक्ति मूर्ति-पूजक समाजमें जा मिले। उनमें इस किताबका लेखक भी एक है।

किन्तु, आजकल के नये विद्वानो को यह घाटा कैसे सहन हो सकता है? अतः इस घाटे को रोकने के लिये सब से पहला साहस स्था० साधु अमोलखऋषिजी ने किया। आपने पार्श्वचन्द्र सूरि और धर्मसिंहजी के टब्बे का सहारा लेकर ३२ सूत्रो का

हिन्दी अनुवाद मुद्रित करवाया। जिस समय आपका यह कार्य प्रारम्भ हो रहा था, उसी समय अनेक स्थानकवासियों की ओर से समाचारपत्रों में इस आशय के नोटिस प्रकाशित हुए थे, कि यदि ३२ सूत्रों का अनुवाद करना ही हो, तो किसी संस्कृत के विद्वान पण्डित को अपने पास रख टीकाओं का आशय लेकर अनुवाद किया जाय, ताकि वह सर्वमान्य हो सके। किन्तु, ऋषिजी ने विना किसी की परवाह किये, पूर्वप्रचलित टब्बों में स्वेच्छानुसार परिवर्त्तन करके अपना अनुवाद छपवा ही डाला। पर जब उनके पन्नो को किसी विद्वान ने देखा और अपने अभिप्राय दिये तो स्वामीजी को उन पन्नों को रद्दी खाते में डालने पड़े और बाद मे कुछ विद्वानो का सहारा लेकर दूसरा अनुवाद छपवाया। यदि उस अनुवाद को भी कोई सभ्य मनुष्य पढ़े तो उसे अत्यन्त दु.ख हुए विना रह नहीं सकता। भला जिस व्यक्तिको ह्रस्व-दीर्घ तथा शब्दों के शुद्धस्वरूप तक का ज्ञान न हो, वह सूत्रों के गूढ आशय को क्या तो स्वयं समझ सकता है और क्या उसे दूसरों पर व्यक्त ही करसकता है? इसी कारण ऋषिजीकृत ३२ सूत्रो का हिन्दी अनुवाद स्थानकवासी समाज में भी सर्वमान्य नहीं हो सका।

ऋषिजी ने केवल एक मूर्तिपूजा के कारण ही अनेक प्रपंचों की रचना की तथा मूलसूत्रों एवं अर्थ में खूब रद्दोबदल कर डाला है। यहाँ तक, कि कहीं-कहीं तो मूलपाठ को उड़ा दिया गया और कहीं मूलपाठ को बदल कर उसके स्थान पर अन्य पाठ बनाकर रख दिया गया। अनेक स्थानो पर सूत्रों मे न होने पर भी अपनी कल्पना से नोट लिख दिये। किन्तु मूर्तिपूजा

का सिद्धान्त तो इतना सर्वव्यापी है कि इतना प्रपंच रचने पर भी यह छिपाकर नहीं रक्खा जासका ।

वास्तव में लौंकामत एवँ स्थानकवासी समाज में वत्तीस सूत्रों की मान्यता न तो ३२ सूत्र सच्चे और शेष सूत्र झूटे और न मूर्ति मान्य एवं अमान्य के कारण हुइ है क्योंकि ३२ सूत्र सच्चे और शेष झूटे कहे उतना ज्ञान एवं प्रमाण न तो लौंकाशाह के अनुयायियो के पास था और न उन्होंने ऐसा कहा भी था दूसरा मूर्तिपूजा मान्य या अमान्य का कारण भी नहीं था क्योंकि मूर्तिपूजा विषयक पाठ तो ३२ सूत्रों में भी विद्यमान हैं ।

परन्तु ३२ सूत्रो को मानने का कारण तो कुछ और ही था । क्योंकि लौंकाशाह के मौजुदगी में जैनागम प्राकृत भाषा (अर्धमागधी) में और टीकाएँ सस्कृत में थीं जिसका थोड़ा भी ज्ञान लौंकाशाह को नहीं था कि वह जैनगामों को पढ़ कर उस को मान्य रक्खे या न रखे । लौंकाशाह के देहान्त के बाद आपके अनुयायियों को श्रीपार्श्वचन्द्रसूरी कृत गुर्जर भाषानुवादके जितने सूत्र मिले उतनो को ही उन्होंने अपनाये, उन सूत्रों की संख्या ३२ की थी । बस लौंकाशाह के अनुयायियो में यह मान्यता सजड़ रूढ हो गई की हम ३२ सूत्र मानते हैं जब ३२ सूत्रों के विवरण में उनकी मान्यता के विरुद्ध मे उल्लेख बताये जाने लगे तो उन्होंने कह दिया कि हम मूल सत्रों के अलावा टीकाएँ वगैरह नहीं मानते है फिर मूल सूत्रों मे ऐसे पाठ आये कि जिनसे उनका मत निर्मूल होने लगा तब उन्होने मूलसूत्रो के अर्थ जो प्राचीन टीकाएँ तथा श्रीपार्श्वचन्द्रसूरि कृत टब्बा मे था उनको भी बदलाने की कोशिश एवं मिथ्या प्रयत्न करना शुरू किया और कितनेक

भद्रिक अबोध जैनों को भ्रममें भी डाले। जब उनको थोड़ा बहुत मनुष्यत्व का भान होने लगा और टीकाएँ वगैरह की आवश्यकता हुई तो एक नई युक्ति घड़ निकाली कि मूलसूत्रों के साथ मिलती हुई टीकाओं को हम लोग मानते हैं। इसका यह अर्थ था कि जिस टीकामें मूर्तिपूजा का उल्लेख न हो उस टीका को हम मानते हैं।

संसार में ज्ञानकी उत्तरोत्तर वृद्धि हुई और थोडा बहुत प्रभाव हमारे स्थानकमार्गी भाइयो पर भी हुआ। उन्होंने संकीर्णता की वाडाबन्धी के बाहर कदम रखने का साहस किया और मूल ३२ सूत्रों के अलावा अन्य आगम तथा आगमों पर जो निर्युक्ति टीका भाष्य चूर्णि वगैरह पूर्वाचार्य कृत साहित्य की ओर दृष्टि डालकर अवलोकन किया जिसमे सबसे पहला नम्बर स्थानक मार्गी समाज के धुरंधर विद्वान शतावधानी मुनि श्री रत्नचन्द्रजी का है कि आपने अर्धमागधी कोश बनाने में निर्युक्ति टीकादि बहुत से ग्रन्थो का आश्रय लिया तथा स्था० मुनिश्री मणिलालजी ने'प्रभुवीर पट्टावलि' नाम की पुस्तक रचनेमे ३२ सूत्रों के अलावा कई ग्रन्थों का आधार लिया और स्था० पूज्यश्री जवहरलालजी महाराजने तेरहपन्थियों का खण्डन में 'सद्धर्ममण्डन' नामक ग्रन्थ बनाया जिसमें तो खूब प्रचूरतासे निर्युक्ति टीका चूर्णि भाष्य दीपका वगैरह के अवतरण दिये हैं आपने अपने पूर्वजों की संकीर्णता को तिलाञ्जली देकर मूल ३२ सूत्रोंसे मिलती हो चाहे ३२ सूत्रोमें जिसबात की गन्ध तक न हो उन टीकाओं को भी स्वीकार करली है। यदि उन अवतरणों का उतारा किया जाय तो एक खासा ग्रन्थ तैयार हो जाय परन्तु मैं मेरे पाठकों के अवलोकनार्थ उस 'सद्धर्म

मण्डन नामक ग्रन्थ के मात्र पृष्ठ नम्बर लिख देता हूँ कि एक ग्रन्थ लिखने में इतने स्थान पर निर्युक्ति टीका चूर्णि भाष्यादि के प्रमाण दिये हैं जैसे पृष्ठसंख्या।

५, ५, ६, ६, ८, २८, ४७, ४६, ४८, ५०, ५५, ६४, ६५, ६६, ६८, ७३, ९७, ९३, १०४, १०७, १०९, ११७, १२२, १२५, १४९, १५२, २३२, २३५, २३९, २४३, २४४, २४५, २५१, २५३, २५५, २६८, २७५, २७६, ३२४, ३४३ ३५२, ३६२, ३६३, ३६९, ३८४, ४११, ४१२, ४१३, ४२०, ४३२, ४३६, ४५१, ४५४, ४५५, ४८७, ४८७, ४८८, ४९०, ४९३, ४९४, ४९५, ४९६, ४९७, ४९८, ४९९, ५०४, ५६०,

इनके अलावा 'सद्धर्ममण्डन' ग्रन्थ के पृष्ठ ३६८ पर तो श्रीमान् पूज्यजी ने तेरहपन्थियों को बड़े ही जोर से दबाया है जैसे आप फरमाते हैं कि—

"इस चूर्णि की आधी बात को मानना और आधी बात को नहीं मानना यह दुराग्रह के सिवाय और कुछ नहीं है।"

यदि हमारे तेरह पन्थी भाई यही सवाल पूज्य जवाहरलालजी महाराज से कर लेते तो हमारे पूज्यजी इसका उत्तर यह तो शायद ही दें कि हम चूर्णि की बातो को सर्वांश से मानते हैं ? फिर तो पूज्यजी के लिए भी वही दुराग्रह का सवाल आकर खडा हो जायगा।

'सद्धर्म मन्डन ग्रन्थ' मे श्रीमान् पूज्यजी ने तेरहपन्थियों से बहुत से सवाल ऐसे भी किये हैं कि वे आपके लिए भी इतने ही बाधित होते हैं उन प्रश्नो के लिए स्थानकवासी या तेरहपन्थियों को बिना मूर्तिपूजक आचार्यों का शरण लिये छुटकारा हो नहीं

सकता है इस विषय के लिये मै एक स्वतन्त्र किताब लिखने का इरादा करता हूँ।

निर्युक्ति टीका विना तेरहपन्थियों का भी काम नही चलता है। तेरहपन्थियों के पूज्य जीतमलजी स्वामि ने 'भ्रमविध्वसन' नामक ग्रन्थ लिखा है उसमें भी आपने निर्युक्ति टीका चूर्णि भाष्यादि का कई स्थानो पर प्रमाण दिये हैं। अस्तु गुड खाना और गुलगुलों से परहेज रखना यह कहावत भी चरितार्थ होनी चाहिए !

पाठको, इस प्रकरण से आप इतना तो अवश्य समझ गये होंगे कि जैनागमों की प्राचीनता एवं प्रमाणिकता में किसी प्रकार का संदह नहीं है तब एक मूर्त्ति के नहीं मानने के कारण मत्तधारियो को किस किस प्रकार से मिथ्या प्रयत्न करना पड़ा है फिर भी उन लोगों को अपने अभीष्ट की सिद्धि प्राप्त नहीं हुई और आखिर प्राचीन एवं प्रमाणिक आगमो के सामने शिर झुकाना पड़ा। आगे चलकर हम ऋषिजी के अनुवाद करने की योग्यता का दिग्दर्शन करावेगें और अगल प्रकरणो में खास ऋषिजी के मूलसूत्र और हिन्दो अनुवाद से ही मूर्तिपूजा सिद्ध कर बतलावेंगे और साथ हो साथ प्रसगोपात यह भी बतलादेंगे, कि लौंकागच्छीय आचार्यों के सूत्रों तथा अर्थ में और ऋषिजी के किये हुए हिन्दी अनुवाद में कितना विरोध एवं कैसी जबरदस्त खींचातानी है। पाठकगण, आगे के प्रकरण खूब ध्यान लगाकर पढ़ें।

प्रकरण तीसरा

जैनागमों में शाश्वति जिनप्रतिमाएँ

विक्रमीय सोलहवीं शताब्दी के मध्यकाल तक तो जैनागम अर्धमागधी भाषा और विवरण संस्कृत एवं प्राकृत भाषा ही मे था, बाद में श्री पार्श्वचन्द्र सूरि ने जनोपकार के लिए गुर्जरगिरा में टब्बा (अनुवाद) बनाया। पर आपका यह उपकार कई लोगों को उलटा अपकार के रूप में परिणित होगया। क्योंकि कई अल्पज्ञ लोगो ने आपके बनाये टब्बे को रद्दोबदल कर स्वेच्छा नये-नये मत-पन्थ निकाल कर शासन को छिन्न-भिन्न कर डाला। लौंकाशाह के अनुयायियों को भी आपके टब्बे का ही सहारा मिला और लौंकाशाह के मतविरोधी यति धर्मसिंहजी ने पूर्व टब्बे को रद्दोबदल कर अपना नया मत निकाला और धर्मसिंहजी ने श्री पार्श्वचन्द्र सूरि कृत टब्बे में स्वेच्छा फेरफार कर अपने नाम से टब्बा बना लिया। स्वामी भीखमजी ने धर्मसिंहजी के टब्बे को रद्दोबदल कर अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग पकाने को अपना मत चला दिया। पर यहां तक तो जैनागमों की प्रतिएं हस्तलिखित ही थीं कि जिसके दिल में आया वैसा ही उतारा कर वे प्रतियां अपने पुट्ठों में बाध पास रख लेते थे और अपने अनुयायियों को भगवान के नाम पर वे पुस्तकें दिखा कर विश्वास दिला दिया करते थे कि देखो सूत्रों में यह बात (अपनी मान्यता) भगवान ने फरमाई है, इस पर भद्रिक जनता विश्वास

कर उन वाडावन्धी में बंध जाती थी। कारण उन अज्ञ लोगों में निर्णय-बुद्धि तो थी नहीं। जिसका अधिक परिचय था, उनके अनुयायी बन जाते थे। कहा भी है कि दुनिया झुकती है पर झुकाने वाला होना चाहिए।

वि० स० १९३२ में सब से पहिले मुर्शिदाबाद-निवासी बाबू धनपतसिंहजी की द्रव्य सहायता से जैनागम मूल टीका और टब्बा सहित छपवाये गये, जिसका संशोधन लौंकागच्छीय आचार्य अमृतचन्द्र सूरि के विद्वान शिष्य रामचन्द्र गणि तथा आपके शिष्य नानचन्दजी ने बड़ी सावधानी से किया था और वे आगम प्रायः जैनश्वेताम्बर समाज में सर्वत्र माननीय बन गये। पर लौंकाशाह के अनुयायी होने का दम भरने वाले कितनेक स्थानक-वासी भाइयों को उन लौंकागच्छीय विद्वानों के संशोधित आगमों से सन्तोष नही हुआ। शायद् इसका कारण यह हो कि उन आगमो में मूर्तिपूजा विषयक मूलपाठ और उनका अर्थ ज्यों का त्यों है, इन्हीं कारणों को लेकर पसन्द नही हुए हो। इसी कारण स्थानकवासी साधु अमोलखर्षिजी ने दक्षिण हैदराबाद मे स्थित रह कर सूत्रो का हिन्दी अनुवाद करना प्रारम्भ किया, पर जब इस बात का पता स्थान० समाज को लगा तो सामयिक पत्रो मे इस आशय के नोटिस जाहिर हुए कि जैनागमो का हिन्दी अनुवाद किया जाय तो उसके लिए अच्छे संस्कृत के विद्वान पण्डितों और टीकाओ की सहायता अवश्य लेनी चाहिए कि वे कम से कम स्थानकवासी समाज मे तो सर्वमान्य हो ही जाँय। कारण स्वामीजी की योग्यता से स्थानकवासी समाज भली भांति परिचित था, क्योंकि इसके पूर्व स्वामीजी की ओर से अन्य विषय पर

कई पुस्तकें मुद्रित हो चुकी थीं, उनमें आपकी योग्यता का दर्शन भली-भाँति होचुका था इसलिए ही ऐसी नोटिसें निकालनी पड़ी थीं। इस हालत में आपके किये हुए हिन्दी अनुवाद जो छप चुके थे उनको रद्दी खाते में (पुड़ियां बांधने में) छोड़ देना पडा। बाद कई सस्ते भाडे के पण्डित तनख्वाह से रख कर वि० सं० १९७७ में अनुवाद का काम प्रारम्भ हुआ और उसी रूप में जैनागमों का हिन्दी अनुवाद छपवाया गया कि जिसकी सम्भावना पहिले से ही लोगों ने कर रखी थी। आपने अपनी पाण्डित्यता की प्रसिद्धि के लिए केवल टाइटल पेज पर हो नहीं पर प्रत्येक सूत्र के प्रत्येक पन्ने पर अपना नामाङ्कित करवाया, जिसमे वर्तमान और भविष्य में लोग यह समझें कि इन सूत्रों का हिन्दी अनुवाद करने वाला कोई बडा भारी विद्वान होगा? ऐसी आत्मश्लाघा पूर्व जमाने मे न तो श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणजी ने की थी और न कलीकाल सर्वज्ञ भगवान हेमचन्द्र सूरि ने की थी कि जिनके अध्यक्षत्व में लाखों करोड़ों श्लोक केवल लिखे गये थे ही नहीं पर उन्होंने अनेक विषयों पर अनेक ग्रन्थों की रचना भी की थी।

जब कोई विद्वान उन हिन्दी अनुवाद को हाथ में लेकर पढ़ता है तो दो चार पेज पढ़ कर शिर धुणाके उनको एक ताक पर रख छोडना ही पड़ता है, क्योंकि न तो उसमे मूल पाठो का सिलसिलेवार हाल मिलता है, न ठीक अर्थ मिलता है, न शब्द ही शुद्ध हैं, और न भाषा ही शुद्ध है। भला जिसको ह्रस्व-दीर्घ का भी भान न हो, वह जैनागम के गम्भीर भावों को कैसे समझ सकें पर स्वामीजी को इन बातो से सम्बन्ध ही क्या? वे तो येन केन प्रकारेण मूर्तिपूजा के पीछे पड़े हुए हैं। जहाँ जहाँ मूर्तिपूजा का

पाठ या अर्थ देखा बस उनको ही रद्दो बदल कर देने में ही अपना पाण्डित्य समझ रखा है पर मूर्त्तिपूजा विषय तो इतना विशाल और सर्वव्यापक है कि वो किसी प्रकार से छिपाया हुआ छिप नहीं सकता है जैसे उल्लू के आँखें मूँद लेने पर सूर्य का प्रकाश छिप नहीं सकता है।

स्वामीजी के ३२ सूत्रों का अनुवाद पढ़ने से पाठकों को भली भाँति रोशन हो जायगा कि स्वामीजी की सूत्रों का अनुवाद करने की कैसी योग्यता है। भाग्यवशात् जैसी आपकी योग्यता थी वैसे ही आपको सस्ते भाव के पण्डित भी मिले। दूसरों के लिये तो क्या, पर वे अनुवादित सूत्र खासकर स्थानकवासी समाज में भी सर्वमान्य नहीं हुए हैं और कई लोग तो आज भी उनका सख्त विरोध करते हैं। इतना ही नहीं पर उन अनुवादित सूत्रों को अप्रमाणित भी घोषित कर दिया है जैसे कि स्वामि मणि-लालजी लिखित "जैनधर्म का संक्षिप्त प्राचीन इतिहास" नामक पुस्तक को अखिल स्थानकवासी कान्फरेन्स की जनरल मीटिंग ने ता०१०-५-३६ को अहमदाबाद में अप्रमाणित जाहिर करदी थी अतएव आपकी इस अनाधिकारी बाल चेष्टा की सभ्यसमाज में सिवाय हाँसी के शेष कुछ भी कीमत नहीं है।

हाँ, आपके अनुवाद में मूर्त्तिपूजा विषयक पाठों का अर्थ रद्दोबदल होने के कारण जब कभी मूर्त्तिपूजा विषयक चर्चा का काम पड़ता है तब कई अज्ञ लोग आप के हिन्दी अनुवाद के पन्ने अवश्य टटोलते हैं।

जैनागमों में शाश्वति जिन प्रतिमाएँ हैं। उनको मूल सूत्र

कार तथा टीकाकारों ने तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ बतलाई हैं। और इन्द्रादि सम्यग्दृष्टि तीन ज्ञान संयुक्त और महाविवेकी देवताओंने सत्रह प्रकार से पूजा कर नमोत्थुणं के पाठ से स्तवना की हैं उन्हीं इंद्रादि देवों ने भगवान् से प्रश्न किये कि हम आराधी हैं या विराधी ? उत्तर में तीर्थंकरों ने आराधी होना बतलाया है। इससे सिद्ध है कि शाश्वति जिन प्रतिमाएँ तीर्थंकरों की हैं। पर स्वामीजी ने अपने हिन्दी अनुवाद में उन जिनप्रतिमाओं को अन्यदेव अर्थात् कामदेव की प्रतिमाएँ बतलाई हैं यह आप की अल्पज्ञता और मत्ताग्रहत्व ही है क्योंकि आप के ही अन्योन्य सूत्र पाठ और अनुवाद से यह प्रत्यक्ष पाया जाता है कि वे जिनप्रतिमाएँ तीर्थंकरो की ही हैं। टीकाकारों का तो स्पष्ट मत है कि वे जिनप्रतिमाएँ तीर्थंकरो की हैं पर हमारे स्थानकवासी भाई उन टीकादिको मूर्त्तिपूजक आचार्यों की कह कर उसको अप्रमाणिक कह देते हैं इसलिये मैं आज खासकर लौंकागच्छीय विद्वानो के टब्वा अर्थ और साथ मे स्वामीजी का हिन्दी अनुवाद लिख कर बतलाऊंगा कि इन दोनों अनुवाद से ही वे शाश्वति जिनप्रतिमाएँ तीर्थंकरों की हैं ऐसा सिद्ध होता है।

---

१ देखो इसी ग्रन्थ का दूसरा प्रकरण जिसमें वीरात् १७० वर्ष में आचार्य भद्रबाहु हुए उन्होंने निर्युक्ति की रचना की। वि० स० २१४ में आचार्य गन्धहस्ती ने टीकाएँ रची। वि० सं० ९३३ में आचार्य शीलाग सूरि ने, वि० स० ११२० में आचार्य अभयदेव सूरिने टीकाए बनाई और वि० सं० १५६० में श्रीपार्श्वचन्द्रसूरि ने गुजराती भाषामें टब्वा बनाया वहाँ तक जो मूलसूत्र और पांचागी मानने में किसी का भी मतभेद नहीं था।

जब सूत्रों में इस प्रकार के उल्लेख हैं तब वे लोग आँखें मुँह अन्धेरा क्यों करते हैं और वे लोग इस विषय में क्या युक्ति बतलाते हैं ? वे सब से पहिले श्री स्थानायांगजीसूत्र का सहारा लेकर भद्रिक जनता के सामने एक सूत्र का पाठ रखते हैं वह निम्नलिखित है ।

"तओ जिणा पं० त० ओहिनाणजिणे, मणपज्जवनाणजिणे, केवलनाणजिणे ।

स्थाना० पृष्ट २६०

इस पाठ में अवधिज्ञानी जिन को देख हमारे भाई कह देते हैं कि वे जिनप्रतिमाएँ अवधिजिनकी हैं। परन्तु वे सज्जन थोड़ा सा कष्ट उठाकर इस पाठ के आगे का पाठ देखते तो मालुम हो जाता कि अवधिजिन (कामदेव) इस आसन एवं मुद्रा में कभी बैठे थे कि शाश्वति जिनप्रतिमाओं को कामदेव की प्रतिमा कहने का दु साहस किया जाय। अब आगे का पाठ देखिये ।

"तओ अरहा प० त० ओहि नाणअरहा, मणपज्जवनाणअरहा, केवलनाणअरहा ।

स्था० पृष्ट २६०

जैसे तीनप्रकार के जिन कहा है वैसे ही तीनप्रकार के अरिहन्त भी बतलाये हैं। इसका मतलब यह है कि अरिहन्त माता की कुक्ष में आते हैं तब अवधिज्ञान पूर्वभवसे साथ में लाते है इसलिये गर्भ में अवतार लेने के समय से जब तक वे दीक्षा न ले वहाँ तक अवधिजिन एवं अवधि अरिहन्त कहलाते हैं और दीक्षा

लेने के समय उनको मनःपर्यय ज्ञान होता है इसलिए दीक्षा के प्रारंभकाल से जहाँ तक केवलज्ञान न हो वहाँ तक वे मनःपर्यव जिन और मनःपर्यव अरिहन्त कहलाते हैं और केवलज्ञानोत्पन्न होने से वे केवली जिन व अरिहन्त कहलाते हैं। पाठक स्वतः समझ सकते हैं कि अवधि, मनःपर्यव, केवल, यह तीनो विशेषण उन्हीं जिन एवं अरिहन्तो के लिये है कि जिनको हम तीर्थंकर कहते हैं और शाश्वति मूर्त्तियों भी तीर्थंकरों की ही है और सम्यग्दृष्टि इन्द्रादि उन जिनप्रतिमाओं को तीर्थंकरो की मूर्तियां समझ कर ही सत्रहभेदी पूजा और नमोत्थुणं के पाठ से स्तवना करते हैं। पाठको को और भी अधिक विश्वास के लिये हम वि० सं० ११२० में आचार्य श्री अभयदेव सूरिकृत टीका को भी उद्धृत कर देते हैं।

"तओ जिणे, इत्यादि सुगमा नवर रागद्वेष मोहान् जयन्तीति जिनाः सर्वज्ञाः" उक्तच "रागद्वेषस्तथा मोहो जितोयेन जिनोह्यसौ। अस्त्रो-शस्त्रो क्षमालत्वादर्हन्नेवानुमीयत इति ॥ १ ॥ तथा जिना इव ये वर्तन्ते निश्चय प्रत्यक्ष ज्ञान तया तेपि जिनास्त त्रावाधि प्रधानो जिनोवाधिज्ञान जिन एव मितरावपि नवर माद्यानुपचरिता वितरो निरुपचार उपचार कारणन्तु प्रत्यक्ष ज्ञानीत्वमिति केवलमेकमनंत पूर्णवाज्ञानादि येषामास्ति त केवालिन उक्तच "कसिणं केवलकप्पं लोग जाणंति तहय पांसति। केवल चरित नाणी तम्हा ते केवली होंति ॥ २ ॥ इहापि जिनवद् व्याख्या अर्हंति देवादि कृता पूजा मित्यर्हत्

अथवा नास्ति रहः पूच्छन्नं किंचिदपियपा पूत्यद्त ज्ञानीत्व ते अर्हन्तः ॥

स्थानीयाग सूत्र पृष्ट १६१ मुर्शिदावाद वाला

लौंकागच्छीय विद्वान् संशोधित टब्बा में भी यही लिखा है जैसे कि—तीन प्रकारे जिन कहिया। अवधिनाणजिन, अवधि-नाए सहित, मनःपर्यवनाण च्यारनाण सहित जे जिन, केवल नाण जिन, पांच नाण सहित ते जिन। X X X तीन अरिहंत कहिया ते कहैछे। अवधि नाणी अरिहन्त, मनःपर्यवनाणी अरिहत, केवलनाणीअरिहन्त ॥

स्थानीयांग सूत्र पृष्ठ १९२ मु० वाला

स्था० साधु अमोलखर्षिजीका हिन्दी अनुवाद।

"तीन प्रकरकोजिनकहे हैं अवधिज्ञानीजिन, मनः-पर्यवज्ञानीजिन, केवल ज्ञानी जिन, X X X तीन अरिहन्त—अवधि ज्ञानी अरिहन्त, मनःपर्यव ज्ञानी अरिहन्त, केवलज्ञानीअरिहन्त ॥

स्थानायांग सूत्र पृष्ट २६१

न तो मूलसूत्र मे कामदेवादि देवों को अवधिजिन कहा है न टीकामें न लौंकागच्छीय विद्वान् संशोधित टब्बा में और न ऋषिजी के हिन्दी अनुवाद में कामदेवादि देवों को अवधि जिन कहा है परन्तु उपरोक्त मूलसूत्र, टीकाटब्बा और हिन्दी अनु-वाद में तो तीर्थकरों को ही अवधि जिन और अवधिअरिहन्त कहा है और वास्तव में ऐसा ही है इन पुष्ट प्रमाणों द्वारा यह प्रमाणित हो जाता है कि देवलोकादि में जो शाश्वति जिनप्रतिमा

हैं वे सब तीर्थंकरों की है कामदेव की प्रतिमा बतलाने वाले जैनागमों से बिलकुल अनभिज्ञ हैं और इस प्रकार उत्सूत्र की प्ररूपणा कर वज्रपाप के अधिकारी बनते हैं। इतना ही क्यों पर इस मिथ्या प्ररूपणा के अन्दर शामिल होनेवाले भी इस वज्रपाप से कदापि नहीं बच सकते हैं आगे और देखिये:—

' तेसिणं मणिपेढ़ियाए उवरिं एत्थेणंमहेगे देवछंदाए सोलस जोयणाइं आयामाविक्खमेणं साइरेगाइ सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चतेणं सव्व रयणा मइ जाव-पडिरुवे।''

इस पर टीकाकारो ने विस्तार पूर्वक टीका की है पर हमारे स्थानकमार्गी भाइयों का अधिक विश्वास टब्बा पर होने से मैं यहां पर लौंकागच्छीय विद्वानो द्वारा संशोधित तथा स्वामी अमोलखर्षिजी कृत हिन्दीअनुवाद को तुलनात्मकदृष्टि से बतला कर पाठकों के सामने यह निर्णय रख देता हूँ कि लौंकाशाह के अनुयायी होने का दम भरनेवाले स्थानकवासी लोग लौंकागच्छियों की मान्यता से किस प्रकार पृथक् पथ पर जा रहे हैं।

लौंकागच्छीय विद्वानो द्वारा संशोधित टब्बा	स्था० साधु अमोलखर्षिजी कृत हिन्दी अनुवाद
ते मणि पीठिकानइं उपरितिहाँ मोटउ एकदेवछंदउ छई तेही सोलइ योजन लंबेपणइ पहूल पणई, काहेक झाझेरो सोलइ योजन ऊंचोउ उचपणे, सर्व रत्नो मइं छाइं, यावत् प्रतिरूप वालो छे।	उस मणिपीठिका के ऊपर यहाँ एकबडादेवछंदा सोलह योजन का लम्बा चौडा कुछ अधिक सोलह योजन का ऊँचा सर्व रत्नमय यावत् प्रतिरूप है।
श्रीराजप्रश्नी सूत्र पृष्ठ १६४।	श्रीराज प्रश्नी सूत्र १२८।

आगे उस देवछंदा में जिनप्रतिमा का उल्लेख इस प्रकार हैं

"एत्थेण अट्ठसयं जिणपडिमाणं जिणुस्सहेप्पमाण मेत्ताणं सपिणक्खित्तं चिट्ठंति।"

लोकागच्छीय वि० सं० टब्बार्थ	स्था० साधु अमोलखर्षिजी कृ.हि.
ते देवछन्दा माहि एक सौ आठ जिन प्रतिमा जिन जितनी ऊच पणइं गात्रइ ते प्रतिमा जघन्य सात हस्तनी उत्कृष्टि पाचसइ धनुष्य प्रमाणइ स्थापि थकी रहछेई।	उसपर एकसौआठ जिनकी प्रतिमा है जिनके जितनी ऊंची। पर्यांकासन मे वेठी हुई वहां रही हैं
श्री राज० पृष्ट १६४	श्री राज० प्र० पृष्ट० १३८

स्वामीजी बतला सकेंगे कि किसी देवता एवं कामदेव के पांचसौ धनुष्य का शरीर था या वे कभी पद्मासन ध्यानलगाकरके भी बैठते थे? परन्तु वे तो थीं जिन प्रतिमाएँ जो भगवान् ऋषभ देव की जिनका पांचसौ धनुष्यका शरीर और महावीरप्रभु की सात हाथकी अवगाहना है यहकेवल इन तीर्थंकरोके लिये ही नहीं है परन्तु प्रत्येक चौबीसी में पहिले और छैले तीर्थंकरो का शरीर इसी प्रमाण वाला होता है और इस प्रकार की ध्यानमुद्रा एवं पद्मासन तीर्थंकरो की मूर्तियों मे ही होता है।

आगे शाश्वति मूर्तियों के नाम क्या हैं इसको मूलपाठ से बतलायेंगे। जो स्तूप के चारों ओर मणिपीठिका पर बिराजमान हैं।

"तासिणं मणिपेढियाणं उवरिं चतारि जिणपडिमाओ जिणुस्सेहपमाणमेताओ संपलियंकणिसण्णाओ थूभाभि

मुहता सरिणखिताश्रो चिट्ठंति तं, जहा, उसभा, वद्धमाणा, चदाणणा, वारिसेण, ।"

लौंका० वि० सं० टब्बार्थ

ते मणिपिट्ठि का ऊपरइ च्यार जिनप्रतिमाछइ तेइ जिनप्रतिमा तीर्थंकर ने ऊचपणाइ प्रमाणछाइ जघन्य सात हाथ उत्कृष्ट पांचसइ धनुष्य प्रमाणछइ पद्मासनथुभ नेइ सहामॅमुहड़ो करी बेडीछइ ते केहनी छई उ० ऋषभ, वर्द्धमान, चन्द्रानन, वारिसेण, एणइ नामइ प्रतिमाछई।

श्रीराज० प्र० पृष्ट १४४

स्था० अमोलखर्षिजी कृत० हिं० अनु०

उस मणिपीठिका के ऊपर चार जिनप्रतिमा जिन के जितनी ऊँची प्रमाणोपेत पर्थांकासनयुक्त स्थुभिका के सन्मुख बैठी है उन चारों के नाम ऋषभ, वर्द्धमान, चन्द्रानन, और वारिसेण है।

श्रीराज० प्र० सूत्र पृष्ट १२८

पांचभरत क्षेत्र, पांचऐरावत क्षेत्र, एवं दशक्षेत्रमे प्रत्येक अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी काल मे चौबीस २ तीर्थंकर होते है। उसमें ऋषभ वर्द्धमान चन्द्रानन और वरिसेण ये चार नामवाले तीर्थंकर अवश्य होते हैं। वर्तमान चौबीसी भरतक्षेत्र मे प्रथम ऋषभदेव चरम वर्द्धमान, ऐरावत क्षेत्रमें प्रथम चन्द्रानन, और अन्तिमवारिसेण, तीर्थंकर हुए और भूत एवं भविष्यकाल में इन चार नाम के तीर्थंकर हुए थे और होंगे इसी कारण शाश्वति जिनप्रतिमाएँ के ये चार नाम शाश्वत हैं। और मूलसूत्र मे ये चार प्रतिमाओं स्तूप के सन्मुख मुँह कर पद्मासन विराजमान हैं। क्या शाश्वति जिनप्रतिमाओ को कामदेव या अन्य देवताओं की मूर्तियो बतलाने

वाले सज्जन किसी कोश में उनके पूर्वोक्त चार नाम या सात हाथ से पांचसौधनुष्य का शरीर तथा पद्मासन आदि बतलाने का साहस कर सकेंगे ?

अब आगे चलकर हम शाश्वति मूर्तियों के शरीर का वर्णन विषय-सूत्र-अर्थ का उल्लेख करेंगे जिससे पाठक भली-भाँति समझ जायेंगे कि निश्चयात्मक यह शाश्वतिमूर्तियाँ तीर्थकरो की ही है।

"तासिणं जिनपडिमाणं इमेयारूवे वण्णवासे पण्णते। तं जहा-तवणिज्जमया हत्थतला पायतला, अकमयाइंणक्खाइं, अंतो लोहियक्खपडिसगयाइं, कणगमइओजघाओ, कणगमयजाणू, कणगमयऊरू, कणगमयइउगायलट्ठीउ, तवणिज्जमयाओ णाभिओ, रिट्ठामइओरोमराइओ, तवणिज्ज मयाचच्चूया, तवणिज्जमयसिरिवत्था, सिलप्पवालमयउठ्ठा, फालियामयदता, तवणिज्जमयजिहाओ, तवणिज्जमयतालुया, कणगमइओ णासिगाओ, अतोलोहिक्ख पाडिसेगाओ, अकमयणिअच्छणि, अतोलोहियक्ख पडिसेगाओ, रिट्ठाभइओ ताराओ, रिट्ठामयाणिअच्छिपत्ताणि, रिट्ठामइओ भमुहाओ कणगमयासवणा, कणगमइओ णिलाड पट्टियाओ, वइरामइओ सीसघडीओ, तवणिज्जमइओ केसंतकेसभूमिओ, रिट्ठामया उवरिंमुद्धया"।

ऋपिजी का हिन्दी अनुवाद—उन प्रतिमाओं का इस प्रकार वर्णन करते हैं यथा—तपाये सुवर्णमय हाथपावके तले हैं अंकरत्नमय श्वेतनखहै, नखके अन्दरकाभाग लोहिताक्ष

रत्नमय है, सुवर्णमय उरु—पिंडी है, कनकमय घुटने, कनकमय साथल, कनकमय गात्र-लष्टिका, तपाया सुवर्णमय नाभि, रिष्ट रत्नोमय रोमराजी, तपाया सुवर्णमय चचू, तपाया सुवर्णमय श्री वत्स-हृदयपर चिन्ह, प्रवालमय होट, स्फटिकमयदान्त, तपाया सुवर्णमय जिव्हा, तपाया सुवर्णमय तालुवा, कनकमयनासिका, नासिका के अन्दर की भूमि लोहिताक्षरत्नमय है, अंकरत्नमय आँखों के कोने हैं लोहिताक्षरत्नमय आँखोकी रेखा, रिष्ट रत्नमय आँखोंकी कीकी, रिष्टरत्नमय आँखोंके भोपन, रिष्टरत्नमय समुह, कनकमय श्रवणा, कनकमय निलाड पट्टक, वज्ररत्नमय मस्तक रक्त सुवर्णमय केसों की भूमि, रिष्ट रत्नमय शिर के वाल।

श्री राज० प्र०सूत्र० पृष्ट १३८–१४०

उपरोक्त मूर्तियों के शरीर वर्णन में तीर्थकरा के शरीर सदृश ऊंचाई, तीर्थकरो के समान पद्मासन, तीर्थकरों के ही नाम और तीर्थकरो के उच्चादर्श लक्षण ही हैं अतः वे मूर्त्तियो तीर्थकरो की ही हैं परन्तु पक्षपात कैसा जवर्दस्त होता है कि मूलसूत्रों का स्वयं उपरोक्त अर्थ करते हुए भी ऋषिजी ने अपनी मनमानी नोट लगायी है कि यह शाश्वति जिनप्रतिमा तीर्थकरों की प्रतिमा नहीं किन्तु कामदेव की प्रतिमाऐं है यदि ऋषिजी कुछ देर के लिये पक्षपात के चश्मो को उतार कर सच्चे हृदय से विचार करें कि—

(१) कामदेव अनंग (शरीर रहित) होता है तब जिन प्रतिमा का पैरो से शिर तक का वर्णन सूत्रकारों ने बड़ी खूबी से किया है जो मूलसूत्र और ऋषिजी का हिंदी अनुवाद हम ऊपर लिख आये हैं इस पर ध्यान देकर विचारें कि क्या ऐसी ध्यानमय मूर्तियां कामदेव की हो सकती हैं ?

(२) कामदेव का नाम लेने मात्र से काम विकार पैदा होता है तब तीर्थङ्करों की मूर्त्तियों का दर्शन करते ही काम विकार दूर भागता है और शान्ति वैराग्य तथा आत्म विकाश होता है।

(३) कामदेव की मूर्त्ति के पास कामी नर जाते हैं और काम विकार की ही प्रार्थना करते हैं तब जिनप्रतिमा का उपासना तीन ज्ञान संयुक्त सम्यग्दृष्टि चरमशरीरी महाविवेकी इन्द्रादि देव करत हैं और प्रार्थना करते हैं कि तिन्नाणं तारयाणं, बुद्धाणं बोहियाणं, मुत्ताणं मोयगाणं, इत्यादि जन्म मरण मिटाने को और मोक्ष की प्रार्थना करते हैं।

(४) कामदेव के शरीर ही नहीं होता है जब जिनप्रतिमा के शरीर का मान तीर्थंकरों के शरीर सदृश जघन्य सातहाथ और उत्कृष्ट पाँचसौ धनुष्य का बताया है उन प्रतिमाओं को सिवाय प्रतिमा द्वेषियों के कौन कामदेव को कह सकता है ?

(५) जिस स्थान में जिन प्रतिमा विराजमान हैं उस स्थान का नाम शास्त्रकारों ने "सिद्धायतन" कहा है और ये हैं भी यथार्थ क्योंकि वे मूर्त्तियों सिद्धों की हैं और जिस नमोत्थुणं द्वारा आज हम सिद्धों की आराधना कर रहे हैं उसी नमोत्थुणं द्वारा इन्द्रादि उन मूर्त्तियों की पूजा कर सिद्ध पद की आराधना कर रहे हैं अतएव शाश्वति जिनप्रतिमा तीर्थंकरों की एवं सिद्धों की होने में किसी प्रकार का सदेह नहीं हो सकता है।

सम्यग्दृष्टि देवताओं की उन पूज्य तीर्थंकर देवों प्रति कैसी भक्ति हैं तीर्थंकरों की मूर्त्तिया तो क्या पर उनके शरीर का यत्किंचित् अवयव हाथ लगता है उसको भी वे पूज्य दृष्टि से

पूज कर अपना कल्याण समझते हैं इस विषय में शास्त्रकार क्या फरमाते हैं उसको भी सुन लीजिये—

"तेसुणं वयरामएसु गोलवट्ट समुगोसु वहवे जिणस्स कहाओ सणिणक्खिताओ साचिट्ठति ताओण सुरियभस्स देवस्य अन्नेसिं च वहुणं देवाणय देवीणय अच्चणिज्जाओ जाव-पज्जुवासणिज्जाओ"

लौंका० विद्वानों का टब्बा	तथा, साधु अमोल, हिन्दी अनु
ते वज्रमय गोल वाटली डावडा विषई घणा तीर्थंकरोंनी दाडो थापी थकी रह छई नेते दाडो सुरियाभ देव नई तथा अनेरा पण घणा देवो नई देवी नई वदनादिक ई, अर्चन करवा योग्य छई पुष्पादि कई पूजवाई योग्य छई वादवा योग्य छइ ।	उन वज्रमय गोलडवों में बहुत जिनकी दाडो स्थाप रखी हैं वे दाडो सूरियाभ देव के और भी बहुत से देव देवियों के अर्चन या बन्दन पर्युपासनीय हैं,
श्री० राज० प्र० सू० पृष्ठ १६०	श्री राज० प्र० सू० पृष्ठ १६०

इसी प्रकार श्रीभगवती सूत्र, दशवाँ शतक पांचवाँ उद्देशा में पूर्वोक्त दाडो की आसातना टालने का अधिकार भी है इससे भी देवता तीर्थकरों की दाडी को पूज्य दृष्टि से देखते हैं आगे जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र में भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण होने क पश्चात् आपके शरीर का अग्नि संस्कार के समय, देवता तीर्थंकर ऋषभदेव की दाडो किस भक्ति भाव से ले जाते हैं वे स्वयं सूत्रकार यों फरमाते हैं ।

"कइ जिणभत्तीए कइ जीअ, मेयं कइ धम्मात्ति कट्टुगेएहंति"

लोंका० वि० सं० टब्बा	स्था. अमोल. हिन्दी अनु.
कई जिनवर नी भक्ति ने लीधे कई पोता ना जीत आचार ने लीधे अने कई धर्म जाणि ने जिन दाडो लावे छे।	कितनेक देव तीर्थंकरों की भक्ति के वस से कितनेक अपना जीताचार समझ के और कितनेक धर्म जानकर (दडो) ग्रहन किया!
'जम्बु० प० पृष्ठ	'जम्बुद्वि० प० पृष्ठ १००

हमारे ऋषिजी जैसे जिनप्रतिमा को कामदेव की प्रतिमा कहने वाले इन तीर्थंकरों की दाडों को भी कहीं कामदेव की दाडों कहने का दु.साहस नहीं कर डालेंगे? पर आश्चर्य तो इस बात का है कि इस सत्यता के युग मे भी इस समाज में कितनी अन्ध परम्परा चल रही है कि ऋषिजी अपने हाथो से लिखते हैं कि देवता तीर्थंकरो की दाड़ो भक्ति आचार और धर्म समझ कर ग्रहण करते हैं फिर अपना ही लिखा-मानने मे कैसा हटवाद करते हैं।

समझदारो को सोचना चाहिये कि तीर्थंकरो के शरीर के अंगोपांग की अस्थि प्रति उन देवताओ की इतनी भक्ति और पूज्य भाव है वे कामदेव जैसे भव वृद्धक को देव समझ शिर झुकावे एव नमोत्थुणं कहकर वन्दन करेंगे? नहीं! कदापि नहीं!! हरगिज नहीं!!! वे तीर्थंकरो के परम भक्त, तीन ज्ञान सयुक्त, सम्यग्दृष्टि महाविवेकी इन्द्रादि तीर्थंकरो को अपने उपासनीय देव समझ उनकी मूर्त्ति या दाड़ो को ही वन्दन पूजन करते हैं। देवताओं

को कामदेव की प्रतिमा पूजने का कहने वाले जरा भगवान् महा-वीर के वचनों को ध्यान पूर्वक पढ़ें या सुने कि वे देवताओं के जीताचार को किस कोटी में बतलाते हैं।

"अहं भंते। सुरियाभेदेवे, देवाणुप्पियं वदामि जाव पज्जुवासामि? सुरियाभाइं। समणं भगवं महावीर सुरियाभ देवं एव वयासी पुराणमेय सुरियाभा। जीय मेय सुरियाभा। किच्चमेय सुरियाभा। करणिज्जमेयं सुरियाभा। अभणमय सुरियाभा! अब्भणणमाय मयं सुरियाभा। अरण भवणवासी वाणमंतर जोइस वेमाणिया देवा अरिहन्ते भगवते वदंति णमंसति, ततो पच्छा साइं २ नाम गोयाइं साहेति तं पोराण मेयं सुरियाभा। जाव अब्भणणाणयमेयं सुरियाभा।

भावार्थ—भगवान् महावीर सुरियाभदेव प्रति स्पष्ट शब्दों मे कह रहे हैं कि हे सुरियाभ! तीर्थङ्करो को वन्दन भक्ति करने का तुम्हारा पुराणा आचार है, जीताचार हैं. तुम्हारे पूर्वज देवो ने किया है, तुमको करने योग्य हैं, पिछले तीर्थङ्करों ने देवताओं को आज्ञा दी और मैं भी तुमको आज्ञा देता हूँ। अब सोचना चाहिये कि भगवान् महावीर के ऐसे परमभक्त तीर्थङ्करो के अलावा कामदेव जैसों की वन्दन पूजन करें नमोत्थुणं देवे? क्या यह बात हमारे ऋषिजी एव स्थानकमार्गी भाइयों की अन्तरात्मा मंजूर कर लेगा? कदापि नहीं! हर्गिज नहीं!! स्वप्न मे भी नहीं!!!

आगे चल कर हम सुरियाभदेव के की हुई जिन प्रतिमा की विस्तृत पूजा का पाठ और ऋषिजी के हिन्दी अनुवाद को ज्यों

-का त्यों लिखकर पाठकों को परमेश्वर की पूजा की ओर आक-र्षित करेंगे कि सम्यग्दृष्टि जीव आत्म कल्याण के हेतु जिन प्रतिमा को जिनवर समझ कर किस भक्ति भाव से पूजा करते हैं।

"तएणं ते सूरियाभंदेवं चत्तारिसोमाणियसाहस्सीओ, जाव सोलसआयरक्ख देवसाहस्सीओ, अरणेय बहवे सूरियाभ जाव देवीउय, अप्पेगइया उप्पलहत्थगया जाव सयसाहस्सपतयहत्थ गया, सूरियाभदेवं पिठ्ठओ२ समणुगच्छंति। ततेणं सूरियाभंदेवं बहवेअभिओगियदेवायदेवीओय, अप्पेगइयाकलसहत्थगया, जाव अप्पेगइया धूवकडुच्छुयंहत्थगया, हठ्ठतुट्ठा जाव सूरियाभं-देवं पिठ्ठओ समणुगच्छति।१५। ततेणसे सुरियाभेदेवे, चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं जाव अन्ने हिय बहुहि सुरियाभविमाण-वासिहिं देवेहिं देवीहिय सिद्धि संपरिवुडे, सव्विढ्ढिए, जाव वाति-यरवेणं, जेणेव सिद्धायणेतेणेवउवागच्छई २त्ता सिद्धायणपुरित्थि मिल्लेदारेणं अणुपाविसति, जेणेवदेवछेदए जेणेवजिणपडिमाओं तेणेवउवागच्छई, जिणपडिमाणं आलोएपणाम करेति २ ता, लोमहत्थगंगिएहई, जिण पडिमाणं, लोमहत्थएणंपमज्जई २ त्ता, जिणपडिमाओ सुरभिणगंधोदएणएहाणेति २ ता, सरसेण गोसीसचंदणेणगायाणअणुलिंपइ, जिणपडिमाणंअहियाइ देव दुसाईजुयलाईनियंसेइ, पुप्फारुहण, मल्लारुहण, गधारुहणं, वन्नारुहणं, चुन्नारुहणं, वत्थारुहण, आभरणारुहणं, करेता आसतासत विउलवट्ट वग्घारिय, मल्लदामकलावंकोरेई कयग्गह

गीरिहत्ता, करयल पब्भुट्टइ, विप्पमुक्केण, दिव्ववरणेणं, कुसु-मेणं, मुक्केपुप्फपुंजो वयारकलियकरेतिकरेता, जिणपडिमाणं-पुरत्तो, अत्थेहिं, सेणहिं, रययामएहिं, अच्छरसतंदुलेहिं, अट्ठट्ठ-मंगलए, आलिहइ तं जहा सोत्थियजावदप्पण ।१६। तयाणंतरं चणं, चंदप्पहरयणं, विमलदंडकंचण मणिरयण, भत्तिचित्तं, कालागुरुपवरकुदरुक्कतरुक्क धूव मधमघत गधूतमाणु चिट्ठति, धूमवट्टि विणि मुयतवेरूलियमय कडुछुय पग्गहियपत्तेण, 'धूयंदाऊणजिणपडिमाण,[1] अट्ठसयविसुद्ध गध जोतेहि अपुणरु-तेहिं महावित्तेहिं सथूणइ,सत्तट्ठपयाइ पच्चोसक्कइ २ ता, वामजाणु-अचइ दाहिणजाणुधरणितलंसि तिकट्टु, तिक्खुत्तो मुद्धाण-धरणितलसिनिवेडेति २ता पच्चुन्नमइ इसिं पच्चून्नमित्ता करयल परिग्गहियसिरसावत्तमत्थए अजलीं कट्टू एवं वयासी नमोत्थुण अरहन्ताणं, जाव सपत्ताण, वदति णमसई ।"

ऋ० अनुवाद—तब उस सुर्याभदेव के चार हजार सामानिक देवता यावन सोलह हजार आत्मरक्षक देवता और भी बहुत सूर्याभ विमानवासी देवता देवियो मे से कितनेकने हाथ में (यहां उत्पलादि फूलों का अर्थ करना ऋषिजी ने न जाने क्यो छोड़ दिया) कलस ग्रहण किये हुये यावत् कितनेक ने धूप के कूडछे ग्रहण किये हुवे हृष्ट तुष्टित हुये सुर्याभदेव के पीछे चले जा रहे हैं ।१५। तब वह सूर्याभदेव चारहजार सामानिक देवता यावत् अन्य भी बहुत सूर्याभ विमानवासी देवता देवियो सपरिवारा हुआ सर्वऋद्धि से युक्त यावत वादित्र के झणकार

1 यहा मूल पाठको ही बदल दिया है, देखो मूल सूत्र ॥

होते हुये जहाँ सिद्धायतन था तहाँ आया, आकर सिद्धायतन के पूर्व द्वार से प्रवेश किया जहाँ देव छन्दा में जिनप्रतिमा थी वहाँ आया जिनप्रतिमा को देखते ही प्रणाम नमन किया, प्रणाम कर मोर पींछी की पूँजनी हाथ मे ग्रहण की जिनप्रतिमा को मोर पींछी की पूँजनी से प्रमार्जी, प्रमार्जन कर जिनप्रतिमा को सुगन्धित पानी कर स्नान कराया, स्नान करवाकर गोशीर्ष चन्दन कर गात्र को अनुलिप्त किया, जिनप्रतिमा को महर्ध्य चढाया, देव दूष्य वस्त्र पहनाये* फूल चढ़ाये, माला पहनाई, सुगन्धी द्रव्य चढ़ाया, वर्णक चढाया, सुगन्धी चूर्ण चढ़ाया, ध्वजा चढाई, आभरण चढ़ाये, ऊपर चन्द्रवा बाँधा, नीचे भूमिका स्वच्छ की, फूल की माला पहनाई, जिस प्रकार स्त्री के सिर के बन्धे हुये बालों को पुरुष ग्रहन

* सूत्र में वस्त्र चढाना लिखा है पर ऋषिजी ने वस्त्र पहनाये लिख दिया है पर यह लिखते समय इतना ही विचार नहीं किया कि गोशीर्ष चन्दन का लेपन कर वस्त्र कैसे पहनाये ? ऐसा तो एक विवेक शून्य मनुष्य भी नहीं करते हैं तो वे महाविवेकी देव क्यों करेंगे। वास्तव में वस्त्र चढ़ाये अर्थात् अर्पण किये जैसे आज भी पूजा में वस्त्र अर्पण किया जाता है जिसको अंग लुहने कहते हैं।

ऋषिजी ने इस पाठ का अर्थ जिनप्रतिमा को वस्त्र पहनाकर फुट नोट में लिखा है कि तीर्थङ्कर वस्त्र नहीं रखते हैं इसलिए यह प्रतिमा तीर्थङ्करों की नहीं हैं पर आपके ही ब्रह्मचारीतीर्थङ्करों के मुँह पर मुहपत्ती बधाने के कल्पित चित्र बनाये हैं वे तो ऋषिजी की मान्यता मुआफिक बिलकुल मिथ्या ही ठेरते है न ? क्योंकि तीर्थङ्कर वस्त्र ही नहीं रखते थे तब वस्त्र के साथ डोरा कहाँ से आया पर यह मत न तीर्थङ्करों का है न तीर्थकरों की आज्ञा पालन करने वालों का है पर गुरुगम्य विहिन लोगों में जैसी जिसके दिल में आई वह ऐसी ही घसीट मारते हैं।

कर छोड़े, बन्धन मुक्त होने से वे बाल बिखरते हैं इस प्रकार वहाँ दिव्य देव के लाये पाँचो वर्ण के फूल स्थापन किये फूल का ढगला मनोहर किया, करके जिनप्रतिमा के आगे निर्मल रूपमय श्वेत घटारा मटारा चाँवल के आठ २ मंगल आलेखे, चित्र किये तद्यथा-स्वस्तिक यावत् दर्पण ।१६। तब फिर चन्दनप्रभ रत्नमय, वैडूर्य रत्नमय निर्मल हैं दड जिसका, सुवर्ण मणिरत्नों से विविध भाँति के चित्रो से चित्रा हुआ ऐसे धुपड़े में कृष्णागर प्रधान, कुन्दरूक सिल्हारस धूप मघमघायमान गन्धवाला धूप क्षेप कर वैडूर्यमय कुडछा को ग्रहण किया, सावधान पने धूप दिया जिन प्रतिमा को, और १०८ विशुद्धगाथा कर पुनरुक्त दोष रहित गाथा कर महत्त्ववाली गाथा कर स्तुति की, सात आठ पाँव पीच्छा सरका पीछा सरकाकर डावा ढींचन को खेंचकर खड़ा रक्खा दाहिना ढींचन धरनीतल मे स्थापन किया तीन वक्त मस्तक जमीन को लगाया नीचे लगाकर कुछ मस्तक ऊपर रखकर दोनो हाथ जोड़कर मस्तक पर आवर्तन कर मस्तक पर स्थापन कर यों बोला—नमस्कार हो अरिहन्त को यावत् मुक्ति प्राप्त होवे उनको यो वन्दन नमन किया।

श्री रायप्पसेनी सूत्र पृष्ट १६८ से १७२

इस पूजा मे सम्यग्दृष्टि देवता नमोत्थुणं अरिहन्ताणं यावत् संपत्ताणं कहा है और ऋषिजी भी इसका हिन्दी अनुवाद करते हुए कहते हैं कि—"नमस्कार हो अरिहतो को यावत् मुक्ति प्राप्त हुये उनको यो वन्दन नमस्कार किया" क्या हमारे ऋषिजी काम देव को अरिहंत यावत् मुक्ति प्राप्त हुये समझते हैं। अफसोस ! अफसोस !! और अफसोस !!! शायद् ऋषिजो हमेशा नमोत्थुणं देते हैं वह भी कामदेव को ही तो न देते हों ? क्योंकि सूर्याभ

का नमोत्थुणं और ऋषिजी के नमोत्थुणं में अन्तर नहीं पर दोनों का नमोत्थुणं एक ही है।

कई लोग भद्रिक जनता को यों बहका देते हैं कि—देवताओं ने केवल जिन प्रतिमा की ही नहीं पर दरवाजे तोरण पुतलियो वगैरह ३२ स्थानों की पूजा की हैं इसलिये देवताओ की पूजा मोक्षार्थ नहीं समझी जाती है ?

इसका उत्तर स्वयं ऋषिजी का हिन्दी अनुवाद ही दे रहा है कि मूल सिद्धायतन में १७ प्रकार से पूजा एवं नमोत्थुणं से भाव-पूजा कर देवताओ अपने आचार मुताबिक दरवाजा तोरण पुतलियों वगैरह के सामने जलधारा, पुष्प, और धूप उखेवन कर स्तूभ के पास जाते है वहा जिनप्रतिमा है उनकी पूजा सिद्धायतन की जिनप्रतिमा के माफिक करते है और ऋषिजी इस बात को मंजूर भी करते हैं देखिये—

"*जेणव पच्चत्थिमिल्ला, जिणपडिमाण, तेणेव, उवागच्छइ २ त्ता जिणपाडिमाण आलोहपमाणं करोति जहा जिण पाडिमाण तेहव नमसति*"

अनु० जहाँ पूर्व के स्तूप पर जिनप्रतिमा है तहाँ गये और जिनप्रतिमा को देख प्रणाम किया यावत् जिनप्रतिमा की पूजा यावत् नमस्कार किया इसी प्रकार यहाँ भी सब किया।

श्रीराजप्रश्नीसू

इस मूलसूत्र पाठ और अनुवाद से सिद्ध होता है कि शेष तोरणादि को जलधारा पुष्प और धूप दिया वह अपना आचार अर्थात् साफसूफ करने रूप शुद्धि और मंगलिक समझ के दिया पर

प्रणाम, पूजा, और नमोत्थूणं वहाँ नहीं दिये। परन्तु जहाँ स्तूप की मणिपीठिका पर जिनप्रतिमा है वहाँ प्रणाम पूजा और नमोत्थुणं दिया है, जैसे कि सिद्धायत में विधिपूर्वक किया था इससे सिद्ध होता है कि देवता जिनप्रतिमा की पूजा कल्याणार्थ ही करते हैं।

जिनप्रतिमा की द्रव्य भाव पूजाकर सूर्याभदेव, भगवान महावीरदेव को वन्दन करने को जाता है और वह अपने लिये प्रश्न पूछता है कि—

अहन्न भंते। सुरियाभे देवे कि भवसिद्धिएं किं अभव सिद्धिए? सम्मादिट्ठी मिच्छादिट्ठी? परितससारिए अणंत संसारिए? सुलभबोहिए, दुलभ बोहिए? आराहते, विराहते? चरमे, अचरमे? सूरियाभाए। समणे भगवं महावीरं सूरियाभे देव एवं वयासी-सूरियाभा? तुमेणं भवासीद्धिए णो अभवासिद्धिए जाव चरमे णो अचरमे॥

ऋषिजी का हिन्दी अनुवाद० अहो भगवान। मैं सूर्याभदेव क्या भव्य सिद्धि हूँ? कि अभव्य सिद्धि हूँ? सम्यक् दृष्टि हूँ कि मिथ्या दृष्टि हूँ? परत्त ससारी हूँ कि अनन्त संसारी हूँ? सुलभ बोधी हूँ कि दुर्लभ बोधी हूँ? आराधिक हूँ विराधिक हूँ? चरम हूँ कि अचरम हूँ? अर्थात् यह मेरा देव सम्बन्धी भव अन्तिम है कि और भी मुझे भव करना पड़ेगा? श्रमण भगवन्त श्री महावीर स्वामी सूर्याभदेव से यों बोले—सुर्याभ। तू भव्यसिद्धिक हैं परन्तु अभव्यसिद्धिक नहीं है तूँ सम्यग्दृष्टि है परन्तु मिथ्या दृष्टि नहीं हैं, तूँ परत (अल्प) संसारी है परन्तु अनंत संसारी नहीं है तूँ सुलभ बोधी (सहज समझने वाला) है परन्तु दुर्लभ बोधी

नहीं है तू आराधिक जिनाज्ञा पालक है परन्तु विराधिक नहीं है तूँ चरम है यह देव सम्बन्धी अन्तिम भव है परन्तु अचरम नहीं है ।

श्री रायप्पसेणीसूत्र पृष्ट ५६

सम्यग्दृष्टि जीव कामदेव को कामदेव समझ कर पूजा करे तो भी उसको मिथ्यात्वी कहा जाता है तब तीन ज्ञानयुक्त महाविवेकी, भगवान् के पूर्ण भक्त, सम्यग्दृष्टि देवता कामदेव की मूर्त्ति को वन्दन नमस्कार कर सत्रहभेदी, पूजा करे एवं नमोत्थुणं के पाठ से कहे "तिन्नाणं तारयाणं, बुद्धाणं बोहगयाणं, मुत्ताण मोयगयाणं" इत्यादि प्रार्थना करे और भगवान उनको सम्यग्दृष्टि, आराधी, परत संसारी, सुलभबोधी, भवि और चरम कह दें क्या ऋषिजी की आत्मा इस बात को मजूर कर लेगी ? कदापि नहीं ।

वास्तव मे देवलोकों मे शाश्वति जिनप्रतिमा हैं वे सब तीर्थ-ङ्करों की है और देवता उन प्रतिमाओं की द्रव्य भाव से पूजा करते है वे केवल आत्मकल्याण अर्थात् मोक्ष के लिये ही करते हैं और यही भावना सम्यग्दृष्टि देवता के उत्पन्न होने के समय से अन्त तक रहती हैं खास शास्त्रकार इस बात का इस प्रकार प्रति-पादन करते हैं जरा ध्यान लगा कर देखिये—

तएण तस्स सूरियाभस्स देवस्स पचविहाते पज्जती पज्जात्तिभावगयस्स सामाणस्स इमेयारूवे अज्झ त्थिएचिंत्तिए पत्थिए मणोगएसंकप्पे समुप्पाज्जित्था किं मे पुव्विकरणिज्ज, किंमे पच्छाकरणिज्जं, किंमे पुव्वि सेय, किंमे पच्छसेयं किंमे पुव्वि पच्छावि हियाए सुहाए खमाए निस्सेसए अणुगामित्ताए भविस्सइ ?

ऋषिजी का हिन्दी अनुवाद—तब वह सूर्याभदेव को पंच प्रकार की पर्याप्ती को पर्याप्त हुवे बाद इस प्रकार अध्यवसाय चिन्तवन प्रार्थना मनोगत संकल्प समुत्पन्न हुवा कि क्या मुझे प्रथम करने योग्य हैं, क्या मुझे पीछे करने योग्य हैं, क्या मुझे प्रथम श्रेयकर है क्या मुझे पीछे श्रेयकर है क्या मुझे प्रथम और पीछे हितकर्ता सुखकर्त्ता, क्षमाकाकर्त्ता, निस्तारकाकर्त्ता, अनु-गामी यानि साथ आने वाला होवेगा।

सूर्याभ के इन प्रश्नों के उत्तर मे शास्त्रकार फरमाते है कि—

"तएणं तस्स सूरियाभस्स देवस्स सामाणिया परिसो ववएणगा देवा सूरियाभस्स इमेयारूवे अज्झत्थियं जाव समुप्पन्नं समभि जाणिता जेणेव सुरियाभ देवे तेणेव उवागच्छाइ २ता सूरियाभ देवं करयल परिग्गहियं सिरसा वत्त मत्थए अजलिकट्ट जएण विजएणं वद्धावेति २ ता एव वयासी एव खलु देवाणु प्पियाण सूरियाभेविमाणे सिद्धायणासि अट्ठसय जिणपडिमाण जिणुस्सेह प्पमाणामेत्ताण सन्निखित्त चिट्ठति, सभाए सुहम्माए माणवत चेइएखभे वइरामय गोलवट्ठ समुगाए बहुओ जिणस्म कहाओ सन्निक्खित्ताओ चिट्ठति ताओण देवाणु प्पियाण अन्निसिंच बहुण वेमाणियाणं देवाणय देवीणय अचणि ज्जाओ जाव पज्जुवासणिज्जाओ त एयण देवाणुप्पियाण पुव्विं करणिज्ज त एयण देवाणुप्पियाण पच्छा करणिज्ज त एयण देवाणुप्पियाण पुव्विंसेय एयण देवाणुप्पियाणं पच्छा

सेयं त एयणं देवाणुप्पियाण पुव्विं पच्छावि हियाए सुहाए खमाए निस्सेसाए अणुगामित्ताए भविस्संति"

ऋषिजी का हिन्दी अनुवाद-तत्र उन सूर्याभदेव के सामानिक (बराबरी) के परिषदा में उत्पन्न हुवे देवताओ—सूर्याभदेव के उक्त प्रकार के अध्यवसाय यावत् समुत्पन्न हुवेअच्छी तरह जाने और जहाँ सूर्याभदेव था तहाँ आये आकर सुर्याभदेव को हाथ जोड कर सिरसावर्त अंजली करके जय हो विजय हो इस प्रकार बधाया, बाधा कर यों कहने लगे यों निश्चय अहो देवानुप्रिय। सूर्याभ विमान के सिद्धायतन में एक सौ आठ (१०८) जिनप्रतिमा, जिन के शरीर प्रमान ऊंची स्थापन की हैं तथा सौधार्मिक सभा में माणवक चैत्य स्थभ में वज्ररत्नमय गोल डुबों में वहुत जिन की दाढों रखी हुई है वे अर्चनीय (वन्दनीक पूजनीक) यावत् पर्युपासना करने लायक है इसलिये यह देवानुप्रिय के प्रथम करने लायक काम है यह पीच्छे करने योग्य काम हैं यह देवानुप्रिय को प्रथम पीछे श्रेयकार है यह देवानुप्रिय को पहिले पीच्छे हितकारी सुखकारी क्षमाकारी निस्तारकारी, अनुगामिक होवेगा।

श्री रायप्पसेनी सूत्र पृष्ट १४६

अहा ! अहा !! नरभव में प्रदेशी राजा की दृढ श्रद्धा और अटूट क्षमा। बाद प्रदेशी राजा का जीव देवलोक में सुर्याभदेव पने उत्पन्न होता है और उत्पन्न होते ही कैसी भावना ?। मुझे पहला क्या करना चाहिये ? मुझे पीछे क्या करना चाहिये ? और मुझे पहले क्या काम करने से कल्याण का कारण होगा और

पीछे क्या करने से कल्याण का कारण होगा ?, और पहिला पीछे क्या काम करने से हित, सुख, कल्याण, मोक्ष का, कारण होगा ?

इसका ही उत्तर मिलता है कि सुर्याभ वैमान के अन्दर सिद्धायतन में १०८ जिन प्रतिमाओ जो जिनदेव के शरीर प्रमाण अर्थात्‌जघन्य सातहाथ उत्कृष्ट पांचसौ धनुष्य की तथा सौधर्मी सभा के अन्दर जो गोल डब्बे में जिनेन्द्र देवो की दाढ़ो रही उनका वन्दन पूजन करना ही आप का पहला काम है यही आपका पीछे काम है जिनप्रतिमा का वन्दन पूजन ही आपको पहले पिच्छे श्रेयकार है। जिन प्रतिमा का पूजन ही पहले पीछे हितकाकारण, सुखकाकारण, क्षम, अर्थात् कल्याण का कारण, निस्तार यानि मोक्ष का कारण और यही साथ मे चलने वाली है अर्थात् देवता सम्बन्धी भुवनादि सब यहाँ ही रहेंगे और प्रभुपूजा रूप करणी ही आपके साथ चलने वाली है। ऋषिजी ! इससे अधिक आप पूजा के लिये क्या प्रमाण चाहते हो। जो आपके ही किया हुआ यह अनुवादित सूत्र पाठ है।

यदि ऋषिजी के हृदय में पक्षपात का भूत नही होता तो जैसे आपने प्रभुवन्दन और चारित्र का फल के लिय यावत् मोक्ष बतलाया है इसी प्रकार मूर्त्तिपूजा का फल के लिये भी खुल्लम खुल्ला मोक्ष बतलाने में कदापि नहीं हिचकिचाते ? हम श्रीमान् ऋषिजी के अनुवादित ,त्र पाठ यहाँ बतला कर स्पष्ट कर देते हैं।

तीर्थंकरों को वन्दन करने का फल	मुनियों को संयम पालने का फल	तीर्थंकरों की मूर्तियां पूजने का फल
सूत्रों के मूल पाठ	सूत्रों के मूल पाठ	सूत्रों के मूल पाठ
१ हियाए	हियाए	हियाए
२ सुहाए	सुहाए	सुहाए
३ खमाए	खमाए	खमाए
४ निस्सेसाए	निस्सेसाए	निस्सेसाए
५ अणुगमिताए	अणुगमिताए	अणुगमिताए
ऋषिजी का हिन्दी अनुवाद	ऋषिजी का हिन्दी अनुवाद	ऋषिजी का हिन्दी अनुवाद
१ हित की कर्त्ता	हितकर्त्ता	हितकारी
२ सुख की कर्त्ता	सुखकर्त्ता	सुखकारी
३ कल्याण की कर्त्ता	योग्यकर्त्ता	क्षमाकारी
४ (अर्थ नहीं किया है)	कर्मक्षय करने वाला है	निस्तारकारी
५ अनुक्रम परम सुख दाता	भवान्तर में फल साथ में चले	अनुगामीक होवेगा
'उववाई सूत्र पृ० ८७	'आचारांग सूत्रपृ० १९९'	राजप्रश्नी सूत्रपृ० १२८

उपर के कोष्टक में तीर्थंकरो को वन्दन करना, संयम का पालन करना और तीर्थंकरों की मूर्तियों की पूजा करने का फलके विषय मे शास्त्रकारों ने एक सरीखा पाठ और अर्थ किया है।

हां, ऋषिजी की इतनी योग्यता न होने से वे शब्दों का अर्थ ठीक तौर से न कर सकें यह बात दूसरी है ।

भगवान को वन्दन, संयम पालन और प्रभु पूजा करना यह तीनो मोक्ष के कारण हैं क्योंकि एक कार्य के अनेक कारण हुआ करते हैं यदि ऐसा न होता तो वन्दन और संयम दोनों को मोक्ष का कारण नहीं कहते । कारण संयम की अपेक्षा वन्दना में इतना कष्ट नहीं है तब मूर्तिपूजा में वन्दन तो आही जाता है वह मोक्षका कारण हो इस में तो सन्देह ही क्या हो सकता है क्योंकि पूर्वोक्त तीनों की भावना जन्म मरण मिटा के मोक्ष प्राप्त करने की है । इसलिये ही शास्त्रकारोंने तीनों कारणो का फल क्रमशः हित, सुख, कल्याण, मोक्ष और अनुगामी वतलाया है । क्या कोई व्यक्ति प्रभु पूजा का फल मोक्ष होने में किंचित् भी शंका कर सकते हैं ? नहीं । कदापि नही !! हरगिज नहीं !!!

कई लोग विचारे भद्रिक लोगों को यों भ्रम में डाल देते हैं कि देवताओं को की हुई पूजा को तो हम मानते हैं पर इस मे मोक्ष होना हम नही मानते हैं । क्योंकि देवता जिनप्रतिमा की पूजा करते हैं यह तो उनका जीताचार हैं । उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि तब तो आप देवताओं की की हुई तीर्थंकरों को वन्दना भी मोक्ष का कारण नहो मानोगे ? क्योंकि वहा भी खास भगवान् ने श्रीमुख से फरमाया है कि "पोराणा मयं सुरियाभा, जीयामेयं सुरियाभा" हे सुर्याभ तीर्थंकरों को वन्दन करना तुम्हारा पुराणा रिवाज और जीताचार हैं । यदि अरिहन्तो को वन्दन करना देवताओं का पुराणा रिवाज और जीताचार हैं और यह वन्दना मोक्ष का हेतु है तो देवता जीताचार से प्रभुपूजा करे

वह मोक्ष का कारण क्यों नहीं होता है ? इस में पक्षपात के अलावा दूसरा कोई कारण नजर नहीं आता है और इस ज्ञान युग में इस मिथ्या पक्षपात की हांसी के सिवाय क्या कीमत हो सकती है ?

उपसंहार

१—देवलोक मे शाश्वति जिनप्रतिमाएँ हैं, वे सब तीर्थंकरों की ही है और उन्हे कामदेव की कहने वाले शास्त्रों के बिलकुल अनभिज्ञ हैं।

२—जैन दर्शन स्याद्वाद को माननेवाला है, द्रव्यास्तिनयापेक्षा लोक को शाश्वता और पर्यायस्तिनयपेक्षा लोक को अशाश्वता मानते हैं। तदनुसार देवलोक और तत्रस्थित जिनप्रतिमाओं को भी शाश्वति मानते हैं।

३—देवता सम्यग्दृष्टि होने से उनकी की हुई तीर्थंकरों की वन्दना और तीर्थंकरो की मूर्तियों की पूजा मोक्ष का कारण है।

४—मूर्तिपूजा का फल यावत मोक्ष का बतलाया है इस लिये मोक्षाभिलाषी जीवों को मूर्ति की द्रव्य भाव से यथाधिकार पूजा अवश्य करनी चाहिये।

५—इस प्रकार शास्त्रकारों की आज्ञा का पालन करने वाले ही सम्यग्दृष्टि कहला सकते हैं और जिन वचनो को न्यूनाधिक कहने वाला निन्हव मिथ्यात्वी की पंक्ति मे समझा जाता है।

६—इस प्रकरण को आद्योपान्त पढ़ कर यदि मिथ्यात्वोदय और उत्सूत्र प्ररूपकों के अधिक परिचय से झूठी श्रद्धा हृदय में

घुस गई हो तो उसको शीघ्रातिशीघ्र निकाल के वीतराग के कथनानुसार मूर्तिपूजा की दृढ़ श्रद्धा रख कर स्व परका कल्याण करने में प्रयत्न करते रहें।

७—यदि इस में किसी को कुछ पूछना हो तो विद्वानों से जिज्ञासुभावों से पूछ के निर्णय करलें पर मिले हुए अमूल्य मनुष्य भव को व्यर्थ भ्रम में न जाने दें। थोड़ा बहुत अपनी बुद्धि से भी विचार करें कि मूर्तिपूजा में किस प्रकार की उत्तम एवं उज्वल भावना रहती है व मुक्ति का कारण क्यों न होगा अर्थात् अवश्य होगा ही। ओ३म् शांति।

प्रकरण चतुर्थ

जैनागमों में अशाश्वति मूर्त्तियाँ।

गत प्रकरण में हमने जैनागमों और विशेष स्था० साधु अमोलखर्षिजी कृत हिन्दी अनुवाद द्वारा देवलोकों में शाश्वति जिनप्रतिमाओं की पुजा और पूजा का फल क्रमशः मोक्ष होना सिद्ध कर बतलाया है। अब इस प्रकरण में अशाश्वति मूर्त्तियो के लिये भी ऋषिजी के सूत्रों के अनुवाद से ही साबित करेंगे।

प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में चौवीस चौवीस तीर्थंकर होते हैं, इस नियमानुसार इस अवसर्पिणी में भी धर्म प्रवर्तक चौवीस तीर्थंकर हुए जिनमें आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव थे। आपने युगलीक धर्म का निवारण कर कर्म भूमि अर्थात् असी मसी कृसी रूप कर्म बतला कर नीति धर्म चलाया बाद आपने स्वय दीक्षित हो कैवल्य ज्ञान प्राप्त कर धर्म मार्ग प्रचलित किया, तीर्थंकरों को कैवल्यज्ञान होता है तब वे चतुर्विध श्रीसंघ का स्थापना कर गणधरों को त्रिपदी का ज्ञान देते हैं और वे गणधर द्वादशाङ्गो की रचना करते हैं। उसमे स्वर्ग नर्क मृत्युलोक के अवस्थित भावों का वर्णन जो अनादि काल से चला आया है वह जनता को ज्यों का त्यों सुना देते हैं। इसमें देवलोकादि मे शाश्वता मंदिर जिनप्रतिमाओ की पूजा और पूजा का फल

यावत् क्रमशः मोक्ष का वर्णन आता है इस हालत में मोक्षाभिलाषी मुमुक्षु देवलोक के सदृश मंदिर बनाके जिनप्रतिमाओं की स्थापना करके उनकी द्रव्य भाव से पूजा कर अपना आत्म-कल्याण करे, इसमें शंका या सवाल ही क्या हो सकता है ? श्री भारत चक्रवर्ती ने अष्टापद पर्वतपर चौवीस तीर्थंकरों के चौवीस मन्दिर बनाकर तीर्थंकरों के शरीर वर्ण चिन्ह युक्त मूर्त्तियों उन मंदिरों में स्थापना की, सागर चक्रवर्ती के पुत्रों ने उनकी रक्षा की, सम्राट् रावण मंदोदरी ने वहाँ जाकर भक्ति की, गणधरगौतमस्वामी ने उस महान तीर्थ की यात्रा की, ऐसा उल्लेख जैनशास्त्रों में आज भी विद्यमान हैं और भी प्राचीनतम समय के जैनमंदिर मूर्तियों के विस्तृत प्रमाण जैन शास्त्रों में मिल सकते हैं। परन्तु हमारे स्थानकमार्गी भाई केवल ३२ सूत्र मानने का आग्रह कर बैठे हैं। वह भी मूलसूत्र तथा उनका खुद का किया हुआ टब्बा अर्थात् भाषानुवादको मान्य कर उस पर ही विश्वास रखते हैं इसलिये मैं आज यहाँ पर उन महानुभावो की मान्यतानुसार ३२ सूत्र और सूत्रों के अनुवाद के प्रमाण देकर यह बतलाने का प्रयत्न करूँगा कि ३२ सूत्रों के मूलपाठ में अशाश्वति मूर्तियों का उल्लेख विस्तृत संख्या में मौजूद है।

जहाँ जैनों की वस्ती हो वहाँ आत्म-कल्याण का साधन जैन मंदिर मूर्तियों का होना स्वभाविक हैं जैनागमों में नगरों का वर्णन किया वहाँ भी इस बात को अच्छी तरह से बतलाया है कि नगरों के मुहल्ले २ में अरिहन्तों के मंदिर हैं हम यहाँ पर श्री उत्पातिक सूत्र में चम्पो नगरी के वर्णन में आये हुए अरिहन्तों के मंदिरों का उल्लेख कर देते हैं।

लौंकागच्छीय आचार्य अमृतचंद्र सूरि कृत टब्बा के साथ मूलपाठ।	स्था० साधु अमोलखर्षिजी कृत हिन्दी अनु० के साथ मूलपाठ।
आयरवंत चेइया जुवइ विविह सण्णिविट्ठ बहुला अरिहन्त चेइय जणवए संणिविट्ठ बहुला (इतिपाडांतर)	*आयरवंत चेइया जुवइ विविह सणिविट्ठ बहुला।*
टब्बार्थ	फुट नोट में—अरिहन्त चेइया बहुला (पाठातर) ऐसा पाठ भी कितनेक प्रतियों में है।
जिण नगरीइ आकरवंत-सुन्दाकार चैत्यप्रासाद देहरा छाइ। वैश्याना विविध नाना प्रकार सनिवट्ट पाडा छेइ बहुला कहता घणा तीण नगरी छई, अरिहन्तना चैत्य प्रासाद देहरा घणा छेई (पाठान्तर)	हिन्दी अनुवाद आकारवंत-शोभायमान यक्षादि के मंदिर भी बहुत हैं।
श्री उववाई सूत्र पृष्ट २	श्री उववाइ सूत्र पृष्ट २
	पाठांतर के मूलपाठ का अर्थ अरिहन्तों के बहुत मंदिर हैं यह अर्थ आपने नहीं किया है।

स्था० साधु जेठमलजी ने अपने कल्पित विचारों के अनुसार '*अरिहन्त चेइया*' का अर्थ "यक्ष का मंदिर" किया है उसी का ही अनुकरण ऋषिजी ने किया मालूम होता है। शायद अन्ध परम्परा इसीका ही नाम हो कि एक मनुष्य ने किसी कारण धोखा खाया हो तो उसके पीछे उसकी वंश परम्परा धोखा खाती ही जाय कि अरिहत चेइया का स्पष्ट अर्थ अरिहन्तों के मंदिर होता है उसे यक्ष का मंदिर कह देना या लिख देना।

लौंकागच्छाचार्य—अमृतचन्द्रसूरि '*अरिहंत चेइया*' पाठ-

मूल में लिखकर उसे पाठांतर बतलाते हैं यह आपका भत्र भी रूपना है कि जैसा सूत्र में था वैसा लिख दिया तब ऋषिजी ने मूलपाठ से उस पाठ को निकाल कर फुट नोट में रख दिया तब लौंकागच्छाचार्य ने अरिहन्तों के चैत्य-अरिहन्तों के मंदिर का अर्थ किया तब ऋषिजी ने यक्षादि के मंदिर का विपरीत अर्थ कर डाला शायद आपने आदि शब्द में अरिहन्तो के मंदिर होना समझ लिया हो क्योंकि खुल्लमखुल्ला तो वे कहीं कैसी तथापि दोनो के अर्थ से यह स्पष्ट पाया जाता है कि चम्पानगरी में अरिहन्तों के बहुत से मंदिर थे इस हालत मे यह क्यों कहा जाता है कि सूत्रो में जैन मंदिरों का अधिकार नहीं ? परन्तु अब तो यह बात ऐतिहासिक प्रमाणो द्वारा भी निश्चय होगई है कि भगवान् महावीर के समय में राजा श्रेणिक ने मदिर बनाया था जिसको हम आगे पांचवें प्रकरण में प्रमाणित कर बतलावेंगे:—

वास्तव में पूजा होती है पूज्य पुरुषों की, मूर्ति तो स्थापना निक्षेप है पर खुद भगवान् महावीर के मौजूदगी मे आपके भक्त लोग आपकी पुष्पादि से पूजा कर आत्म कल्याण करते थे और इस विषय के शास्त्रों में उल्लेख भी मिलते हैं। जरा ध्यान लगा कर देखिये—

"अप्पेगइया वदणवत्तियं, अप्पेगइया पूयणवत्तियं"

लौंकागच्छीय अमृतचन्द्र सूरि कृत टब्बा	स्था० साधु अमोलखर्षिजी कृत हिन्दी अनुवाद
एकेक पूर्वेइ काह्य (राजादि) ते वांदिवा स्तुति करवा तिणइज निमित	कितनेक भगवान् को बन्दन स्तुति करने को कितनेक भग-

इआवई एकेक पूजा जिम पुष्पादि पूजयइ तिम पूजानेजइ निमितई आवई	वान् की भाव पूजा करने को—
श्री उववाई सूत्र पृष्ठ १६५	श्रीठववाई सूत्रपृष्ठ ८७

श्रीमान् ऋषिजी को पूछा जाय कि 'वंदनवत्तियं' पाठका अर्थ तो आपने वन्दना स्तुति कर दिया जिसको आप भाव पूजा मानते हो। फिर '*पूयणवतिया*' का क्या अर्थ होता है? यदि आप भाव पूजा ही कहोगे तो आपके अनुवाद में पुनरुक्ति दोष आवेगा क्योंकि वन्दन का अर्थ आपने भाव पूजा किया है इस लिये, '*पूयणवतिय*,' का अर्थ भाव पूजा हो नहीं सकता है। यदि आपके पूर्वज अमृतचन्द्रसूरि ने '*पूयणवतिय*' का अर्थ पुष्पादि से पूजा किया है इसको आप मान भी लो तो क्या हर्ज है कारण भगवान् के समवसरण में गाडोंबद्ध पुष्प तो आप मानते ही हैं जो कि आप *समवायाग* सूत्र में अतिशयों के अधिकार में लिखा भी है और श्री राजप्रश्नी सुत्र में पुष्पों से ग्रथित मालाओं तथा खुले पुरुपों से परमेश्वर की पूजाकरना आपने स्वीकार करके अपने हाथों से लिखा भी है तो फिर भगवान् के भक्तजनों का थोड़े से पुष्पों से भगवान की पूजा मानने में आपको किसी प्रकार की आपत्ति आती है? कुछ भी नहीं। और '*पूयणवतिय*' का अर्थ पुष्पादिसे द्रव्य पूजा के सिवाय दूसरा हो ही नहीं सकता है।

बत्तीस सूत्रों के अनुवाद करते समय श्रीमान् ऋपिजी ने एक ही स्थान पर सूत्र के अर्थ को नहीं पलटाया है पर आपने तो ऐसे अनेक जगह पर अर्थ का अनर्थ कर डाला है। नमना के तौर पर कतिपय उदाहरण यहां बतला दिये जाते हैं—

चमरेन्द्र उर्ध्व लोक मे जाता है तब अरिहंत, अरिहंत की प्रतिमा, और भावितात्मा वाला अनागार (साधु) का शरणा लेकर ही जाता है जैसे कहा है कि—

"णरणत्थ अरिहते वा अरिहंते चेइयाणिवा, अणगारे भिवयप्पणो"

लौंकागच्छीय गणि रामचन्द्र संशोधित टब्बा	स्था० साधु अमोलखर्षिजी कृत हिन्दी अनुवाद
अरिहंत, तथा अरिहतना चैत्य जिनभुवन तथा लेप्पादिकनी प्रतिमा, अने साधु चारित्रिया भावितात्मा चारित्रनागुणों कर संयुक्त ए तीननी निश्रय शरणो कह्यो	अरिहंत, छदमस्थअरिहंत, अनगार भवितात्मा—
श्री भगवती सूत्र श० ३ पृष्ट २४६	श्री भगवती सूत्र श० ३ पृष्ठ ४७४

लौंकागच्छीय गणिजी ने 'अरिहंत चेइयाणिवा' पाठ का अर्थ "अरिहंतानां—चैत्य जिनभुवन तथा लेश्यादिकनी प्रतिमा" किया हैं तब लौंकाशाह के अनुयायी होने का दम भरने वाले ऋषिजी ने 'अरिहंत चेइयणिवा' का अर्थ "छदमस्थ अरिहंत" होने का किया है । ऋषिजी को पूछाजाय कि यह अर्थ आपने किस आधार से किया है क्योंकि प्राचीन टीका और टब्बा में तो उस पाठ का अर्थ जिनभुवन या जिनप्रतिमा हैं दूसरा अरिहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु एवं पांच पद है जिसमें सिद्ध आचार्य उपाध्याय तो छदमस्थ तीर्थंकर बन ही नहीं सके शेष अरिहंत और साधु दो पद रहे इसमें छदमस्थ अरिहंत को आप किस पद में समझते हैं जैसे तीन शरणा है कि—

(१) अरिहन्त (२) अरिहंत के चैत्य (३) अनगार
| | |
अरिहंत पद (इसका अर्थ ही नहीं हुआ है) साधुपद

अब रहा दूसरा "अरिहंत के चैत्य का शरणा" इसको आप जैनों की मान्यतानुसार कहो तो छद्मस्थअरिहंत अरिहत पद में हैं क्योकि अरिहत जन्मते हैं उस समय इन्द्र नमोत्थुण के पाठ से नमस्कार करते हैं और श्री स्थानायांग सूत्र स्थान तीसरा पृष्ट २६० पर तीन प्रकार के अरिहंत कहा है (१) अवधिज्ञानी अरिहंत (गृहस्थावस्था) (२) मनःपर्यव अरिहत (छद्मस्थ दीक्षा अवस्था) (३) केवली अरिहंत, केवलावस्था, इससे भी यही सिद्ध होता है कि छदमस्थावस्था में भी अरिहत शब्द से ही संबोधन करते थे पर अरिहंत चैत्यको किसी स्थान पर छद्मस्थ अरिहन्त नहीं कहा है और आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के साधु लोगस्स द्वारा २३ भावी तीर्थंकरो को वन्दन करते है इत्यादि। यदि आप अपनी कल्पनानुसार कहो तो भी छद्मस्थ तीर्थंकर को साधु पद में कह सक्ते हो पर छदमस्थ तीर्थंकर को दूसरे शरण मे अरिहत का चैत्य मे तो किसी हालत मे समावेश नहीं कर सकते हो।

आगे सूत्रों में चार शरणा कहा है उसमें भी छद्मस्थ अरिहंत का अलग शरणा नहीं बतलाया है जैसे कि तीन शरणा चमरेन्द्र का इस प्रकार है

अरिहंत, अरिहंत का चैत्य अनगार
| | | |
अरिहतों का शरण | इसका अर्थ ही नहीं हुआ | साधु का शारणा | धर्म का शारणा
|
सिद्धों का शरणा

इससे भी अरिहंतों के चैत्य का शरणा तो वैसा का वैसा रह गया अर्थात् छद्मस्थ अरिहंत को तो अरिहंत ही कहते हैं इनका शरणा अलग नहीं कहा जाता है यदि छद्मस्थअरिहत को अरिहन्तों से अलग समझोगे तो आपको कई अरिहन्तों की कल्पना करनी होगी कारण जैसे चवन अरिहन्त, जन्म अरिहन्त, राजअरिहंतादि

हमारे स्थानकवासी भाई यह सवाल कर उठते हैं कि मूर्ति तो पाषाणकी होती है उसका क्या तो शरणा ले और क्या मूर्ति शरणा लेने वाला का बचाव ही कर सके ?

आपको यह तो भली भाँति मालूम होगा कि मूर्ति का कितना जबर्दस्त प्रभाव है। किसी राजा महाराज या सर्व भौम्य सम्राट् की मूर्तिको देखिये उसके शरणा या आसातना का कैसा प्रभाव पड़ता है ? दूर क्यों जावें आप खुद भैरू वगैरह की मूर्ति को पूठ देकर नहीं बैठते हो किसी प्रकार की बेअदबी नहीं करते हो और आपके सब साधु साध्वियो प्रतिदिन दो वक्त प्रतिक्रमण करते समय कहते हैं कि "देवाणं असायणाए दविणं आसायणाए" इसको जरा सोचो एवं समझो कि उन देव देवि की पाषाणमय मूर्तियों

स्थानकमार्गी विद्वान भी मानते हैं कि नमिराजर्षि आदि प्रत्येक बुद्धि चूड़ि मेलादि के निमित से उनको प्रतिबोध हुआ जैसे कि वे कहते हैं।

"धन्य गौके पूत। तू ने मुझे अच्छा उपदेश दिया।"

"ब्यावर गुरुकुल जैन शिक्षाभाग तीजापृष्ठ ४८

अब समझना चाहिये कि बैल से प्रतिबोध होने पर उसको उपदेशक समझा जाय चूडिकों उपदेशक माना जाय तो मूर्ति तो तीर्थंकरों के तदाकार की है उसमें कितना प्रभाव कितना असर ? उनको क्यों नहीं माना जाय।

की आसातना की हो तो मिच्छमि दुक्कडं स्वयं आपको देना पड़ता है जब मूर्ति की आसातना का इतना बड़ा पाप है तो उसकी भक्ति का पुन्य होना तो स्वतः सिद्ध है इसमें सवाल ही क्या हो सकता है।

विद्यमान मनुष्यो के तो मति एवं श्रुति ये दोनों ज्ञान भी निर्मल नहीं है' पर मति श्रुति और अवधि एवं तीन ज्ञानवाले इन्द्र महाराज अरिहंतो की मूर्ति की आसातना को खास अरिहंतो की ही आसातना समझते हैं। देखिये—शक्रेन्द्र ने चमरेन्द्र के लिये वज्र फेंका था पर बाद उसने विचार किया कि चमरेन्द्र खुद की तो इतनी ताकत नहीं है कि वह किसी के शरणा विना यहाँ आ सके ? यदि अरिहंत, अरिहत के चैत्य (मन्दिर मूर्ति) और भावितात्मीय अनगार के शरणा लेकर आया होगा तो मैंने वज्र फेंक के बड़ा भारी अनर्थ किया है जैसे कि—

"त महादुक्खं खलु तहारूवाणं अरिहताणं भगवताणं अणगाराणंय अच्चासायणाए"

सुज्ञ पाठक विचार कर सक्ते हैं कि शरणा कहा तीन और आशातना कही दो इसका क्या अर्थ हो सकता है अर्थात् इसका यही स्पष्ट अर्थ होता है कि अरिहंतो के चैत्य (मन्दिर मूर्ति) की आशातना करना अरिहंतों की ही आशातना है इसलिये आशातना दो ही कही। इस प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि जैसे अरिहंतों का शरणा ले कर चमरेन्द्र उर्ध्वलोक मे जाता है इसी भाँति अरिहतों की मूर्तिका शरणा लेकर भी जा सकता है सूत्रों में ऐसा उत्पात की घटना अनतकाल से होना बतलायी है तो अनंतकाल पूर्व भी जैनमूर्तियाँ विद्यमान थीं। इस कथन

की पुष्टि हमारे स्थानकवासी भाई '*महानिशीथसूत्र*' का उल्लेख से इस प्रकार करते हैं कि—अनंतकाल पहिले धर्मश्री नाम के तीर्थंकर हुए। आपके बाद आपके शासन मे बहुत से साधु चैत्यवासी हो गये थे उस समय एक कमलप्रभाचार्य हुए वह बड़े ही प्रभाविक थे। एक नगर में आपका शुभागमन हुआ और चैत्यवासियों ने उनसे यह प्रार्थना की कि हे प्रभो! आप यहाँ चतुर्मास विराजकर मन्दिरो का उपदेश करें कि कोई नये मन्दिर बन जाय। आचार्य श्री को यह विदित हो गया था कि यह लोग चैत्यवासी हैं अतः आचार्य श्री से वे लोग आत्मकल्याण के लिये नही किन्तु अपने स्वार्थ अर्थात् इन्द्रियो पोषण के लिये ही चैत्य वृद्धि की प्रार्थना करते हैं उस हालत मे आचार्य श्री ने फरमाया कि—

"*जइवि जिणालयं तहावि सावज्जं मिणंणाहं वायामि*"

इसका अर्थ यह होता है कि यद्यपि जिन मन्दिर हैं तथापि तुम्हारा यह सावद्य कर्तव्य को मै कदापि स्वीकार नही करूँगा इत्यादि। हमारे स्थानकवासी भले इसका उलटा अर्थ करें कि उन आचार्यश्री ने मन्दिरों को ही सावद्य बतलाया था पर यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि अनंतकाल पहिले भी जैनमन्दिर थे और सावद्य के प्रतिपक्ष में यह भी मानना होगा कि निर्वद्य मन्दिर भी थे क्योंकि यदि निर्वद्य मन्दिर नहीं होते तो सावद्य शब्द की उत्पत्ति भी नही होती—जैसे बुरा कहा तो भला भी था, रात्रि कहा तो दिन भी था, खारा कहा तो मीठा भी था, क्योंकि एक शब्द कहा जाता है वह दूसरे की अपेक्षा लेकर ही कहा जाता है इन प्रमाणो से इतना तो अवश्य निश्चय हो जाता है कि जैनो में मन्दिर मूर्तियो का मानना पूजना

आज काल से नहीं पर अनंतकाल पूर्व भी था। हाँ, कालक्रम से विधि विधानो मे सुधार बिगाड़ हो जाना यह दूसरी बात है।

अब आगे चलकर हम खास श्रावकवर्ग की ओर देखते हैं कि इनके लिये मूर्ति के विषय में शास्त्र क्या कहता है। भगवान् महावीर के उपासक श्रावकों में सबसे पहिला आनंद श्रावक का नंबर आता है जिनका अधिकार उपासकदशांगसूत्र में है और पूर्व जमाना मे उपाशकदशांग सूत्र के ११५२००० पद थे और उनके श्लोकों की सख्या लगाइ जाय तो ५८८३३९०८३५६८००० होती है इतना विस्तार वाला उपाशकदशांगसूत्र मे श्रावको का तमाम जीवन और अपने जीवन मे किये हुए कार्यों का विस्तृत उल्लेख था पर आज तो सिर्फ ८१२ श्लोक मात्र रह गये। इस हालत में कैसे कहा जाय कि उन्होंने अपने जीवन मे क्या क्या कार्य किया था तथापि उस उपाशक दशांग में क्या वर्णन था उनकी संक्षिप्त मे नोंध श्रीसमवायांगजी सूत्र में लेली थी जैसे व्यापारी लोग अपनी रोकड़ तथा नकल के विस्तारवाले बीजक को खाता मे संक्षिप्त रूप से ले लेता है खैर समवायांगजी सूत्र में उपाशक दशांग सूत्र की नोंध इस प्रकार है—

"सेकिंतं। उवासगदसाओ? उवसगदसासुणं, उवासयाण, नगराइं, उज्जणाइं, चेइआयं, वणखडा, रायाणो, अम्मापियारो, समोसरणाइं, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, इहलोइय, परलोइय, इड्ढिविसेसा, उवासयाणं, सीलव्वय, वेरमणगुण, पच्चरक्खाण, पोसहोववास पडिवज्जियाओ, सुयपरिग्गहा, तवोवहाणाइं पडिमाओ, उवसग्गा, सलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाइं

पावोगभणाइं, देव लोग गमणाइं, सूकलपच्चाया, पुणोवोहि-लाभो, अंतकिरियाओ, आघविज्जंति"

ऋषिजी का हिन्दी अनु० उपासक दशांग का क्या भावार्थ है ? उपासक सो श्रावक उसका क्रिया कलाप से प्रतिवद्ध दश अध्ययन सो उपासकदशांग। उसमें श्रावको के नगर उद्यान '*व्यंतरालय*' वनखंड, राजा, माता पिता समवसरण, धर्माचार्य, धर्म कथा, इस लोक पर लोक की ऋद्धि, वैसे ही श्रावक का शीलाचार १२ गुणुव्रत-रागदिक की वृति, अणुव्रत, प्रत्याख्यान नवकारसी प्रमुख, अष्टम्यादि को पोपधव्रत, श्रुत का सुनना अनसनादि तप का करना, प्रतिमा का वहन, देव दानव मानव के उपसर्ग सहन करना सलेषणा तप से शरीर व कषाय को कृश करना, भात पानी का प्रत्याख्यान, देवलोक गमन, और पुनः सुकुल में जन्म, बोध वीजको प्राप्ति, अन्त क्रिया का करना यह सब उपासक दशांग में कहा है इत्यादि।

श्री समवायगजी सूत्र पृष्ट २४७

उपरोक्त विषयों का बयान विस्तार पूर्वक उपाशकदशांग सूत्र में था और इन विषयों में श्रावकों के 'चेइआयं' पाठ भी आये हैं। इस पाठ का अर्थ वनखण्ड करे तो वनखंड अलग आया है साधु करे तो धर्माचार्य अलग आये हैं ज्ञान करे तो श्रुत-ज्ञान पृथक् आया है जब ऋषिजी को दूसरा कोई रास्ता नहीं मिला तब श्रावकों के चेइआयं पाठ का अर्थ होता है श्रावकों के चैत्य, इस स्थान पर आपने श्रावको के *व्यंतरालय* कर दिया है पर उस समय ऋषिजी ने यह नहीं सोचा कि भगवान महावीर के श्रावकों के भी व्यंतरालय हो सकते हैं ? कदापि नहीं। आनंदादि श्रावकोने तो

यक्षादि अन्य तीर्थियोंके देव देवियों को वन्दन नमस्कार करने का त्याग कर दिया था इस हालत में वे यक्षादि के मन्दिर कैसे बना सके।

आनन्दादि श्रावकों अपने धर्मपर कैसे दृढ़ और मजबूतथे वे भगवान् महावीरके पास श्रावकके व्रत लेनेके बाद आपकी दृढ़ता का परिचय प्रभु महावीरके सन्मुख इस प्रकार दिया था कि हे प्रभू—

"णो खलुमेंभंते। कप्पइ अज्जप्पभइओ, अएणाउत्थिए वा अएणउत्थियदेवयाणि वा, अएणउत्थिय परिगाहियाणि इना चेइयोंतिवंदि तार वा णमसितार वा"

लौंका० वि० सं० टब्बार्थ

ण-कहता न कल्पे. खलु-निश्चय, हे भगवान् आज दिनहुति पछे मानुं नहीं—अन्यतिर्थिना तपस्वी ने-साधु ने, अन्यतीर्थिना हरिहरादि मिथ्यात्वी देवता, वली तथा अन्यतिर्थि ये अरिहंत[1] ना परिगृहित ते बिंब—चैत्य तेह ने आज पछी मन वचन काया ये वाँदवा नहीं नमस्कार करउ नहीं।

श्री उपाशक दशांग पृष्ट ५२

स्था० साधु अमोल० हि० अनु

मुझे आज पीछे अन्यतिर्थियों को तथा अन्यतिर्थियों के धर्मदेव शाक्यादि साधुओं अथवा अन्यतिर्थियों ने ग्रहण किये जैन के साधु भिष्टाचारी को वन्दन नमस्कार करना नहीं कल्पता है।

* अनुवाद की योग्यता देखिये आप अन्य तीर्थियों के धर्मदेव-शाक्यादि बताते हैं वास्तव में वे देव नहीं पर गुरू हैं देव तो हरिहरादि हैं वह आप ने लिखा भी नहीं है।

उपाशक दशांग सूत्र पृष्ट २५

[1] स्था० पूज्य घासीलालजी ने हाल ही उपासकदशांग सूत्र मुद्रित करवाया है उसमें "अरिहंत चेइया" पाठ दिया है।

ऋषिजी इस पाठ के फुटनोट में लिखते हैं कि कई प्रतियों में "*अरिहंत चेइआणिवा,*" पाठ है परन्तु यह पाठ कई प्रतियों मे नहीं भी है शायद् इसी कारण आपने '*अरिहंत चेइआणिवा*' के स्थान पर केवल '*चेइआणिवा*' लिख दिया परन्तु ऋषिजी को पूछा जाय कि आपने अनुवाद मे जैन के भ्रष्टाचारी साधु लिखा है उसमें साधु तो शायद् आप *चेइआणिवा* का अर्थ कर दिया होगा परन्तु जैन यह किस शब्द का अर्थ किया है ? और आगे आप साधु के साथ भ्रष्टाचारी शब्द जोड़ दिया है यह किस मूल पाठ का अनुवाद है क्योंकि आपके मूल पाठ में वो यह दोनो (जैन और भ्रष्टाचारी) हैं ही नहीं। फिर आपने यह कल्पना कर उत्सूत्र भापोत्व का वज्रपाप शिर पर क्यों उठाया ? यदि यह कहा जाय कि मूल सूत्र में तो पूर्वोक्त दोनों शब्द नहीं हैं परन्तु इन शब्दों विना अर्थ संगत नहीं बैठता है इसलिए इन दोनों शब्दों का प्रक्षेप करना पड़ता है। वाह ! वाह !! ऋषिजी वाह !!! अरिहंत शब्द के लिए तो कई प्रतियों मे होने पर भी आप इनकार करते हो और जैन और भ्रष्टाचारी शब्द सूत्र में नहीं होने पर भी प्रक्षेप करते हो तब वो यह सूत्र ही नहीं रहा। एक आपने अपने घर की वस्तु मानली कि इच्छा हो उस शब्द को निकाल दो और दिल चाहे उस शब्द को प्रक्षेप कर दो पर आपको इतना ही ज्ञान नहीं है कि अरिहंत और जैन एक हैं या भिन्न-भिन्न हैं ? यदि आपको प्रतिमा ही नहीं मानना है तो फिर अरिहंत का साधु कहने में क्या हर्ज था ऐसा कहने से न तो अरिहत शब्द निकालना पड़ता और न जैन शब्द प्रक्षेप करना पड़ता और न उत्सूत्र रूपी पाप की गठरी शिर पर उठानी ही पड़ती पर इतनी अकल आवे कहाँ से ?

आगे आप जैन साधु भ्रष्टाचारी जो अन्यतिर्थियों के परिगृहीत होना लिखते हैं पर जैन से भ्रष्ट हो गया और उसको अन्यतिर्थियो ने ग्रहण कर लिया वह साधु जैनो का नहीं रहा पर वह तो अन्यतिर्थियों का साधु हो चुका और उसको वंदना नहीं करना तो पहिले पाठ में आ ही गया जैसे खंदकसन्यासी, और शिवराजर्षि अन्यतिर्थियो के साधु थे वे जैन साधु बन गये उनको जैन साधु ही कहा जाता है न कि अन्यतिर्थियों के। अतएव आनन्द श्रावक ने यही प्रतिज्ञा की थी कि जिनप्रतिमा को अन्यतिर्थि ग्रहण करली हो उसको मैं कदापि नही वन्दूंगा और जिनप्रतिमा को अन्यतिर्थि ग्रहण करने के उदाहरण आज भी आपके सामने विद्यमान हैं जैसे जगन्नाथपुरी के मन्दिर में भगवान् शान्तिनाथजी की प्रतिमा, बद्रीजी के मंदिर में प्रभुपार्श्वनाथ की प्रतिमा, कांगड़ा में ऋषभदेव की प्रतिमा, अन्यमतियों ने ग्रहण कर ली और अपनी विधि से पूजते हैं वहाँ जाकर श्रावक को वन्दन पूजन करना नहीं कल्पता है। यदि ऋषिजी पहिले घर में निगाह कर लेते कि हमारे पूर्वजो ने इस पाठ का क्या अर्थ लिखा है जैसे लौंकागच्छीयो की मान्यता तो, ऋषिजी के अनुवाद के साथ तुलना कर हम बतला चुके हैं और स्थानकवासी पूज्य हुकमचन्दजी महाराज तथा साधु पीरचन्दजी ने अपने हाथों से कई सूत्रो की प्रतियो लिखी जिसमें उपाशकदशांग सूत्र एवं आनन्द श्रावक के अलावा में उन लोगों ने स्पष्ट लिख दिया था कि जो जिनप्रतिमा अन्यतिथियों ने ग्रहण करली हो वह आनन्द को वन्दन पूजना करना नहीं कल्पता है।

आनन्द श्रावक के इस अभिग्रह का कारण लौंकाशाह के

पूर्व सैकड़ों वर्षों अर्थात् वि० सं० ११२० में टीकाकार श्रीअभय-देवसूरी इस प्रकार बतलाते हैं कि—

"नो खलु इत्यादि—नो खलु मम भदत भगवन् कल्पते-युज्येते अथ प्रभृति इतः सम्यक्त्व प्रतिपति दिनदारभ्य निरातिचार सम्यक्त्व परिपालनार्थ, तज्जत नामाश्रित्य अन्नउत्थिएति जैनयुथाद्यदन्यत् यूथं संघान्तर तीर्थन्तरमित्यर्थ स्तदस्ति येषांतेऽन्ययूथिकाश्चरकादि कुतीर्थिकास्तान् अन्ययूथिक देवतानिका हरिहरादीनि, अन्ययूथिक परिगृहीतानि व अर्हच्चैत्याति अर्हत्प्रतिमा लक्षणानि, यथा भौत परिगृहीता, वीरभद्र महाकालादिनि वन्दितुवां अभिवादनकर्तुं नमस्यनु वा प्रणामपूर्वक प्रशास्तध्वनिभिर्गुणोत्कीर्तनकर्तुं तद्भक्तानां मिथ्यात्वस्थिरी करणादिदोषा प्रसगादित्वभिप्राय।"

श्री उपाशक दशांग सूत्र पृष्ट ५२

आचार्य अभयदेवसूरि की टीका हमारे स्थानकवासी विद्वान् भी प्रमाणिक मानते हैं और न उस समम मूर्त्तिविषयक ऐसी चर्चा भी थी कि जिसको कोई पक्षपात कह सके अतएव उन्होने स्पष्ट लिखा है कि अर्हन् प्रतिमा अन्यतीर्थियो ने ग्रहण करली है यदि श्रावक उन प्रतिमा को वन्दन पूजन करे तो उसको मिथ्यात्व स्थिरीकरण दोष लगता है इस बात को साधारण मनुष्य भी समझ सकता है कि जैनमूर्त्तियों उस समय भी साधिष्टायक महाचमत्कारी एवं प्रभाविक थी जब तो अन्यतीर्थी उसे लेजा के अपने देव तरीके पूजने लग जाते थे जब जिनप्रतिमा को अन्यतीर्थि ने अपना देव

मान लिया उसको श्रावक वन्दन पूजन न करे तब स्वतीर्थियों के पास में रही हुई जिन प्रतिमा का वन्दन पूजन करना तो स्वतः सिद्ध है।

जब ऐतिहासिकसाधनों के आधार पर विद्वद्समाज में यह सिद्ध हो चुका है कि भगवान् महावीर के मौजूदगी समय जैनों में मूर्त्तिपूजा एक धार्मिकअंग समझा जाता था और महाराज उदाई और श्रेणिक जैसों का मन्दिर बनवाना सिद्ध हो चुका जो हम आगे चलकर पांचवां ऐतिहासिक प्रकरण में विश्वासनीय प्रमाणों द्वारा सिद्ध कर बतलावेंगे. तब आनन्द जैसा धर्मात्मा और भगवान् महावीर के अग्रगण्य भक्त जैनमन्दिर मूर्त्तियों स्थापन करे और श्रीसमवायांगसूत्र में भगवान् गणधरदेव उनकी संक्षिप्त नोंध करे इस हालत में पक्षपात और मताग्रह में प कर शंका करना सिवाय अनभिज्ञता के और क्या कहा जा सकता है।

जैसे आनन्द श्रावकके मन्दिर मूर्त्तियां का बनाना, एवं मूर्त्ति-पूजा करना, हम ऊपर सिद्ध कर आये हैं इसी प्रकार उववाईसूत्र में अंबड़ श्रावक ने भी भगवान् महावीर के पास श्रावक के व्रत ग्रहण करने के पश्चात् प्रतिज्ञा की कि आज पीछे मै, अन्यतीर्थियों, अन्यतीर्थियों के देव हरिहलदरादि और अन्यतीर्थियो ने ग्रहण की हुई अरिहन्तों की प्रतिमा कों वन्दन नमस्कार नहीं करूँगा। परन्तु अंबड पहिले सन्यासी था इसलिये वह और भी जोर देकर कहता है कि—

"णएणत्थ अरिहत वा अरिहत चेइयाणि वा वंदित्त व नमसंति वा"

लौंकागच्छीय अमृतचंद्रसूरिकृत टब्बा।	स्था० साधु अमोल० हि० अनु०।
तउ स्युकल्पै अरिहन्त साक्षात् वीतराग-अनतज्ञानी अने अरिहृत चैत्य जिन प्रतिमा, जिननी स्थापना ते वांदवा नमस्कार करवा कल्पै।	फक्त अरिहंत और अरिहिंत के साधु को ही वन्दन करना नमस्कार करना यावत् सेवा भक्ति करना कल्पता है।
श्री उववाइसूत्र पृष्ठ २६७।	श्री उववाइसूत्र पृष्ठ १६३

ऊपर का 'अरिहंत चेइयाणि' पाठ का अर्थ लौंकागच्छाचार्य तो अरिहन्त की प्रतिमा करते है तब ऋषिजी उसी पाठ का अर्थ अरिहन्तों के साधु करते हैं किन्तु चैत्य का अर्थ प्रतिमा होता है या साधु इस विषय मे कई विद्वानो का और खास कर ऋषिजी के किये हुए अर्थ को हम आगे चलकर चारणमुनियो की यात्रा अधिकार मे विस्तृत प्रमाणो द्वारा बतलावेंगे कि इसमे किसी प्रकार का संदेह या शंका नहीं कि अंबड़ ने अभिग्रह किया था कि मैं अरिहन्त और अरिहन्तोकी प्रतिमाको ही वन्दन नमस्कार करूँगा—

ऋषिजी पहिले चमरेन्द्र के अधिकार मे 'अरिहंत चेइयाणि वा' का अर्थ जो जिनप्रतिमा होता है वहाँ छदमस्थ तीर्थंकर किया, और आनन्दके अधिकार में अन्यतीर्थियो ने ग्रहण किया अरिहंत चैत्य (प्रतिमा) का अर्थ जैन का भ्रष्टाचारी साधु किया जब यहाँ अंबड़ के अधिकार मे अरिहंतचैत्यका अर्थ साधु करते हैं आगे चलकर चारण मुनियो की यात्रा अधिकार में चेइयाई का क्या अर्थ करेंगे उसे भी देख लीजिये इससे इन लोगों की योग्यता का परिचय भली भाँति से विदित हो जायगा।

आगे चलकर तुंगिया नगरी के श्रावकों की पूजा के अधि-

कार में भी ऋषिजी ने बड़ा भारी अन्याय किया है उस पर भी जरा दृष्टि डालकर देखिये—

जिस समय पार्श्वनाथ भगवान् के ५०० मुनि तुंगिया नगरी के उद्यान में पधारे उस समय का जिक्र है कि उन श्रावकों ने इस बात को श्रवण की।

"अण्णमण्णस्स अंतिए एयमट्ठ पडिसुणंति पडिसुणित्ता जेणेव सयाइं गेहाइं तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता ण्हया कयबलिकम्मा कय कोउय मगल पायच्छित्ता सुद्धप्पवेसाइ मंगल्लाइं वत्थाइं पवर परिहिया अप्पमहग्घाभरणालंकिया सरीरा।"

लौंकागच्छीय वि० सं० शो टब्बा

एक एक ने पासे एहवो अर्थ सांभली अंगीकार करी जिहां आपणा घर छे तिहां आवे तिहां आवी ने स्नान किधु आपणा घरना देवताने किधा वलिकर्म जेणे किधा छे कौतुक शृंगार माहे मंगलिक अक्षत द्रोव्यादि तिलक चाँदला, जेणे किधा छे। शुद्ध मंगलकरी प्रधान वस्त्र पहिरे अल्प-बोज अने बहुमूल्य वस्त्र भूषण पहरी शरीर अलंकृत किधो छे।

श्री भगवती सूत्र पृष्ट १८७

स्था० साधु० अमो० हि० अनु०

अन्योन्य आपस में यह अर्थ सुन कर अपने गृह तहा आकर स्नान किया पीठी लगाई कोगले किये तिलक किया शुद्ध प्रवेश करने योग्य मंगलीक वस्त्र पहन कर अल्पमूल्य वंत आभरण पहिनकर शरीर अलकृत किया +

+ देवपूजा को बिलकुल उडा दिया यह तो आपकी योग्यता है।

श्री भगवती सूत्र पृष्ट ३४२

ऋषिजी का अनुवाद आप की योग्यता का ठीक परिचय करा रहा है आप ने मूल सूत्र में जिसकी गन्ध तक नहीं होने

पर लिख दिया कि स्नान करने के बाद पीठी (तेल आठा मिश्रित मालस) करी ऋषिजी पक्षपात के कारण लोक व्यवहार को भी भूल गये क्या कोई समझदार व्यक्ति स्नान करने के बाद मालिश करते होंगे ? कदापि नहीं ? इतना ही क्यों आप ने उन श्रावको ने स्नान कर पूजा की थी उस 'कय-वलिकम्मा' पाठ का असली अर्थ छोड़ कर उसके स्थान अर्थ कर डाला कि स्नान करके कोगला (कुडां) किया यह भी लोक विरुद्ध ही है स्नान करने के पूर्व तो मालश या कुडां करते हैं पर स्नान करने के बाद तो पीटी–कुला करना इन स्थानकवासियों से ही सुना है आगे 'अप्प- मइग्घ' पाठ का अर्थ किया है कि अल्प मूल्यवान वस्त्र पहिना और इस पाठ का अर्थ होता है अल्प वजन और बहुमूल्य वाले वस्त्र भूपण पहिनना और यह बात भी ठीक है कि आचार्यादि मुनियों के दर्शनार्थ जाते समय बहुमूल्य वस्त्र भूषणों से शरीर को अलंकृत करना श्रावको का खास कर्त्तव्य भी है कारण इससे आनंद का और अवसर ही क्या हो सकता है।

वास्तव में ऋषिजी के हृदय में मूर्त्तिपूजा प्रति कितना द्वेष ठाँस ठाँस के भरा हुआ है कि कयवलिकम्मा० पाठ का अर्थ पूर्वाचार्य्यो ने देवपूजा किया है और लौंकागच्छाचार्यों ने भी इस पाठ का अर्थ देवपूजा ही किया है उसको बदल कर 'कयवलिकम्मा' पाठका असंबंधित पीटी या कोढा करना अर्थ कर सभ्य समाज में ये कैसे हाँसी के पात्र बने हैं। इस लिये ही कहा है कि अन-भिज्ञों के लिये शास्त्र ही शस्त्र का काम करता है।

कई लोग यह भी सवाल कर बैठते हैं कि 'कयवलिकम्मा'

का अर्थ घरदेव की पूजा की लिखा है तो उन श्रावकों ने जिन प्रतिमा नहीं पर किसी कुलदेवी की पूजा की होगी ?

इसका उत्तर खास शास्त्रकार इस प्रकार देते हैं कि:—

"असहेज्ज देवासुर नाग सुवरण इत्यादि"

लौंका० वि० सं० शो० टब्बा	स्था० साधु अमोल० हि० अनु०
आपत काले पण किण ही देवता ने समरे नहीं आपणा किया कर्म आपणे भोगविये एहवी मनोवृत्ति छे	आपत्ती काल में देवासुर नाग सुवर्ण यक्ष किन्नर किंपुरुष गुरूढ गन्धर्व महिरागादि की सहायता नहीं लेने वाले थे—
श्री भगवती सूत्र पृष्ट १८३	श्री भगवती सूत्र पृष्ट २३७

लौंकागच्छीय और स्थानकवासियों की सामान मान्यता है कि तुंगिया नगरी के श्रावक अपने धर्म मे इतने दृढ श्रद्धा वाले थे कि किसी आपत्ती काल में भी किसी देव दानव का स्मरण न करे अर्थात् सहायता नही इच्छे इस हालत में यह कहना कहाँ तक ठीक है कि बिना किसी आफत और अपने पूज्याचार्यदेव के वन्दन समय तुंगिया नगरी के श्रावकों ने कुलदेवी की पूजा की अर्थात् यह कहना सरासर अन्याय एवं असगत है। दूसरा जैन श्रावको के गृह में पहिले कुल देवियां भी नहीं थी। कुलदेवियों का मानना तो आचार्य रत्नप्रभसूरि कि जिन्होने उपदेश द्वारा अनेक राजपूतो को प्रतिबोध कर जैनी बनाये बाद वह शेष रहे मांसाहारी क्षत्रियों के साथ मिल पुनः मांस भक्षी देवि देवताओ के बली पूजादि न करने लग जाय। इस लिये समकितधारी देवी उन जैन क्षत्रियों के कुलदेवी स्थापन करवा दी थी।

पूर्व जमाने में प्रत्येक श्रावक के घर में गृह देरासर ही रहता था और वे प्रातः समय सबसे पहिला देव पूजा करके बाद मे दूसरा काम करते थे इस हालत मे तुंगिया नगरी के श्रावको ने आचार्य श्री को वन्दन करने के पूर्व गृह देव यानि तीर्थंकरो की मूर्ति की पूजा की हो तो यह यथार्थ ही है।

आचार्य अभयदेवसूरि ने इस सूत्र पर वि. सं. ११२० मे इस प्रकार टीका करते हुए लिखा है कि—

"असहेज्जे इत्यादि—अविद्यमान साहाय्यं पर सहायिकं अत्यान्त समर्थत्वयेषां ते असाहाय्या स्तेच देवादयश्चेति कर्म धारयः अथवा व्यस्तमेव्यचंद तेन असाहाय्या आपद्यपि देवादि सहायकानपेक्षाः स्वय कर्म कर्ता स्वयमेव भोक्तव्यः।"

श्री भगवती सूत्र पाठ १८४

इससे स्पष्ट होजाता है कि तुंगिया नगरी के श्रावक भगवान् के परमभक्त एवं समर्थ होने से वे किसी की भी सहायता नही इच्छते थे। यदि कोई आपत्ति भी आ पड़े तो वे अपने किए हुए कर्म समझ कर भोगव लेते थे वे इस बात को स्वयं जैनशास्त्रों द्वारा ठीक समझते थे कि दूसरे तो सब निमित्त मात्र है पर उपादान तो अपनी आत्मा ही है फिर दूसरों की सहायता की जरूरत ही क्या है अतएव तुंगिया नगरी के श्रावक ने तीर्थंकरों की प्रतिमा के अलावा किसी सरागी देवी देवतो की पूजा नही करते थे परन्तु आत्म कल्याणकी अभिलाषा रखने वाले वे श्रावक खास तीर्थंकरों की मूर्ति की ही पूजा करते थे इतना ही क्यों पर श्रावको के तो ऐसे अटल नियम भी होते हैं कि वे बिना तीर्थंकरो की पूजा किये मुंह में

अन्न जल तक भी नहीं लेते हैं। इसी प्रकार जैनागमों मे स्थान स्थान श्रावकों के लिये मूर्ति पूजा के उल्लेख हैं परन्तु ग्रन्थ बढ़ जाने के भय मे यहाँ इतना ही लिख आगे हम मुनियो की तीर्थयात्रा के कतिपय प्रमाण बतला देना चाहते हैं—यों तो बहुत मुनियो को यात्रा का उल्लेख है पर हमारे स्थानकवासी समाज खास ३२ सूत्र और वह भी मूलपाठ मानने का आग्रह करते हैं इस लिए यहां हम भी ३२ सूत्रो के मूलपाठ और लोकागच्छीय तथा स्थानकवसियो के किए हुए भाषानुवाद के प्रमाण देकर इस बात को प्रमाणित कर बतलावेगे कि जैन मुनियो के तीर्थ-यात्रा करने से क्रमशः आत्मा का विकास होता है, देखिये—

"विद्याचारणस्सण भंते। उड्ढं केवइए गइ विसए पण्णते गोयमा। सेणं इओ एगेण उप्पाएणं णंदणवणे समोसरण करई २ ताहि चेइयाइं वदइ वदइता वितिएणं उप्पाएणं पंडगवणे समोसरण करइ २ ता तहिं चेइयाइं वंदइ वंदइता तओ पडिणिवत्तइ २ ता इह मागच्छइ २ ता इह चेइयाइं वंदइ विद्याचारणस्सणं गोयमा। उड्ढं एवइय गइ विसए पण्णता।"

लौका० वि० सं० शो० टब्बा

विद्याचारणनी हे भगवान्। उच्चो केटलो विषय प्ररूप्यो? हे गोतम तेह इहा थकीए के उत्पाते करीने नन्दनवनने विषे समोसरण करे अेटलेनिहा विश्राम करे नन्दन वन विश्राम करीने तिहांना चैत्य-जिन

स्था० साधु अमोल० हि० अनु०

हे भगवान् विद्याचारण का उर्ध्व कितना विषय कहा है? अहो गोतम विद्याचारण एक उत्पात मे यहां से उड कर मेरु पर्वत के नन्दन वन मे विश्राम लेवे वहां ज्ञानी के ज्ञान का गुणानु-

बिंबप्रते वांदे तिहांना चैत्यवांदीने बीजा उत्पाते करीने पडकवन समो सरण करे पंडकवने समोसरण करी ने तिहाँना चैत्य-जिनबिंब ाते वांदे तिहां चैत्य प्रते वांदीने तिहां थकी पाछावले तिहांथकी पाछावली ने यहां (स्वस्थाने) आवे इहां आवी ने यहां ना चैत्य—जिनबिंब वांदे हे गोतम। विद्याचारण नो उच्ची एतली गति नो विषे प्ररूप्यो।

श्रीभगवती सूत्र २०-६ पृष्ट १५०७

वाद करे वहां से दूसरे उत्पात में पंडग वन में समवसरणकरे वहाँ पर भी ज्ञानी के ज्ञान का गुणानुवाद करे और वहां से भी पीच्छा अपने स्थान आवे * अहो गोतम। विद्याचारण का उर्ध्व गमन का इतना विषय कहा है।

* ऋषिजी ने मूल पाठ होने पर भी अर्थ करना छोड दिया है जो यहा आकर भी अशाश्वते चैत्य को वन्दन करते हैं

श्रीभगवती सूत्र २०-६ पृष्ट २४८६

पूर्वोक्त विद्याचारणमुनि के अधिकारके मूलपाठ में चेइयाइ वन्दई है जिसका अर्थ टीकाकार चैत्यवन्दन, टव्वाकार चैत्य-जिनबिम्ब (प्रतिमा) वंदन कहा है तव ऋषिजी अपनी मत कल्पना से 'चेइयाइं वंदई' का अर्थ ज्ञानी का गुणानुवाद किया है। चैत्य शब्द का यहां पर वास्तव अर्थ क्या होता है वह हम आगे चलकर वतलावेंगे। ऋषिजी को इतने से ही संतोष कहां है ? आपने तो मूल पाठ का अर्थ करना ही छोड़ दिया देखो मूल पाठ मे "इह चेइयाइ वंदइ" इस पाठ का अर्थ तक भी नहीं किया है। शायद् ऋषिजी का यह तो इरादा न हो कि नन्दनवन और पांडक वन में तो जैन मन्दिर मूर्तियो का होना शास्त्र स्वीकार करते हैं जो आगे चल कर ऋषिजी का अनुवाद वतलाया जायगा परन्तु चारणमुनि यहाँ आकर चैत्यवन्दन किया इससे तो यहाँ के अशाश्वत मन्दिर मूर्तियों

सिद्ध हो जाती हैं परन्तु ऐसे पाठों का अर्थ नहीं करने से ऋषिजी के अभीष्ट की सिद्धि नहीं होती है कारण अब जनता इतनी अज्ञान नहीं है कि मूलपाठमे जिसका उल्लेख है और अर्थ करने वाले उस अर्थ को छोड़ दें और दुनिया उसको मान ले ? कदापि नहीं। खैर आगे जघाचारण मुनि की यात्रा के लिये भी ऋषिजी के अनुवाद को जरा ध्यान लगाकर पढ़ लीजिये—

"जंघाचारणस्सणं भंते । तिरियं केवइए गइ विसए पराणते ? गोयमा । सेणं इओ एगेण उप्पाएण रुयगवरेदीवे समोसरण करेइ २ ता तिहिं चेइयाइं वदइ वंदइता तओ पडि-णियत्तमाणा बितिएण उप्पाएणं णंदीसरवरदीवे समसरण करइ २ ता तहिं चेइयाइं वंदइ वंदइता इह हव्वमगच्छइ २ ता इह चेइयाइं वदइ जंघाचारणस्सण गोयमा । तिरियं गइ विसए पराणते।"

लौंका० वि० स० शो० टब्बा	स्था. साधु अमोल. हि. अनु.
जघाचारणनी हे भगवान् । तीर्च्छी केटली गति विषय प्ररूप्पो ? हे गौतम तेह इहांथकी एके उत्पाते करी रूचकवर नामे द्वीप ने विषै समोसरण करे २ करीने तिहा चैत्य प्रतेवादे चैत्य प्रतेवादी ने तिहांथकी पाछावले वलीने बीजा उत्पात करी नन्दीश्वरद्वीप ने विषै समोसरण करे कराने तिहाँना चैत्यप्रते वादे तिहाँ चैत्य प्रतेवांदी ने यहाँ पाछा	अहो भगवान् । जघाचारण का तीर्च्छा कितना विषय कहा है ? अहो गौतम । वह एक उत्पात मे तेरहवा रूचकवर द्वीप में समवसरण करे वहाँ ज्ञानी के ज्ञान का गुणानुवाद करे वहां से पिच्छे आते दूसरा उत्पात में आठवा नंदीश्वरवर द्वीप में आवे वहाँ समवसरण करके ज्ञानी के ज्ञान का गुणानुवाद

आवे आवीने इहांना चैत्य प्राते वांदे। जंघाचारण नो हे गोतम तीर्च्छी एतली गतिनी विषय कही।

श्री भगवती सूत्र पृष्ठ १५०८

करे और यहाँ से वहाँ आवे यहाँ आकर फिर ज्ञानी के ज्ञान का गुणानुवाद करे गोतम जंघाचरण का यह तीर्च्छा विषय कहा है।

श्री भगवती सूत्र पृष्ठ २४६०-६१

पूर्वोक्त पाठ में 'चेइयाइं' शब्द का अर्थ लौंकागच्छीय वि० सं० शो० टब्बा मे चैत्य (जिनबिम्ब) किया हैं तब ऋषिजी ने किया है ज्ञान। परन्तु शब्द ज्ञान से तो श्रीमान् ऋषिजी अनभिज्ञ ही हैं क्योंकि आपको एक वचन और बहुवचन का भी ज्ञान नहीं है कारण 'चेइयाइं' यह बहुवचन है तब ज्ञान एकवचन है अतः चारण-मुनि बहुत चैत्यों को वन्दना किया है दूसरा यदि ज्ञानीके ज्ञान का गुणानुवाद ही बोलना था तो यहां रहे हुए भी बोल सकते थे इस कार्य के लिये करोड़ों योजन जाने की जरूरत ही क्या थी वास्तव में यह ऋषिजी का और विशेष स्थानकवासी समाज का पक्षपात और मिथ्याहट है कि वे इस प्रकार सूत्रो के अर्थ बद-लाने में नही हिचकिचाते हैं।

अब हम यह बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि चारण मुनियो ने जिन जिन स्थानों की यात्रा करने का शास्त्रकारो ने प्रतिप्रादन किया है वहाँ ज्ञानियों के ज्ञान के ढगले के ढगले पड़े थे किवहाँ जाकर ज्ञानी के ज्ञान का गुणानुवाद किया या वहाँ विस्तृत संख्या में जिन चैत्य—(मन्दिर मूर्त्तियो थी कि जिनका वन्दन किया इस विषय में हमारे ऋषिजी के किये हुए सूत्रो के प्रमाण निम्नोक्त हैं।

"कहिणं भंते। मंदरस्सपव्वयस्स णदणवण णमवरो

पण्णता ? × × एवं चउदिसि चत्तारी सिद्धायतणा ।"

श्री जम्बुद्वीप प० पृष्ठ ४००—१

इसी प्रकार पांडकवन के चार सिद्धायतन (जिन मन्दिर) का वर्णन करते हुए पांडक वन की चूलिका पर एक मन्दिर का इस प्रकार वर्णन किया है ।

'तीसे उप्पि वहु समरमणिज्जो भूमि भागे जाव वहुमज्ज देस भाए सिद्धायणं कोसं आयमाणं अद्धकोस विक्खभेणं देसूणंय कोसं उड्ढ उच्चतायं अणेग खंभसय सीणिवठ जाव धूवकुडु छुगा ।"

जम्बू द्वी० प० पृष्ठ ४०८

आगे चारण मुनि नन्दीश्वरद्वीप यात्रार्थ जाते हैं वहां के चैत्यो का भी शास्त्रकारों ने विस्तार से वर्णन किया है परन्तु यहाँ पर प्रमाण जितना ही सूत्रपाठ लिख देते हैं ।

"तेसिणँ अँजणग पव्वयाणँ वहु समरमणिज्ज भूमि भाग पँ० तेसिणँ वहु समरमणिज्जाणं भूमि भागाणँ वहुमज्ज देस भाए चत्तारि सिद्धायणा प० तेण सिद्धायणा एगं जोयणसयं आयमेल पँ० पण्णासँ जोयणँ विक्खँमेण बावतरि जोयणे उड्ढ उच्चताणं ।" इत्यादि ।

जीवाभिगय सूत्र प्र० ४

नन्दीश्वर द्वीप में जैसे ऊपर के पाठ में चार अजनगिरि पर्वतो पर चार सिद्धायतन (जिन मन्दिर) बतलाया है वैसे ही १६ दधीमुखा पर्वतो पर १६ और ३२ कनक गिरि पर ३२ एवं

५२ सिद्धायतन (जिन मन्दिर) और उन मन्दिरों में सैकड़ों जिनप्रतिमाऐं हैं उनकी यात्रार्थ चारण मुनि गये हो और अन्य भव्यों को यात्रा करने के भावों में वृद्धि हो इस गरज से शास्त्र-कारों ने इसका वर्णन किया हो तो यह है भी यथार्थ कारण शक्ति के होते हुए तीर्थ यात्रा करना क्या साधु और क्या श्रावक सबका यह प्रथम कर्त्तव्य है। इसी उद्देश्य को लक्ष में रख असंख्य भावुकों ने बड़े २ संघ निकाल कर यात्रा की है शायद् हमारे ऋषिजी का जन्म जैन कुल में हुआ हो तो आपके पूर्वजो ने भी इस पवित्र कार्य में अवश्य लाभ लिया ही होगा।

नन्दीश्वर द्वीप में वे प्रतिमाऐं किसकी है इसके लिये खुद हमारे ऋषिजी क्या फरमाते हैं उसको भी सुन लीजिये।

"तासिणं मणिपेढियाणं उवरि चतारि जिणपडिमाओ सव्वरयणामइयाओ सपलअंक णिसरणाओ थुभाभि मुहीओ चिठ्ठति तं रिसभा वद्धमाणा चंदाणणा वारिसेणा।"

श्री स्थानायागसूत्र ४-२ पृष्ट९२८

इस पाठ में जिनप्रतिमाओं का नाम ऋषभ वर्द्धमान चन्द्रा-नन और वारिसेण जो जैनतीर्थकरों केशाश्वते नाम है, उन्हीं तीर्थ-करों की मूर्तियां बतलाइ है जिनके नाम की माला एवं जाप हमारे स्थानकवासी भाई हमेशां करते हैं उन्हीं की मूर्तियों को वन्दन नमस्कार करने में वे लोग शरमाते हैं यही तो एक आश्चर्य की बात है अर्थात् अज्ञानता की बात है।

कितनेक जैनशास्त्रों के अनभिज्ञ लोग यह सवाल करते हैं कि चारणमुनि यदि यात्रार्थ गये और वह जिनमन्दिरोंकी एवं जिन

प्रतिमाओं की वन्दन की हो तो रूचक द्वीप और मानुषोत्तर पर्वत पर भी 'चेइयाइं वंदइ' का पाठ है और वहां पर न तो सिद्धायतन (जिन मन्दिर) और न जिनप्रतिमा ही कही है वो फिर कैसे माना जाय कि चारण मुनियों ने चैत्य (जिन बिंब) को वन्दन किया था ?

यह सवाल पहिले तो आपके पूर्वज लौंकागच्छीयों से करे कि आपने चेइयाइं का अर्थ जिनबिंब किस आधार से मान लिया और जिन बिंब को आप क्यों वन्दन करते हो ? इसका उत्तर जिस प्रकार वे जैन शास्त्रों द्वारा समझे है उसी प्रकार आप कों समझा कर समाधान कर देगा क्यों कि पहले तो वे लोग भी आपकी भांति इन बातों को मानने से इनकार ही करते थे पर बाद में उन्होंने जैनशास्त्रों का खुब बारीकी से अवलोकन किया और इस बात को स्वीकार की है जैनागमों में इस विषय के उल्लेख निम्नांकित हैं ।

> "चउसुवि एसुयारेसु, इक्किकं नरनगंमि चतारि ।
> कुडोवरि जिणभवणा, कुलगिरि जिणभवण परिमाणा ।
> तत्तो दुगुण पमाणं चउदारा युत्त वणि या सुरूवा ।
> नंदीसर बावण्णा चउ कुंडले रूपगे चतारी ॥

द्वीपसागर पण्गतिसूत्र

भावार्थ चार इक्षुकार पर्वत पर, और मानुषोत्तर पर्वत पर, चार कूट पर चार जिनमन्दिर हैं वे कुलगिरि के जिनभुवन के प्रमाण वाले हैं और इन से दुगुण प्रमाण वाले तथा चार द्वार संयुक्त विस्तृतवर्णित और स्वरूपवाले ५२ जिनमन्दिर नन्दी-

रवरद्वीप में और कुण्डलगिरि में ४ एवं रूचकवरद्वीप में चार जिन मन्दिर है।

हमारे स्थानकवासी साधु यह भी नहीं कह सकते हैं कि हम द्वीपसागरपन्नतिसूत्र को नहीं मानते हैं क्योंकि श्रीमान् ऋषिजी ने अपने श्री स्थानायांगसूत्र में चार पन्नति सूत्र को माना है यथाच—

"चत्तारि परणत्तिश्रो परणत्ता त जहा, जम्बुद्दीपरणत्ति चंदपरणत्ति सूरपरणत्ति, दीवसागरपरणत्ति।"

'स्थानायांग सूत्र चतुर्थ स्थान'

हमारे स्था. भाई! स्थानायांगसूत्र को गणधर कृत मानते हैं जिस में चार पन्नतिसूत्र कहा है उन में से तीन को मानना और एक को नहीं मानना इस का क्या अर्थ हो सकता है? यदि मन्दिर मूर्ति के कारण ही नहीं माना जाता हो तो यह बडी भारी भूल है कारण आप जिन तीन पन्नति सूत्रों को मानते हैं उनमें जम्बुद्वीप पन्नति सूत्र है उस में जम्बुद्वीप के ९१ पर्वतो पर सिद्धायतन एवं जिन प्रतिमाओ का सविस्तार वर्णन हैं उसको तो भगवान की वाणी मानना और जम्बुद्वीप पन्नति के सदृश दीपसागर पन्नति सूत्रमें इक्षुकारादि पर्वतों पर मन्दिरों का अधिकार होने पर भी उसको न मानना यह अनभिज्ञता के सिवाय है क्या? कुछ नहीं। क्योंकि नन्दीश्वर द्वीप में ५२ मन्दिर और सेकड़ो जिन प्रतिमाओं को मानना और रूचकवर या कुण्डलद्वीप के मन्दिर मूर्तियों का सूत्रोंमें मूलपाठ होने पर भी नहीं मानना इसका ही तो नाम पक्षपात और हट कदाग्रह है? भले ऋषिजी आप अपनी आत्मा को जरा पूछो कि जिस लौंकाशाह के हम अनुयायी कहलाते हैं उस लौंकाशाह के विद्वान अनुयायियों ने इन सूत्रों को

सादार मान लिया और आप नहीं मानते हैं इसका कारण क्या है ? तो आपको स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि सिवाय पक्षपात के और कोई भी तथ्य नही है ।

कई लोग भद्रिक जैनों को यों बहका देते हैं कि जम्बुद्वीप के बाहर लवणसमुद्र है उनकी बेल का पानी १६००० योजन ऊंचा है तो क्या चारण मुनि नन्दीश्वरादि द्वीप में जाते हैं तो पानी के अन्दर से जाते हैं पर इस सवाल से तो जैन शास्त्रों की अनभिज्ञता ही सिद्ध होती है क्योंकि सूत्रों मे चारणमुनियो की गात इस प्रकार फरमाई हैं ।

"इमीसेण रयणप्पभाए पुढवीए बहु समरमणिज्जाउ भूमि भागाउ सातरगाइं सतरस्स जोयण सहस्साइं उड्ढ उप्पातिता ततो पच्छाचारणाण तिरिअगती पवातती ।"

समवायांगसूत्र पृष्ट ४९—५०

टब्बा—ऐहीज रत्नप्रभा पृथ्वी ने विषे घणो रमणीक-समो भूमिभाग छे ते थकी झाझेरो बी कोस अधिक सत्तर योजन सहस्त्र लगे उच्चोउत्पति उड ने एतले लवणसमुद्रनो शिखा लगे ऊचो उत्पती तिवारे पच्छी जंघाचारण विद्याचारण नी तिरछी गति प्रवृते तिरछई दीपे-रुचकवरदीपे एम नन्दीश्वरदीपे जिनप्रतिमा वांदवा जावई ।

लौंकागच्छीय संशो० समवायांग सूत्र पृष्ट ४९

यही सूत्र पाठ ऋषिजी ने अपने अनुवादित समवायांग सूत्र में दिया है ।

इस लेख से चारण मुनियों की गति सत्रह हजार योजन कुछ अधिक ऊँची बतलाई है और वे जिनप्रतिमा वन्दन को

जावे ऐसा भी लिखा है यह आपके ही घर का प्रमाण है फिर इनसे अधिक आप चाहते ही क्या हो ?

अब जो ऋषिजी ने चारण मुनियों की यात्रा में 'चेइयाइं वंदइ' चैत्यवन्दन का असली अर्थ को बदला कर चैत्य का अर्थ 'ज्ञान'※ किया है यह वास्तव मे ठीक है या केवल पक्षपात ही है ? देखिये खुद ऋषिजी ने अन्य सूत्रों में चैत्य शब्द आया है वहां चैत्य का अर्थ प्रतिमा किया है उदाहरण लीजिये—

१—उववाई सूत्र में चेइया—चैत्य का अर्थ ज्ञान न करके यक्ष का मन्दिर किया है जो वास्तव में जैन मन्दिर था।

२—उववाई सूत्र "पूर्णभद्द चेइए" का अर्थ किया है मंदिर.

३—प्रश्नव्याकरण सूत्र पहला अध्यायन पृष्ठ ८ पर चैत्य का अर्थ स्वामीजी ने प्रतिमा किया है।

४—प्रश्नव्याकरण सूत्र के पहला अध्याय पृष्ठ ११ पर चैत्यका अर्थ वेदिका किया है।

५—प्रश्नव्याकरण सूत्र पांचवां अध्ययन पृष्ठ १२२ चैत्य का अर्थ प्रतिमा किया है।

६—इसी प्रकार स्वामि जेठमलजीने समकितसार नामक

※—स्थानकवासी साधु जहा अरिहंत के चैत्य (मन्दिर मूर्तियों) शब्द आता है उसका अर्थ मन्दिर मूर्ति न कर कहा ज्ञान कहाँ साधु कर बि-ारे भोले लोगों को बहका देते है पर ऐसा किसी सूत्र मे नहीं लिखा है। ज्ञान को० नन्दी सूत्र तथा भगवती सूत्र मे पाच प्रकार का ज्ञान कहा है न कि पाच प्रकार के चैत्य और सुयगडांग सूत्र में साधुओं के १३ नाम वतलाये हैं पर वहां भी चैत्य को साधु नहीं कहा है इतना हीं क्यों पर खास स्वामीजी चैत्य शब्द का अर्थ प्रतिमा करते हैं।

ग्रन्थ के पृष्ठ १२४-१२६ चैत्य का अर्थ प्रतिमा किया है। पृष्ठ १०६ पर भी चैत्य का अर्थ प्रतिमा किया है शायद आपका ही अनुकरण ऋषिजी ने किया हो।

६—यदि चैत्य का अर्थ ज्ञान करना ही ऋषिजी का अभीष्ट है तो पूर्वोक्त आपही के अनुवाद मे चैत्य शब्द आया है वहाँ भी ज्ञान ही करना था कि आपका ज्ञान अधर्म और परिग्रह में समझा जाता जैसे आपने प्रतिमा के लिये बतलाया है परन्तु आपको तो येन-केन प्रकारेण श्री तीर्थंकरदेवो की प्रतिमा की करनी है निंदा। परन्तु अब वह जमाना नही रहा है कि, जनता ऐसी अघटित घटनाओ को मानकर अपना अहित करने को तैयार हो; दूसरे तो क्या पर अब तो खास स्थानकवासी समाज में भी लोग समझने लग गये हैं देखिये'—

७—स्थानकवासी समाज के अग्रगण्य विद्वान और शतावधानी मुनिश्री रत्नचन्द्रजीने अपने अर्धमागधी कोश मे चैत्यका क्या अर्थ किया है।

"अरिहत चेइया (पु०ना) अर्हचैत्य अरिहंत सम्बन्धी कोई पण स्मारक चिन्ह"

८—अरिहन्तो के स्मारक चिन्ह जैनमन्दिर पादुका स्तूप वगैरह ही होते हैं ऋषिजी इससे बढ़के क्या प्रमाण चाहते हैं यदि और भी किसी को शंका हो तो हम प्राचीन प्रमाणो को और भी उद्धृत कर देते हैं।

९—अनेक (१४४४) ग्रन्थो के निर्माणकर्त्ता महाविद्वान आचार्य हरिभद्रसूरी जो विक्रम की सातवी शताब्दी मे एक जगत् प्रसिद्ध जैनाचार्य हुए जिनकी विद्वताकी प्रशंसा हमारे मुनि श्री संतबालजीने अपनी 'धर्मप्राण लौंकाशाह' की लेखमाला में की है भगवान्

श्रीहरिभद्रसूरि ने चैत्य शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है।

"चेइया ! चेइया सद्दी रुढो जिणिंद पडिमा"

१०—नौ अंग टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि ने चैत्यशब्द का अर्थ अर्हंत प्रतिमा ही किया है।

११—आगे कलिकाल सर्वज्ञ भगवान् हेमचन्द्रसूरि ने कहा है कि—

"चैत्यं जिनौ कः तद्बिंबन्

१२—लौंकागच्छीय आचार्य अमृतचन्द्रसूरि चैत्य शब्दका अर्थ जिनभुवन और जिनबिंब किया है।

१३—लौंकागच्छीय विद्वान रामचन्द्रगणि तथा आपके विद्वान शिष्य नानगचन्द्रजी ने चैत्य का अर्थ जिनमन्दिर जिन प्रतिमा ही किया है।

१४—आगे एक अंग्रेज विद्वान ने चैत्य का अर्थ निम्नोक्त किया है।

Such establishment consists of a park or a garden enclosing a temple and rows of cells for the accommodation of monks, some times also a stupa or sepulchral monument The whole complex is not un-usually called a chaitya

अर्थात्—इस नामवाली जगहमें बगीचा या उद्यानका समावेश होता है। उसी के अन्दर एक मन्दिर होता है और साथ में कईएक कोटरियाँ होती हैं जिनमें साधुओं का निवास होता है। इसके उपरान्त कहीं कहीं एक स्तूप या समाधिस्तम्भ भी होता है, उस समग्र स्थान को चैत्य के नाम से ठीक ही विभूषित किया जाता है। प्रोफेसर होर्नल

पूर्वोक्त ऋषिजी, जेठमलजी, शतावधानी मुनि श्रीरत्नचन्द्रजी के तथा पूर्वाचार्यों और पाश्चात्य विद्वानों के पुष्ट प्रमाणों से यह प्रमाणित हो चुका है कि चैत्य का अर्थ मन्दिर, मूर्त्ति, स्तूप और

पादुका ही होता है इससे जो ऋषिजी ने चैत्यका अर्थ कहीं पर छद्मस्थ तीर्थंकर, कहीं पर साधु, और कहीं पर ज्ञान किया है यह भ्रमणा एव कल्पना मात्र ही है और इस मिथ्या अर्थ करने का हेतु विचारे ग्रामरय भद्रिक जनता को भ्रममे डाल अपने पंजों में फसाई रखना ही है।

शायद ऋषिजी ज्ञानी के गुणानुवाद को चैत्यवन्दन ही समझते हों क्योंकि चैत्यवन्दन में भी उन्हीं ज्ञानी तीर्थंकरों के गुणानुवाद ही आते हैं तो यह ठीक भी है विद्याचारण जंघाचारण मुनिवरों ने नन्दनवन पांडकवन नदीश्वर 'रूचक' मानुषोतर और स्वस्थान (जहां से गये थे) के मन्दिरों में जा जाकर चैत्यवन्दन (ज्ञानी तीर्थंकरों का गुणानुवाद) किया था इसमें हमारा मतभेद भी नहीं है और अन्य भाइयों को भी माननेमे किसी प्रकार की आपत्ति नहीं आती है। अतएव यह स्पष्ट सिद्ध है कि जैन-धर्मावलम्बी क्या साधु-साध्वी और क्या श्रावक-श्राविका सबको अपने पूज्याराध्यदेवों के मन्दिर मूर्तियो को पूज्य भाव से मानना और यथाधिकार द्रव्य भाव से पूजा कर आत्मकल्याण अवश्य करना चाहिये।

यदि कोई सज्जन यह सवाल करें कि यदि चारणमुनि तीर्थ-यात्रार्थ ही पूर्वोक्त स्थानो मे गये थे तो वापिस आने के बाद आलोचना लेना क्यो कहाँ ? उत्तर में यह सवाल तो ज्ञानी के गुणानुवाद के लिये भी ज्यों का त्यों हो सकता है पर इसका तात्पर्य यह है कि साधु १०० कदम के आगे जाता है उसको आलोचना अवश्य करनी पडती है फिर चाहे वह गोचरी जावे, थंडिलभूमिका जावे, मन्दिर जावे, गुरु के सामने या पहुचाने को

जावे, उसको वापिस आकर आलोचना अवश्य करनी पड़ती है यदि आलोचना नहीं करे तो आराधिक नहीं हो सकता है। इसी भाँति चारण मुनि करोड़ो योजन जाकर आवें तो आलोचना करनी ही चाहिए। इसके अलावा जघा विद्याचारणों को ऊपर जाते समय नीचे जिनालय और साधु वगैरह आते हैं उन्ही के ऊपर से जाना पड़ता है इसी कारण भी यहां आकर वे आलोचना लेते हैं। परन्तु ऐसी लीचर दलीलें करने में सिवाय समय शक्ति का व्यय के और क्या फायदा है। ❀

अस्तु। अब हम स्वामीजी के अनुवादित श्री ज्ञातासूत्र की ओर देखते हैं तो आप को अनुवाद करने की योग्यता का हमें पूर्ण परिचय मिल जाता है कारण अर्थ पलटाने की वृत्ति तो आपके पूर्वजो मे ही चली आई है परन्तु आपने तो मूलसूत्रों के पाठके पाठ बदल दिये हैं। एक शताब्दी पूर्व आपके पूर्वज स्वामि जेठमलजी हुए उन्होने मूर्तिपूजा के विरोध में एक समकितसार नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें महासती द्रौपदी की पूजा विषय चर्चा करते हुए श्रीज्ञातासूत्रका मूलपाठ दिया है और श्रीमान् अमोलख-र्षिजी ने ज्ञातसूत्रका हिन्दी अनुवाद करते समय द्रौपदी की पूजा समय का मूलपाठ दिया है। उन दोनों के मूलपाठ यहाँ पर उद्धृत कर हम हमारे पाठकों को यह बतला देना चाहते हैं कि इन मूर्तिपूजा नहीं मानने वालो में कितना ज्ञान और विचार है वह स्वयं समझ लें।

❀ चैत्य शब्द का अर्थ मन्दिर मूर्त्ति के अलावा और भी होता है पर जहाँ मन्दिर मूर्त्ति का ही अर्थ होता है वहाँ दूसरा अर्थ करना अनभिज्ञता को ही जाहिर करता है।

स्वामि जेठमलजी.

"तएणं सा दोवइ रायवर कन्ना जेणवमज्जणघरं तेणव उवागच्छइ २ ता मज्जणघरं मणुप्पवंसइ २ ता एहाया कय-चलिकम्मा कयकोउय मगल पायछीत सुद्ध प्पवेसाइ मग-लाइं वत्थाइं पव्वर परिहिया मज्जणघराओ पडिणिक्खमई २ ता जेणेव जिणघरं तेणेव उवागच्छइ २ ता जिणघर मणुप्पवेसइ जिणपडिमाण आलोय पणामं करइ २ ता लोमहथ पम्हज्जइ एव जहा सुरियाभो जिणपडियाओ अच-णइ तेहव भाणियाव्व जाव धूवडहइ २ ता वाम जाणू अचइ २ ता दाहिणं जाणू धरणि तल सनिवइ २ ता तिखुतो मुद्धाण धरणि तल निवसइ २ ता इसिं पच्चूण-मइ २ ता करयल जाव तिकट्टु एवं वयासी नमोत्थुण अरि-हंताण भगवताण जाव संप-ताणं वंद णमंसइ २ ता"

समकित सार ग्रन्थ पृष्ट ७०

स्था० साधु अनमोलखपिजी

"ततेण सा दवती राय-वर कन्ना काल्लं पाउप्प-भाए जेणेव मज्जणघरं तेणव उवागच्छइ २ ता मज्जणघरं मणुप्पवंसइ २ ता एहाय जाव सुद्ध पा-वेसइ मगलाइ वत्थाइं पवर परिहिया जिणपडिमाणं अच्चणं करेति २ ता जेणेव अंतेउर तेणेव उवागच्छइ"

श्री ज्ञातासूत्र पृष्ट ६२४

× × ×

× × ×

हिन्दी अनुवाद

प्रातःकाल होते ही राज-कन्या द्रौपदी मज्जनगृह में गई वहाँ स्नान किया यावत् राजसभा में प्रवेश करने योग्य शुद्ध वस्त्र पहिने जिनप्रतिमा की अर्चन की फिर अंतपुर में आई।

महासती द्रौपदी जैनमन्दिर में चैत्यवन्दन कर रहीं हैं
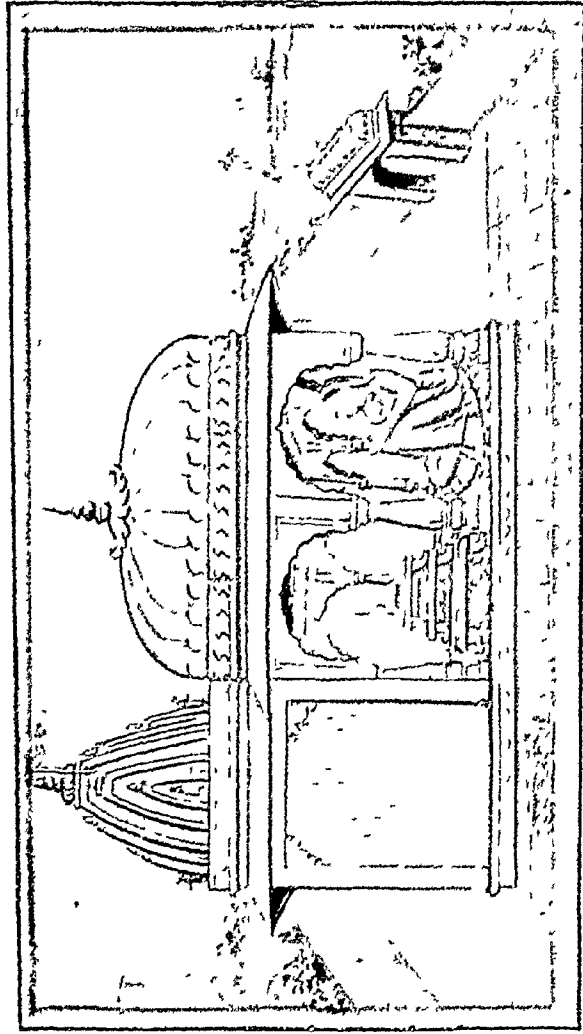
"जेणेव जिणघरं तेणेव उवागच्छई × × × एवं वयासी 'नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं-जाव-संपत्ताणं"
(ज्ञातासूत्र अ० १६) कामदेव की प्रतिमा कहने वाले जरा विचार कर उत्सूत्र के वज्रपाप से डरें।

उपरोक्त पाठ का अर्थ स्वामी जेठमलजी ने इस प्रकार किया है।

त-तिवारे सं० ते द्रौपदी रा० राजवरकन्या जे० जहाँ म० स्नानन्नुं घर ते० तिहाँ उ० आवे आवीने न्हा० न्हावई के० किधा-बली कर्म-पीटी प्रमुख कर्या क० कौतुक मंगलीक पाणीनी अंजली भरी कोगला कर्या पा० आभरण पेहेरी तिलकमासकरी स० शुद्ध निर्मल उत्तम मं० मंगलीक वस्त्र प० प्रधान प० पेहेर्या मं० मज्जन जे न्हावाना घर थकी निकली निकलीने जे जहाँ जि० यत्तनुघर ते तिहाँ उ० आवे आविने जिनना घर मांही प्रवेश करे करी ने प्रतिमाने जोई ने प्रणाम करे वांदे नमस्कार करे करीने मोर पीछी नी पुजणी सुंपुंजे इम जिम सुरियाभदेवे जिम जिनप्रतिमा ने पूजी तिम पूजे तिम सर्वकहवु जावत् धूप उखेवे २ ने डावा पगनो ढ़ीचण उचो राखे राखीने जिमणा पगनो ढ़ीचण धरणी तले नमाड़े भूई नमाड़ी ने ता० त्रणवेला मु० मस्तक भूमि तले लागड़े लगाड़ी ने ईषत् लागारेक माथु भूई नमाडे नमाड़ी ने करतल हाथ जोड़ी यावत् इमकही चैत्यवन्दन करे नमस्कार णकार वचनालंकार अरिहंतो प्रते भगवंतो प्रते ज्ञान-मय आत्माछे जेहने यावत् प्राप्ती मुक्ति पोता सीम वांदे नमस्कार करे नमस्कार करीने ॥

समकितसार ग्रन्थ पृष्ठ ७०

स्वामि जेठमलजी और अमोलखर्षिजी ये दोनों साधु स्थानक वासी और मूर्त्तिपूजा के कट्टर विरोधी हैं जेठमलजी ने वि० सं० १८६५ में समकितसार नामक ग्रन्थ बनाया कि जिसमें उपरोक्त पाठ एवं अर्थ मुद्रित हैं तब अमोलखर्षिजी ने वि० सं० १९७७ में सूत्रों का हिन्दी अनुवाद किया है इन दोनो के मूल पाठ में

आप ऊपर दिये हुए पाठ से भली भाँति जान गये हैं कि ऋषिजो ने तो जेठमलजीके जितनी भी उदारता नहीं बतलाई कि वे मूलसूत्र में पाठ था उसको बिलकुल छोड़कर सिर्फ टीका में वाचनांतर का पाठ था वह थोडासा पाठ दे दिया परन्तु मूर्त्तिपूजा तो उस पाठ से भी सिद्ध हो सकती है फिर आपकी तस्कार वृत्ति (निन्हवता) का फल क्या हुआ और या तो जैन शास्त्रों की शैली है कि किसी विषय का कहाँ सामान्य और कहाँ पर विशेष वर्णन किया जाता है श्रीजेठमलजी ने सूरियाभ के माफिक द्रौपदी ने पूजा की लिखा है तब अमोलखर्षिजी ने जिन प्रतिमा का अर्चन किया लिखा है परन्तु इसका मतलब तो एक ही है कि महासती द्रौपदी ने जिन प्रतिमा पूजी थी।

अब स्वामि जेठमलजी के अर्थ करने की विद्वता की ओर भी जरा झाँकी कर देखिये आप 'कयबलिकम्मा' का अर्थ स्नान करने के बाद पीटी (तेल और आटा-लोट मिश्रित द्रव्य की मालिस) करना लिखते हैं यह आगम विरुद्ध तो है पर साथ में लोकविरुद्ध भी है कारण स्नान करने के बाद कोई समझदार पीटी नहीं करता है वास्तव मे 'कयबलिकम्मा' पाठ का अर्थ है द्रौपदी ने घर देरासर का पूजा की थी आगे 'जिनघर' का अर्थ तो आप यक्ष का मंदिर करते हैं और चैत्यवन्दनमुद्रा से द्रौपदी को बैठा के नमोत्थुणं, अरिहंत भगवंत अनंत ज्ञानमय आत्मा और मुक्ति प्राप्त किये हुए सिद्धों को दिलवाते हैं इसके अलावा योग्यता (!) ही क्या हो सकती है।

स्वामि जेठमलजी ने अपने दिये हुए मूलपाठ और उसको अर्थ में यह भी बतलाया है कि द्रौपदी ने जिनप्रतिमा की पूजा

सुरियाभ देव की मुवाफिक की है और सुरियाभ देव ने जिन प्रतिमा की सत्रह प्रकार की पूजा करके नमोत्थुण देकर अपने हृदय में रही हुई तीर्थङ्करों की भक्ति का परिचय दिया उसको हम गत प्रकरण के पृष्ठों में सविस्तार लिख आये है परन्तु ऋषिजी का हृदय कितना सकोर्ण है कि आपने उस पाठ को ही छोड़ दिया और उस पाठको अपने अनुवादमें देदिया परन्तु आपके ही अनुयायो स्वामि रूपचन्दजी ने अपने 'श्रीमद् रायचन्द विचार निरीक्षण' नामक पुस्तक के पृष्ठ १८-१६ में लिखा है कि—

"द्रोपदी स्वयंभर मण्डप में जाता पहिला जिनप्रतिमा नो पूजन कर्यु छे × × × ते जगह जिनप्रतिम नी वार्ता छे अने नमोत्थुण अरिहंतोने भगवंता ने नमस्कार हो तेम पण छे इत्यादि ।"

स्थानकमार्गी भाई जिनघर (जिन मन्दिर) जिन प्रतिमा और द्रौपदी की पूजा तथा नमोत्थुण देना तो मानते हैं परन्तु कई लोग यह सवाल कर बैठते हैं कि द्रौपदी पूर्वभव में निधान * किया था इसलिए उसको पूजा करने के समय समकित नहीं था ।

यदि द्रौपदी को उस समय समकित न होता तो विवाह जैसा संसारिक रंग-राग के समय वह घर देरासर की पूजा कर नगर मन्दिर में जाकर सत्रह प्रकार से जिनपूजा और नमोत्थुणं देकर यह प्रार्थना क्यों करती कि—तिन्नाणं तारयाणं, बुद्धाणं बोहियाण मुत्ताणं मोयगाणं सव्वन्नूणं सव्वदरसिणं" क्या सम्यक् दृष्टि के सिवाय ऐसे उद्गार किसी का निकल सकता है । नहीं

---

* इस विषय में मेरी लिखी हुई 'सिद्ध प्रतिमा मुक्तावलि' नामक तथा मूर्त्तिपूजा विषयक प्रश्नोत्तर किताब देखो ।

कदापि नहीं। खैर ? द्रौपदी न तो हमारे सम्बन्धियों में है और न आपके सम्बन्धियो मे है कि उसके सम्यग्दृष्टि होने या नहीं होने के झगड़े मे अपन पड़ें पर इतना तो स्पष्ट सिद्ध है कि द्रौपदी के समय जैनमन्दिर मूर्त्तियाँ थी और जैन लोग इन मंदिर मूर्त्तियों की सेवा-पूजा कर नमोत्थुणं द्वारा तीर्थङ्करों की स्तुति करते थे और द्रौपदी का समय जैनशास्त्रानुसार ८७००० वर्षों का है ८७००० वर्षों पूर्व तो जैनो मे मन्दिर मूर्त्तियों का मानना हमारे स्थानकमार्गी साधुओ के कथनानुसार सिद्ध होता है और इस बात को स्थानकवासी समाज को खुल्लमखुल्ला मानना ही पड़ेगा चाहे वे आज माने चाहे कल व कालान्तर मे परन्तु मानना अवश्य होगा जैसे स्वामि हर्षचन्दजी ने माना है।

इनके अलावा और भी आगमो मे मूर्त्ति विषयक प्रमाण प्रचुरता से मिल सकते हैं पर ग्रन्थ बढ़ जाने के भय के कारण यहाँ विशेष उल्लेख करना मुलतवी रखा है जब इतने आगमों से मूर्त्तिपूजा सिद्ध है तो दूसरे आगमों मे मूर्त्तिपूजा विषय उल्लेख होने में सदेह ही क्या हो सकता है ?

जैनागमों में जिस प्रकार तीर्थङ्करों की मूर्त्तियो का वर्णन है इसी प्रकार स्थापनाचार्य का भी उल्लेख है क्योंकि प्रतिक्रमण सामायिकादि धर्म क्रिया करने के समय स्थापनाचार्य की भी परमावश्यकता है यदि स्थापना न हो तो, क्रिया करने वाला आदेश किस का ले और बिना गुरु आदेश क्रिया हो नहीं सकती है इसलिये ही शास्त्रकारों ने स्थापनाचार्य रखने का विधान बतलाया है। जैसे कि—

"दुवालसावते कित्तिकम्मे प० तं० दुउणयं जहा जायं किंतिकम्म बांरसावय चउसिर तिगुते दुपवेसं एग निक्खमण।"

टब्बा—बारें आवर्त माहें ते कीर्ति-कर्म वांदणाकह्या भगवंते श्री वर्द्धमान स्वामि० ए ते कहे छे बे अवनंत बे बेला मस्तक नमाड़वा गुरुनी स्थापना कीजे तेह थकी अऊट हाथ वेगला रही पड़िकमीए आउट हाथ मोहो अविग्रह कहिये ऊँभा थका इच्छामिखमा समणो कहिये बिहुवांदणे बिहु वेला मस्तक नामाडिवे पच्छे अवग्रह माही आंविये यथा जातमुद्रा, जन्म अवसरी बालकनी परे बलोटी भरी हाथ जोड़्या रही कीर्ति-कर्म वांदणा कर आवर्त छ वेला गुरु ने पगे वांदणा कीजे 'अहोकायं काय' एपाठ कही बिहुवाला थइ १२ वारा आवर्त यथा चोसरो ४ वेवलागुरु ने पगे मस्तक नमाड़िये। त्रीणगुप्ति मन वचन काया नी गुप्ति कीजे। उपवेस वी वेला वांदणा ने अर्थे अवग्रह मांही आवेने एकवार निखमण अवग्रह वाहिरि निकले पहिले वांदणे एकवार निकलो बीजे वेला गुरु पगे वेठोज वंदणो समापीए पाठ कही एह समवायांग वृति नो भाव।

लोंका० वि० संशो० समा० टब्बा सा० पृष्ट ३५-३६।

यदि कोई सज्जन कहे कि हम स्थापना नहीं रख कर श्री तीर्थङ्कर सीमधर स्वामि का आदेश ले सकते हैं तो समझना चाहिये कि भरतक्षेत्र मे शासन सीमधर स्वामि का नहीं पर भगवान् महावीर के पट्टधर सौधर्म गणधर का है वास्ते उनकी स्थापना अवश्य होनी चाहिये तीर्थङ्कर सामंधर के और भगवान् महावीर के आचार व्यवहार क्रिया में कई प्रकार का अन्तर है और श्री

सीमंधर का आदेश लेते हो वह भी कल्पना मात्र ही है क्योंकि सीमंधर स्वामि वहाँ तो मौजूद नहीं हैं केवल उनकी ईशान दिशा में किसी प्रकार की कल्पना ही की जाती है। तो फिर साक्षात् स्थापना मानने में हट करना तो एक प्रकार का दुराग्रह ही है। अतएव जैसे जिनके अभाव जिनप्रतिमा की आवश्यकता है इसी भाँति आचार्य के अभाव में स्थापना आचार्य की जरुरत है।

अब हम स्थानकमार्गीसमाजके माने हुए ३२ सूत्रों के अन्दर मूर्तिपूजा विषयक सूत्रों में पाठ है उनका संक्षिप्त में दिग्दर्शन करवा देते हैं।

(१) श्री आचारांगसूत्र श्रु० २ अ० १५ चतुर्दश पूर्व धर आचार्य श्री भद्रबाहु कृत निर्युक्ति का पाठ।

अट्ठवयमुज्जंत गयग्गपएवं धम्मचक्केया।

पास रहावत्तणय चमरुप्पयंव वन्दाम्मि ॥४९॥

भावार्थ—अष्टापदतीर्थ, गिरनार तीर्थ, गजपद धर्मचक्रतावर्त्त और जहाँ चमरेन्द्र ने भगवान् महावीर का शरणा ले सौधर्म स्वर्ग में गया उन सब तीर्थों को वन्दन करता हूँ। यह सम्यक्त्व की प्रशस्त भावना है अर्थात् इन तीर्थों की यात्रा करने से समकित निर्मल और आत्मा का विकास होता है। आचार्य भद्रबहुस्वामी के बनाये श्रीव्यवहारसूत्र वृहत्कल्पसूत्र, दशाश्रुत स्कन्धसूत्र, हमारे स्थानकवासी भाई बत्तीससूत्रों में शामिल मानते हैं इसलिये यहा भद्रबाहुकृत निर्युक्ति का उल्लेख करना युक्तियुक्त है।

(२) श्री सूयगड़ांगसूत्र श्रु० २ अ० ६ श्री गन्धहस्ती आचार्य (वि० सं० २१४) कृत टीकानुसार आचार्य शीलांगाचार्य (वि० स०९३३) कृत टीका।

"ततोऽभयन प्रथम जिन प्रतिमा वहु प्राभृत युताऽर्द्रक कुमाराय प्रहिता"

भावार्थ—इस पाठ में राजकुमार अभयकुमार ने आर्द्रक-कुमार को प्रतिबोधनार्थ श्रीजिनप्रतिमा भेजी और उसके दर्शन से आर्द्रककुमार को जातिस्मरण ज्ञान हुआ और उसने भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण कर मोक्ष पद प्राप्त किया।

(३) श्रीस्थानयांगसूत्र
(४) श्रीसमवायांगसूत्र
(५) श्रीभगवतीसूत्र
— इन सूत्रों के मूल पाठ और अर्थपिछले-प्रकरणो में आगये हैं।

(६) श्रीज्ञातासूत्र

(७) श्रीउपासक दशांगसूत्र

(८) श्रीअंतगढ़दशांगसूत्र
(९) श्रीअनुत्तरोववाईसूत्र
— इन दोनों सूत्रो में नगरों के वर्णन मे उववाईसूत्र के सदृश बहुला अरिहंत चेइया पाठ है।

(१०) श्री प्रश्न व्याकरण सूत्र *"चेइयट्ठे निज्जराट्ठी"*

साधुओं के व्यावच्चधिकार में यह पाठ आया है और इसका अर्थ है कि किसी भी चैत्य—मदिर—की आशातना होती हो तो जैसे बने वैसे उसको दूर करे या करावे। जैसे स्थानायोगसूत्र मे साधु सघ (साधु साध्वी श्रावक और श्राविका) की वैयावच्च करने का उल्लेख है और व्रजस्वामि जैसे दश पूर्वधरों ने ऐसा किया भी है।

(११) श्रीविपाकसूत्रद्वि० श्रु० के दशों अध्ययनो में राजकुमार सुबाहु आदि अनेक श्रावक श्राविकाएँ तुंगीयानगरी के श्रावकों

के सदृश तथा महासती द्रौपदी की तरह श्रीतीर्थंकरो की मूर्त्ति की भक्ति पूर्वक पूजा की थी।

(१२) श्री उववाईजी सूत्र

(१३) श्री रायप्पसनीसूत्र
(१४) श्री जीवाभिगमसूत्र
(१५) श्रीजम्बुद्वीपपन्नति०
— इन चारों सूत्रो के मूल पाठ पिछले प्रकरणों में विस्तार पूर्वक आगये हैं।

(१६) श्री पन्नावगासूत्र ' ठवणा सच्चा' भाषापद.

(१७) श्री सूर्य प्रज्ञाप्ति
(१८) श्री चन्द्र प्रज्ञाप्ति
— इन दोनों सूत्रों में राजधानी अधिकारे 'अट्ठसयजिण पडिमाणं' पाठ आता है

(१९) निरियावलिकासूत्र, कालि आदि दश राणियों जयन्ति मृगावती और द्रौपदी के मुवाफिक जिनप्रतिमा की पूजा की।

(२०) कप्पवडिसियासूत्र पद्मादि श्रेणिक के दश पौत्रों ने वीतराग देवों की पूजा की जैसे तुंगियानगरी के श्रावकोंने की थी।

(२१) पुप्फीयासूत्र, सूर्याभदेव के सदृश शुक्रदेव बहुपुत्रा देवी ने प्रभु प्रतिमा की भाव भक्ति पूर्वक पूजा की।

(२२) पुप्फचूलिकासूत्र श्री ह्रीं घृति आदि दश देवियो ने जिनप्रतिमा की पूजा की

(२३) विन्ही दशासूत्र मे निषेढादि बारह श्रावकों ने आनन्द के मुवाफिक जिनप्रतिमा की पूजा की।

(२४) दशवेकालिकसूत्र चूलिका

' सिज्जभव गणहर जिण पडिमा दंसणेण पडिवुद्धा'

शय्यम्भव भट्ट श्रीशान्तिनाथ की प्रतिमा को देखकर

प्रतिबोधित हुए और प्रभवस्वामि के पास जैनदिक्षा ग्रहण कर जैनाचार्य हुए।

(२५) श्री उत्तराध्ययन सूत्र।

"गौतमस्वामी प्रसादमध्ये प्राप्तो निजनिजवर्णप्रमाणोपेताश्चतुर्विंशति जिनेन्द्राणां भरतकारितप्रतिमा ववन्दे तासां चैव स्तुति चकार जगचिन्तामणि जगनाह जगगुरु जगरक्खण इत्यादि"

'दशवाँ अध्ययन टीका'

"तत्प्रभावत्या अन्तेपुरमध्ये चैत्यगृहकारितं तत्रेयं प्रतिमा स्थापिता ताच त्रिकालं सा पवित्रा पूजयति। अन्यदा प्रभावती राज्ञी तत्प्रतिमायां पुरो नृत्यति राजा च वीणा वादयति इत्यादि"

'अट्ठारवाँ अध्ययनटीका'

"प्रत्याख्यानानन्तरं चैत्यवन्दनाकार्य

'उन्नतीसवां अध्य० टीका'

(२६) श्री अनुयोगद्वार सूत्र—

"नाम ठवणा दव्व भाव इत्यादि

निक्षेपाधिकारे

चार निक्षेप के अधिकारे स्थापना निक्षेप में तीर्थंकरों की व आचार्य की स्थापना का विस्तृत उल्लेख है।

(२७) श्री नन्दीसूत्र में 'थुभं' विशाला नगरी में श्री मुनि सुव्रत तीर्थंकर का स्तूप होना लिखा है।

(८ –२९

(२८) श्री व्यवहार सूत्र—

'जत्थय सम्मभावियाइं चेइयाइं पासेज्जा कप्पइ से तस्संतिए आलोइत्ता वा'

'प्रथमोद्देश आलोचनाधिकारे'

किसी साधु के दोष लगा हो और आचार्यादि गीतार्थ का अभाव हो तो वह साधु सुविहित प्रतिष्टित जिनप्रतिमा के पास आलोचना कर सकता है।

(२९) बृहत्कल्पसूत्र के भाष्य में मूर्ति विषयक प्रचुरता से अधिकार है।

(३०) निशीथसूत्र की चूर्णि मे भी मूर्तिपूजा का वर्णन आता है।

(३१) दशाश्रुत स्कन्ध में राजगृहादि नगरियों का वर्णन है जिसमें भी उववाई सूत्र की भलामण दी है जहाँ 'बहुला अरिहन्त चेइया' यानि बहुत से अरिहन्तों के मन्दिर हैं।

(३२) आवश्यकसूत्र में 'अरिहन्त चेइयाणि' × × आदि बहुत विस्तार से जिनमन्दिर जिनप्रतिमा की पूजा का अधिकार है।

पूर्वोक्त ३२ सूत्रों में कहीं सामान्य कहीं विशेष परन्तु जैन सूत्रों में ऐसा कोई भी सूत्र नहीं कि जिसमें जैन मूर्तियों का अधिकार न हो? जैसे सामायिक पौसह वगैरह धार्मिक विधान होने पर भी उनका जितना अधिकार सूत्रों में नहीं है उतना अधिकार मूर्तिपूजा का है। इतना होने पर भी कई अज्ञ लोग कह देते हैं कि ३२ सूत्रों में मूर्तिपूजा का अधिकार नहीं है, वे पक्षपाती और शास्त्रों के अनभिज्ञ हैं उनको भी पूर्व दोनों प्रकरण ध्यान पूर्वक पढ़ने से ज्ञात हो जायगा कि जैन सूत्रों में मूर्तिपूजा खास मोक्ष का कारण बतलाया है। अब अगले प्रकरण में हम

ऐतिहासिक प्रमाणो द्वारा मूर्तिपूजा को सिद्ध कर बतलावेंगे। पाठक ध्यान पूर्वक पढ़ने का प्रयत्न करें। शुभम्

उपसंहार

एक मूर्ति को न मानने से हमारे स्थानकमार्गी भाइयों को कितना नुकसान हुआ है उसको भी जरा पढ़ लीजिये।

(१) मूर्ति न मानने से जो लोग तीर्थ यात्रार्थ जाते थे, मास दो मास आरंभ, परिग्रह, व्यापार और गृह कार्य से निवृति पाते थे, ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करते थे, शुभक्षेत्र मे द्रव्य व्यय कर पुन्योपार्जन करते थे, उन सब कार्यों से उन्हे वंचित रहना पड़ा।

(२) द्रव्य पूजा नहीं करने वाले भी मन्दिर मे जाकर नवकार की माला, नमोत्थुणं या स्तवन बोल तीर्थंकरो की निरन्तर प्रतिज्ञापूर्वक भक्ति कर शुभकर्मोपार्ज्जन तथा कर्म निर्ज्जरा करते थे, उनसे वंचित रहे, वे उल्टे निन्दाकर कर्मबन्ध करने लगे।

(३) मूर्ति नही मानने के कारण ही वे लाखों करोड़ो रुपये की लागत के मन्दिर जो उनके पूर्वजो ने बनवाये उनके हक से भी वंचित रहे।

(४) मूर्ति नहीं मानने के कारण ही वे ३२ सूत्रो के अलावे ज्ञान के समुद्र सूत्र व हजारो ग्रन्थो से दूर भटकने लगे। यदि कोई उन ग्रन्थों को पढ़के ज्ञान हासिल करते भी हैं पर जब चर्चा का काम पड़ता है तब उन ज्ञानदाता ग्रन्थों को अप्रमाणिक बतलाकर व अविनयकर कर्मबन्धन करते हैं।

(५) मूर्ति के नहीं मानने के कारण ही टीका निर्युक्ति भाष्य चूर्णि वृत्यादि का अपमान कर वज्रपाप के भागी बनना पड़ा। और नई कपोलकल्पित टीकाएँ बनाकर अर्थ का अनर्थ करने में स्व पर का अहित करना पड़ा।

(६) मूर्ति नहीं स्वीकरने के कारण ही अनेक ग्रन्थ चरित्रादि के अन्दर से मूर्ति विषयक पाठ निकाल उनके बदले स्वेच्छ कल्पित पाठ बनाकर स्वयं कर्मबन्धन कर अन्यभद्रिको को भी इस कार्य में शामिल किये जैसे जैन रामायण उपासक दशांग टीका श्रीपालादि हजारो ग्रन्थों से ग्रंथकर्त्ता की चोरी करनी पड़ी।

(७) मूर्ति नहीं मानने के कारण ही संघ में न्यातिजाति में कुसम्प पैदा हुआ और आप अपने को या दूसरों को बड़ा भारी नुकसान पहुँचाया।

(८) भगवान महावीर और आचार्य रत्नप्रभसूरि से जैनों में शुद्धि की मिशन स्थापित हुई थी और लाखों करोड़ों अजैनों की शुद्धि कर जैन बनाये थे पर मूर्ति नहीं मानने वालो के उत्पात के बाद नये जैन बनाने के दरवाजे बिलकुल बन्द हो गये और आपस की फूट से घटते ही चले आये हैं और उनको उल्टे उन उपकारी आचार्यों के प्रति कृतघ्नी बनना पड़ा।

पूर्वोक्त कार्य होने पर भी आज मूर्ति नही मानने वालों को मूर्ति की प्राचीनता भगवान् महावीर के पश्चात् ८४ वर्ष में स्वीकार करनी पड़ी और भविष्य में कहाँ तक पहुँचेगा यह तो भावी के गर्भ में ही है। हम चाहते हैं कि शासन देव हमारे स्थानकमार्गी भाइयों को सद्बुद्धि प्रदान करे कि वे सत्य ग्रहण करने में समर्थ बनें।

प्रकरण पांचवां

ऐतिहासिक क्षेत्र में मूर्त्तियों का स्थान

भारतीय धर्मों में प्रायः जैन, वेदान्तिक, और बौद्ध ये तीन धर्म ही प्राचीन धर्म माने जाते हैं, और इन तीनों धर्मों के धार्मिक विधानों में मूर्त्तिपूजा का आसन सब से ऊँचा एवं आदरणीय है।

गत प्रकरणों में जिस प्रकार हम जैनागमों में मूर्त्तिपूजा की प्राचीनता अनादि सिद्धकर बतला आए हैं, उसी प्रकार बौद्ध और वेदान्तियों के शास्त्रों मे भी मूर्त्तिपूजा विषयक लेख प्रचुरता से मिलते हैं।

यद्यपि तात्त्विक विवेचन में शास्त्रीय प्रमाण भी असंदिग्ध एवं उपयोगी सिद्ध हैं किन्तु वे सर्वसमाज के लिए मान्य न होकर तत्तत् धर्माऽवलंबियों के लिए ही शांतिदायक और संतोषप्रद होते हैं अतः आज मैं इन सबका सहारा छोड़कर केवल ऐतिहासिक एवं युक्तिगम्य प्रमाणों से ही मूर्त्तिपूजा का अनादित्व सिद्ध करना चाहता हूँ क्योंकि उक्त दोनों प्रमाण सर्व साधारण जन समाज का भी पूर्ण सन्तोषप्रद सिद्ध हो चुके हैं। हम कह आए हैं कि ऐसा करने से शास्त्र कोई झूठे साबित नहीं होते हैं। परन्च, जैनशास्त्र जैसे जैनियों के लिए मान्य हैं, वैसे ही बौद्धशास्त्र बौद्धों के लिए और वेदान्त वेदान्तियों के लिए ही मान्य हो सकते हैं। इतर धर्मावलम्बी जैसे जैन आदिकों के लिए इनकी वस्तु

विवेचन कोई कीमत नहीं रख सकता, किन्तु इतिहास सर्व देशीय होने से इसकी प्रमाणिकता की मुहर सबके ऊपर जबरन जोड़ दी जाती है। बस, इसी कारण से इतिहास का आश्रय ले, आज हम डंके की चोट यह सिद्ध करेंगे कि जिस मूर्त्तिपूजा के नाम पर आज के कुछ अज्ञ अपनी अज्ञता जाहिर करते हैं वह कितनी सदियो से हमारे देश में प्रतिष्ठित है जिनके लिये शास्त्रीय सत्य का ऐतिहासिक साधन साक्षी है, और ऐतिहासिक साधनों में प्राचीन शास्त्र भी अन्यतम साधन हैं, अतः इतिहास लिखने में शास्त्र भी उपयोगी एवं उपादेय हैं।

मूर्त्तिपूजा का इतिहास आर्य-धर्म के इतिहास के साथ ही साथ प्रारंभ होता है किन्तु जब अनार्यों ने आर्यों का अनुकरण किया तो मूर्त्ति विषयक ज्ञान के लिये भी कुछ प्रयास करना पड़ा परन्तु वे इसमें अपनी जड़ बुद्धिवश सफल नहीं हो सके, अतः समयान्तर में कई एक अनार्यों ने मूर्त्तिद्वारा अपने भौतिक स्वार्थ साधनार्थ नाना प्रकार के अत्याचार करने शुरू कर दिये, यद्यपि यह मार्ग शास्त्र विरुद्ध तथा नैतिकता से परे था। किन्तु "संसर्गजाः दोषाः गुणाः भवन्तिः" के सिद्धान्तानुसार इसका दूषित प्रभाव कुछ आर्यों पर भी पड़ा और वे भी लोभवश हो धर्म की ओट ले (देव देवियों को पशुबलि देना आदि) अनेक अनर्थ करने लगे। और जब यह मात्रा ज्ञान शून्य अनार्यों में जड़ पकड़ने लगी तथा साथ ही विवेक भ्रष्ट कुछ नामधारी आर्य भी इसे सींचने लगे तो उस हालत में इन अत्याचारों को रोकने, या बिगड़ी को सुधारने की किसी ने हिम्मत नहीं की, पर प्रत्युत मूल कारण को भूल, खास कार्य को ही निर्मूल करने का दुःसाहस किया,

अर्थात् मूर्त्तिपूजा की वास्तविकता को ठीक तरह न समझ कर स्वयं मूर्त्ति की ओर ही अपनी क्रूर दृष्टि फेंक दी। ऐसा करने वालों में सब से पहला नम्बर पैगम्बर मुहम्मद साहब का था जो कि विक्रम की सातवीं शताब्दी में अरबिस्तान में पैदा हुए थे। तत्पश्चात् करीब ९०० नव सौ वर्षों के बाद उन अनार्यों का प्रभाव अज्ञ आर्यों पर भी पडा और उन आर्यों ने अनार्यो-चित धृष्टता कर मूर्त्तिपूजा का विरोध किया। परन्तु मूर्त्तिपूजा का सिद्धान्त इतना विशाल और विश्वव्यापी था कि सहज में उसकी सारी जड उखड़ न सकी किन्तु काल पाकर अपनी अनिन्द्य लोक-प्रियता के कारण पुनः पनपती रही। प्रत्यक्ष में भी यदि आज देखा जाय तो विना मूर्त्ति के, क्या व्यवहारिक और क्या धार्मिक कोई भी काम चल नहीं सकता है, तदर्थ किसी भी रीति से क्यों न हो पर मूर्ति को तो सब संसार सिर झुकाता ही है। "गुड खाना और गुलगुलों से परहेज रखना" उस जमाने में जारी था, क्योंकि ज्ञान का भानु उस वक्त अस्ताचल पर था। जनता के हृदयों में अज्ञानाऽन्धकार छाया हुआ था। संशोधक गाढ़ निद्रा में सो रहे थे और इतिहास के साधन लुप्त नहीं किन्तु भूगर्भ में गुप्त जरूर थे अतः यह सब कुछ होना जरूरी था। परन्तु आज तो जमाना बदल गया है। आज का युग इतिहास का युग है। आज शास्त्रीय प्रमाणों की अपेक्षा ऐतिहासिक प्रमाणों पर सभ्य समाज का अधिक विश्वास है। (इसका स्पष्ट कारण हम पूर्व में लिख आए हैं) अतएव आज मैं इस प्रकरण में ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा मूर्त्ति-पूजा की प्राचीनता बतलाने की कोशिश करूँगा।

ऐतिहासिक साधनों में, प्राचीन शिलालेख, प्राचीन सिक्के, प्राचीन मूर्त्तिएँ, ताम्रपत्र एवं ध्वंसाऽविशिष्ट तथा प्राचीन समय के हस्त लिखित ग्रन्थ—मुख्य साधन समझे जाते हैं। अतः इन साधनो पर ही पुरातत्त्व विशारदों का अधिक से अधिक विश्वास है।

विद्वद् समाज और विशेष कर स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे संशोधको का कहना है कि संसार भर में सबसे पहिले मूर्त्तिपूजा का प्रारम्भ जैनियो से ही हुआ, और अन्य धर्माऽवलंबियों ने मूर्त्ति-पूजा का पाठ जैनियों से ही सीखा। अर्थात् जैनेतर लोगों में मूर्त्ति का पूजना जैनियों का ही मात्र अनुकरण है। यदि यह बात सत्य है तो आज शोध खोजका काम करने से भूगर्भ में से जो ईस्वी सन् के भी ५ हजार वर्ष पहिले की मूर्त्तिएँ उपलब्ध हो रही हैं वे जैनों की हैं या जैनेतरों की। यदि जैनो का अनुकरण करके ही अजैनों ने मूर्त्तिएँ बनाई हों तो यह निःसन्देह है कि पाँच हजार वर्षों पूर्व भी जैन मूर्त्तिएँ विद्यमान थीं। नीचे कतिपय उदाहरण दिये जाते हैं, देखिये:—

(१) गौड़ देश के आषाढ़ नामक श्रावक ने इकोसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ के शासन काल मे आत्मकल्याणार्थ तीन प्रतिमाएँ बनवा कर उनकी प्रतिष्ठा कराई थी; उनमे से एक चारूप नगर में, दूसरी श्रीपत्तन में और तीसरी स्थंभन नगर में स्थापित की गई। काल क्रम से चारूप और श्रीपत्तन की मूर्त्तियों का तो पता नही पर स्थंभनतीर्थ में श्री पार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिमा सांप्रतकाल में भी विद्यमान है और उस प्रतिमा के पिछले भाग में शिलालेख भी है। यथाः—

नमे स्तीर्थकृतस्तीर्थे, वर्षे द्विकचतुष्टये।
आषाढ़-श्रावको गौडोऽकारयत् प्रतिमात्रयम् ॥
श्रीतत्वनिर्णय प्रमाद पृष्ट ५३४ से

इस शिलालेख से पाया जाता है कि नेमिनाथ भगवान् के २२२२ वर्ष बाद गौड़देश के आषाढ़ श्रावक ने इस प्रतिमा को बनवा कर प्रतिष्ठा कराई थी, तथा २ प्रतिमाएँ और भी कराई, इस विषय के और भी प्रमाण प्रभाविक चरित्र एवं प्रवचन परीक्षादि ग्रन्थों में भी मिल सकते हैं, तथा श्री ज्ञातासूत्र में द्रौपदी के अधिकार में भगवान् नेमिनाथ के शासन में भी जैन मंदिर होने के पुष्ट प्रमाण मिलते है तो फिर कोई कारण नही कि हम पूर्वोक्त शिलालेख और नेमिनाथ के शासनाऽधिकार से मन्दिर मूर्त्ति होने में थोड़ी भी शङ्का करें। अर्थात् इस शिलालेख से स्पष्टतया यह सिद्ध होता है कि जैनो मे लाखो वर्ष पूर्व भी मंदिर मूर्त्तियो का अस्तित्व था।

(२) एक समय आर्य प्रजा मे धर्मभावना इतनी दृढ़ थी कि वह आत्मकल्याणार्थ सर्वस्व अर्पण करने मे ही अपना गौरव समझती थी। तथा उसने अपने धर्म के स्तम्भ रूप मन्दिर मूर्तियो से समग्र मेदिनी मण्डल को आच्छादित कर दिया था एवं राजा महाराजाओ ने अपने चालू सिक्को पर भी चैत्यचिन्ह अङ्कित कर दिये थे, ये सिक्के आज भी उत्तर हिन्द में भूगर्भ से बहुतायत में मिलते हैं तथा श्रीमान् डॉ. त्रिभुवनदास लेहरचंद ने अपने "प्राचीन भारतवर्ष का इतिहास" द्वितीय भाग पृष्ठ १३२ के अंदर ऐसे प्रायः २०० सिक्कों के चित्र दिये हैं। इन

सिक्को मे कई ऐसे भी हैं जिनमें एक ओर हस्ती और दूसरी ओर चैत्य का दृश्य दीख पड़ता है। ये सिक्के मौर्यकालके होने, विद्वानो ने साबित किए हैं जो जैनियों का उत्कृष्ट अभ्युदय का समय था। इस प्रकार जब जैन चैत्यो के चिन्ह सिक्को पर भी आरूढ़ होगए तब भूमि पर तो इनका एकछत्र राज्य होना स्वतः संभव है। मौर्यकाल का समय २३०० वर्षों का कहा जाता है और उस समय भारत भूमि धार्मिक मंदिरो से भूषित थी तो मंदिर मूर्त्तियों की प्राचीनता मे सन्देह या शंका करने को स्थान ही कहाँ मिलता है। आर्यों में तथा विशेष कर जैनियों में तो मंदिर मर्त्तियों को धर्म साधन का अग प्राचीन समय से ही समझा है।

(३) तक्षशिला के पास अंग्रेजो ने खुदाई का काम करवा कर भूमध्य से एक नगर निकाला है जिसका नाम "मोहन जोडरा" रक्खा है। वहाँ भूमि से ५००० वर्ष पूर्व की ध्यान मुद्रावाली एक मूर्त्ति उपलब्ध हुई है उस पर पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि ई० सन् के पाँच हजार वर्ष पूर्व भी जैनधर्म मे मूर्त्तिपूजा विद्यमान थी। इस प्रबल प्रमाण से एक और भी निपटारा हो सकता है और वह यह कि कई एक पुराण वादियों ने अपने चौबीस अवतारों मे आठवां रिषभाऽवतार माना है। वह उनके वेद, उपनिषद् और श्रुति स्मृति में न होकर भी अर्वाचीन पुराणो में जरूर उल्लिखित है। मालूम होता है यह जैनियो का अनुकरण मात्र ही है क्योंकि जैनों के प्राचीन शास्त्रों में भगवान् रिषभदेव को प्रथम तीर्थङ्कर माना है और प्रकृत प्राचीन मूर्त्ति से भी यही सिद्ध होता है कि ५००० वर्ष

पूर्व भी जैनों में भगवान् रिषभदेव को प्रथम तीर्थङ्कर मान, उनकी मूर्त्ति बना कर आत्म-कल्याणार्थ उनकी पूजा होती थी। परन्तु रिषभदेव को आठवां अवतार मानने वाले पुराण-वादियों के पास इनके पुराणों के अलावा कोई भी प्राचीन प्रमाण होना स्पष्ट नहीं पाया जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् रिषभदेव जैनियों के प्रथम तीर्थङ्कर थे और जिन्होंने भगवान् रिषभदेव को आठवां अवतार मान रक्खा है यह उनका भ्रम मात्र है।

(४) सिन्ध और पञ्जाब की सरहद पर खुदाई का काम करते समय एक नगर भूमि से निकला है जो "हरप्पा" नाम से कहा जाता है। यह नगर ई० सन् के पूर्व पांच से दश हजार वर्ष पहिले का पुराना है। उस नगर में देवियों की मूर्त्ति एँ मिली हैं। ये मूर्त्तिएँ उतनी ही प्राचीन हैं जितना कि प्राचीन यह नगर है। इस विषय में पुरातत्ववेत्ताओं का मत है कि भारत में मूर्त्तियों का मानना बहुत प्राचीन समय से था। जब यह कहा जाता है कि संसार भर को मूर्त्तिपूजा का पाठ जैनियों ने ही सिखलाया अर्थात् मूर्त्ति पूजा सर्व प्रथम जैनियों ने चलाई और बाद में अन्य लोग जैनों का अनुकरण करने लगे तो ऐसी दशा में हम यह क्यों नहीं मानलें कि १०००० वर्ष पहिले भी जैनों में तीर्थङ्करों की मूर्त्तिएँ बड़े ही भक्ति भाव से पूजी जाती थी।

(५) कलिङ्ग जिन (जिन मूर्त्ति) पूर्व दिशा में उड़ीसाप्रान्त के कुमार कुमारी नामक दो पहाड़ो को पहिले जमाने में शत्रुञ्जय और गिरनार अवतार समझते थे, पर आज कल उन्हे खण्डगिरि और उदयगिरि नाम से कहते हैं। पहिले ये दोनो पहाड़ जैन मंदिरों से विभूषित थे अतः जैनसमाज इन दोनो पहाड़ो को अपना

परम पवित्र तीर्थधाम समझता था, तथा कई एक भावुक भक्त बड़े २ सघ के साथ आकर के इन पर्वतों (तीर्थ) की यात्रा करते थे। एवं इनके पास जैन श्रमणों के ध्यान के लिए अनेक गुफाएँ भी थी तथा उन गुफाभित्तियो पर जैन तीर्थङ्करों की विशालकाय सुन्दर २ मूर्तिऐं अङ्कित थी जो आज भी यत्र तत्र अन्वेषण से दिखती है परन्तु दुःख है कि जिस कलिङ्ग देश में एक समय राजा और प्रजा सब जैनधर्म के परमोपासक थे वहाँ आज कुटिल काल चक्र के प्रभाव से एक भी जैनधर्माऽवलंबी नही है। ऐसा मालूम होता है कि किसी धर्मान्ध यवनों की आपत्तियों के कारण मानों जैनोको यहाँ से चिर समय के लिए ही निर्वासित कर दिया हो, तथापि प्राचीन जैन मंदिरों के ध्वंसाऽविशेष, आज भी जैनो की पूर्व कालिक स्मृति तथा सांप्रतिक अकर्मण्यता का बोध कराते हुए ज्यों के त्यों खड़े हैं।

ई० सं. १८२० में पादरी स्टर्लिङ्ग साहिब की शोध पूर्ण दीर्घ दृष्टि कलिङ्ग के इन पहाड़ों पर पड़ी थी और जब कई गुफाओ तथा गुफाओ के अन्तर्गत उन प्राचीन मूर्त्तियो वगैरह का अवलोकन करते हुए हस्ती गुफा की ओर आगे बढ़े तब वहां का निरीक्षण करते वक्त आपको एक विशद शिलालेख के दर्शन हुए। शिलालेख एक श्याम पाषाण पर अंकित था और उस पाषाण की लंबाई १५ फीट एवं चौड़ाई ५ फीटथी। उस पर बड़े २ अक्षरो में सुन्दर १७ लाइनों में प्रस्तुत लिखा खुदा हुआ था, यद्यपि दीर्घकाल और असावधानी से कईएक अक्षर घिस गए थे तो भी शेष लेख बड़ा महत्वपूर्ण था, पादरी साहब उस लेख को देखते ही बड़े प्रसन्न हुए, पर लेख की भाषा पालीलिपि

में होने से ठीक ठीक पढ़ नहीं सके, तथापि आप अकर्मण्य भारतीयों की भांति हतोत्साह नहीं हुए, अपितु इस लेख की प्रतिलिपी लेकर भारत और यूरोप में बड़ा भारी आन्दोलन मचा दिया। फिर तो डॉ—टामस, मेजर कीट्ट, जनरल कनिंग होम विसेन्टस्मिथ और विहार के गवर्नर सर एडवर्ड साहिब आदि पुरातत्त्वज्ञों ने, तथा भारतीय इतिहासज्ञ श्रीमान् काशी-प्रशाद जायसवाल, मिस्टर राखालदास बनर्जी, भगवान्दास इन्द्रजी तथा अन्तिम सफलता प्राप्त करने वाले पुरातत्त्व विशारद श्रीमान् केशवलाल हर्षदराय ध्रुव ने बड़ी बारीकी से निर्णय किया अर्थात् एक शताब्दी के अन्दर अनेक विद्वानों के पूर्ण परिश्रम और सर्व मान्य निर्णय करने वाला श्रीमान् ध्रुव महोदय ने ईस्वी सन् १९१८ में यह निष्कर्ष निकाला कि यह शिलालेख कलिङ्गपति महामेघवाहन चक्रवर्ती महाराजा खारवेल के समय का और उनकी खुद की विद्यमानता में लिखा हुआ है। आपने तो यहाँ तक कह डाला कि भारतीय शिलालेखों में इस शिलालेख का नम्बर अव्वल है। इस शिलालेख के गौरव का प्रभाव सम्पूर्ण भारत पर है, महाराजा खारवेल जैन धर्मोपासक होने पर भी सर्व धर्म पोषक थे; यही नहीं किन्तु वे जैन धर्म के कट्टर प्रचारक भी थे, यही कारण था कि आपने कुमारी पर्वत पर जैनों की एक विराट सभा कर दूर दूर से जैनाचार्यों और जैन संघ को आमंत्रित कर एकत्र किया था। शिलालेख से पता मिलता है कि महाराजा खारवेल ने अन्यान्य महत् कार्यों के साथ लुप्त होने वाले "चौसट अध्याय

* देखो मेरा लिखा प्राचीन जैन इतिहास ज्ञान भानु किरण नं ३

-वाला सप्तति" नामक आगम को भी पुनः लिखाया था। इससे यह भी मालूम होता है कि केवल देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के समय से ही आगम लिखने शुरु हुए हों सो नहीं किन्तु इनसे पहिले भी आवश्यकता पड़ने पर आगम लिपि बद्ध होते थे। महाराजा खारवेल के बाद आचार्य विमलसूरि कृत "पउमचरियं" नामक ग्रन्थ को भी वि. सं. ६० में लिखे जाने का पता मिलता है। खारवेल के इस शिलालेख की १२ वीं पँक्ति में एक जैनमूर्ति का भी उल्लेख है जिसे हम प्रसङ्गोपात यहां उद्धृत करते हैं:—

"......*मगधानां च विपुलं भयं जनेतो हथी सुगंगीय [-] पाययति [।] मागधं च राजाना वहसतिमितं पादेवंदापयति* [।] नंदराज नीतं च कालिंगजिनं संनिवेसं...... *गह-रतनान पडिहारेहि अंग मागध वसुं च नेयाति* [।]

हाथी गुफा शिलालेख पँक्ति १२ वीं

इस शिलालेख से एक निर्णय स्वतः हो जाता है कि नंद-वंशी राजा भी जैन धर्मोपासक थे क्योंकि जभी तो वे कलिंग पर आक्रमण करने के समय कलिङ्ग जिन (भगवान् ऋषभदेव की मूर्ति) ले गये, और अपने वहां मन्दिर बनवाकर उनकी स्थापना कर सेवा पूजा करने लगे, बाद तीसरी पुश्त जब महाराजा खारवेल ने मगध पर चढ़ाई की तो वहां के राजा पुष्पमित्र को हरा कर रत्नादि के साथ उसी मूर्ति को वापिस लाकर आचार्य सुहस्थी सूरि द्वारा पूर्व मन्दिर में ही प्रतिष्ठा करवा कर सेवा पूजा करने लगे।

मगध के राजा नंद का समय महावीर निर्वाण से दूसरी शताब्दी का है, अतएव इस घटना से इतना तो निश्चयात्मक कहा जा सकता है कि उस समय जैन शासन में मूर्तिपूजा का प्रचार आम तौर पर था, पर यह नहीं कहा जा सकता है कि मूर्ति पूजा उसी समय शुरु हुई थी, क्योंकि राजा नंद जिस मंदिर से जैन मूर्ति उठा के लेगया वह मंदिर उस रोज तो कोई बना ही नहीं था, और जब कभी बना होगा तब भी किसी दूसरे मंदिर के नकशे से बना होगा ? ऐसी हालत में मूर्तिपूजा की प्राचीनता मे सन्देह करने वालों को कोई कारण शेष नहीं रहता है, फिर भी वे यदि अपने हठ को न छोड़ें तो उनकी बुद्धि को क्या कहा जाय ? आगे चल कर हम यह बतावेगे कि इस मंदिर को किसने बनाया ?

जैन पटावलियों में आचार्य हेमवन्त सूरि की पटावली सब से प्राचीन समझी जाती है। आचार्य हेमवन्त सूरि प्रसिद्ध स्कदिलचार्य के पट्टधर थे, आपका नाम श्री नन्दीसूत्र की स्थविरावली में भी आता है। हेमवन्त सूरि का समय विक्रम की पहिली शताब्दी का है। अत: हेमवन्त पटावली प्राचीन और प्रामाणिक कही जा सकती है हेमवन्त पटावली मे स्पष्ट लिखा है कि कलिङ्ग से राजा नंद जैनमूर्ति को मगध में लेगया, वह मूर्त्ति मगधेश महाराजा श्रेणिक ने स्थापित की थी, और यह बात सर्वथा मान्य भी कही जा सकती है। क्योंकि महाराजा श्रेणिक और नन्द के बीच केवल १५० डेढसौ वर्षों का अन्तर है। जिस मंदिर से राजा नद मूर्त्ति लेगया वह मन्दिर १५० वर्ष पूर्व में बना हो तो यह बात सर्वथा मान्य हो सकती है।

सम्राट श्रेणिक (बिम्बसार) कट्टर जैन थे । भगवान् महावीर के परमभक्त थे । यह बात आपके जीवन से सुविदित होती है । महाराजा श्रेणिक प्रतिदिन १०८ सुवर्ण यव (अक्षत) बनवाकर तीर्थङ्करों की मूर्त्ति के सामने स्वस्तिक करते थे । इस बात की पुष्टि के लिए मैतार्य मुनि का जीवन विद्यमान है । "मैतार्य मुनि एक सोनी के यहां गोचरी को गए तो वहां सुवर्ण यवों को भक्षण करते कुर्कुट (मुर्गा) को देखा । बाद में सोनी ने आकर स्वर्ण यव नहीं देख उस हालत में मुनि को ही चोर समझा और उनके सिर पर नीला (आर्द्र) चर्म कसके बांध दिया । मुनि ने जीव हिंसा के भय से कुर्कुट का नाम नहीं बताया किन्तु बदले में अपना जीवन दे दिया । उन सुवर्ण यवों के लिये हमारे स्थानकवासी भाई यों कहते हैं कि:—

तुं जमाइ राजा श्रेणिकानो, सोवन यव छे तेहना ।
साच वात तुं बोल साधुजी जीव जायला वीहुना ॥

इस कथनानुसार वे यव (जौ) दूसरा का नहीं किन्तु राजा श्रेणिक के ही थे और आप ऐसे सुवर्ण यव स्वयं सदैव के लिए बनवाता था, और उन्हें मूर्त्ति के सामने स्वस्तिक बनाने के काम में लेता था ।

बस, महाराजा श्रेणिक ने इस अपूर्व भक्ति से ही तीर्थङ्कर नाम कर्मोपार्जन किया, और श्रेणिक का देहान्त भगवान् महावीर की मौजूदगी मे ही हो गया था । इससे स्पष्ट सिद्ध है कि कलिङ्ग का मन्दिर राजा श्रेणिक ने भगवान् महावीर की विद्यमानता में बनाया और यह कार्य आत्म-कल्याण एवं धर्मकार्य साधन का एक खास अंग था, इसलिये भगवान् महावीर ने उसे न तो मना

किया, और न किसी अन्यत्र स्थान पर इस कार्य साधनका विरोध किया, अतः यह समझना कोई कठिन कार्य नहीं कि भगवान् महावीर भी इस कल्याणकारी कार्य में सहमत थे ।

प्रस्तुत महाराजा खारवेल के शिलालेख का प्रभाव योरोपियन और भारतीय विद्वानो पर तो पड़ा सो पड़ा ही किन्तु हमारे स्थानकवासी विद्वानो पर भी इसका प्रभाव कम नहीं पड़ा है। क्योंकि मूर्त्ति विषयक उनकी चिरकाल की दूषित मान्यता को इस लेख ने सहसा पलटा दिया है और इसके फलस्वरूप श्रीमान् संतबालजी ने मूर्त्तिपूजा को महाराज अशोक के समय से और स्वामी मणिलालजी ने भगवान् महावीर से दूसरी शताब्दी के सुविहितचार्योंद्वारा प्रतिष्ठित मान ली है और इस प्रवृत्ति से जैन समाज पर महान्उपकार होना भी स्वीकार किया है ❀।

इतना ही नहीं पर वीरात् ८४ वर्ष का वड़ली (अजमेर) वाला शिलालेख पढ़ कर तो स्थानकवासी विद्वानो को महावीर प्रभु के बाद ८४ वर्षों से ही मूर्त्तिपूजा का अस्तित्व मानना पड़ा है। पता नहीं फिर भी आगे इस शोध खोज से मूर्त्तिपूजा की प्राचीनता कहाँ तक सिद्ध होगी ? ।

❀सुविहित आचार्योंए श्री जिनेश्वरदेवनी प्रतिमानु आलंबन बताव्यु अने तेनुं जो परिणाम मेळववा आचार्योंए धार्युं हतुं ते परिणाम केटलेक अंशे आव्युं पण खरूं, अर्थात् जिनेश्वरदेवनी प्रतिमा स्थापना अने तेनी प्रवृत्ति (पूजा) थी घणां जैन जैनेतर थता अटक्या अने तेम करवामां ए आचार्यों जैन समाज पर महान् उपकार कर्यो छे एम कहवामाँ जराए अतिशयोक्ति नथी"

प्रभुवीर पटावली पृष्ट १३१.

विशेषता तो यह है कि जब वीरात् ८४ वर्ष बाद के इस शिलालेख से मूर्त्तिपूजा सिद्ध है और उस समय चतुर्दश पूर्व-धर आचार्य विद्यमान थे और उस समय से लगा कर २००० वर्षों तक तो किसी ने भी मूर्त्तिपूजा का विरोध नहीं किया अपितु मूर्त्ति-पूजा को ही परिपुष्ट किया, फिर २००० वर्षों के बाद कुछ अज्ञ लोगों ने मूर्त्ति का विरोध क्यों किया, यह समझ में नहीं आता है। फिर भी इस बारे में हमने जो कुछ लिखा है वह पाठक हमारी लिखी "लोंकाशाह के जीवन पर ऐतिहासिक प्रकाश", नामक पुस्तक में विस्तार से देखें।

कलिङ्गपति महामेघवाहन चक्रवर्त्ती महाराजा खारवेल के उस प्राचीन शिलालेख से तो भगवान् महावीर के समय में ही मूर्त्तिपूजा प्रमाणित हो जाती है, और इस विषय के और भी अनेक प्रमाण हमें प्राप्त हैं, किन्तु ग्रन्थ बढ जाने के भय से वे सर्व-प्रमाण न देकर उनमें से कतिपय प्रमाण पाठकों के अवलोकनार्थ हम यहाँ दे देते हैं; जिन से यह सिद्ध होगा कि मूर्त्तिपूजा कितनी प्राचीन है देखिये:—

(५) **दशपुर नगर के** इतिहास में एक जगह उल्लेख मिलता है कि "वीत भय पाटण" के महाराजा उदाई की पट्टराणी प्रभावती के अन्तःपुर गृह (जनाना) में भगवान् महावीर की मूर्त्ति घर देरासर मे थी, राजा और राणी हमेशां उनकी त्रिकाल पूजा करते थे, जब राणी प्रभावती ने दीक्षा ग्रहण की तब उस मूर्त्ति की सेवापूजा, महारानी प्रभावती की दासी सुवर्णगुलिका करती थी।

इधर उज्जैन नगरी का राजा चण्डप्रद्योतन ने सुवर्णगुलिका

दासी के रूप पर मोहित हो ऐसा षड्यंत्र रचा कि दासी के साथ उस महावीर की मूर्ति को गुप्त रूप से उज्जैन में बुला ली, किन्तु जब यह बात महाराजा उदाई को मालूम हुई तो वे अपना दल बल लेकर उज्जैन पर चढ़ गए। वहाँ चण्डप्रद्योतन के साथ घोर लड़ाई लड़ मूर्त्ति, दासी, और स्वयं उज्जैन नरेश को बाँध अपने साथ लेकर चल पड़े. किन्तु लौटते वक्त मार्ग में वर्षा ऋतु आजाने से पानी वरसने लगा इससे अपार जीवोत्पत्ति हुई। उसे देख, उन सब ने जंगल ही में अपना डेरा डाल दिया, और वहीं धर्म कार्यों में अपने दिन विताने शुरू किये। उन विशाल जन संख्या में राजा उदाई के साथ दश माण्डलिक राजा भी थे, जिन्होंने दश-विभागों में अपनी २ छावनिएँ डाली, पर उस समय जंगल में खान पान की सामग्री कहाँ से आती, अतः आस पास के नगरों के व्यापारी लोगों ने वहाँ पर अपनी दुकानें जमा दीं जिन से उस जन समुदाय को अपने लिए आवश्यक वस्तुओं की सुविधा हो गई। वहाँ पर इस प्रकार के विशाल आदान प्रदान तथा क्रय विक्रय को देख आसपास के अन्य लोग भी अपना माल वेचने और आवश्यक सामग्री खरीदने को आने लगे जिससे थोड़े ही दिनों में वहाँ एक व्यापार की अच्छी मण्डी चल पड़ी।* चतुर्मास समाप्त होने पर राजा उदाई तो अपनी सेना के साथ वहाँ से राजधानी को लौट पड़े किन्तु जो व्यापारी लोग थे वे वहीं अपनी व्यापारिक सुविधा देख कर रह गए और कालान्तर में वे दश छावनियाँ दशपुर नगर के नाम से आवाद होगया।"

---

* यह कथा तो विस्तार से है पर यहाँ प्रसंग मूर्त्ति का है वास्ते इतना ही लिखा है।

पूर्वोक्त अधिकार हमारे उत्तराध्ययन सूत्र के अध्याय १८ तथा आवश्यक सूत्र की टीका में विस्तृत रूप से मिलता है और स्थानकवासी साधु अमोलखर्षिजी ने भी श्रीप्रश्नव्याकरण सूत्र चतुर्थ अधर्म द्वारा के पृष्ट ११४ पर "सुवरणगुलियए" इस मूलपाठ के हिन्दी अनुवाद मे 'वीतभयपाटण के राजा उदाई की सुवर्णगुलिका दासी को उज्जैननगरी का राजा चराडप्रद्योतन लेगया, इतना उद्धरण तो आपने दे दिया, परन्तु वह इसे क्यों लेगया, कैसे लेगया, और किसके साथ लेगया आदि का नाम तक न लिया, कारण ऐसा करने से उन्हे महावीर की मूर्त्ति का जिक्र करना पडता जो कि आपको सर्वथा अनभीष्ट था, किंतु ऐसा करना आपकी संकीर्ण मनोवृत्ति का ही प्रदर्शन है। नहीं तो जब मूलसूत्र मे "सुवरणगुलियाए" पाठ में वीतभय, उज्जैन, उदाई और चराडप्रद्योतन राजा का नाम नहीं होने पर भी आपने टीका से उन्हे लेलिया तब उसी टीका मे—

"गोशीर्षचन्दनमयीं श्रीमान्महावीरप्रतिमां राजमन्दिरान्तर्वर्त्तिनीं चैत्यभवनस्थिता"

इस भगवान् महावीर की मूर्त्ति के समर्थक पाठ को क्यों छोड़ दिया। शायद आपके पूर्वजो से क्रमश चली अती हुई वृत्ति का ही आपने अनुकरण कर इस सत्य को छिपाया हो तो आश्चर्य नहीं पर जब ऐतिहासिक साधनो से भगवान् महावीर के शासन समय में ही मूर्तिपूजा सिद्ध होती है तो फिर ऐसी व्यर्थ तस्कर वृत्ति करने से क्या फायदा हो सकता है। इसे जरा सोचना चाहिये।

(६) दूसरा उदाहरण महाराजा चेटक का है। जिस समय महाराजा चेटक तथा कोणिक (अजातशत्रु) के हार हाथी और वलह कुमार के कारण आपस मे घोर युद्ध हुआ था और आखिर कोणिक ने विशाला को घेर लिया, उस समय एक नैमित्तिक (शकुनज्ञ) ने कहा कि जब तक आप इस विशाला नगरी में स्थित तीर्थंकर मुनिसुव्रत के स्तूप (चैत्य) को न गिरादें तब तक आपका विशाला पर अधिकार नहीं हो सकता। राजा कोणिक ने निमित्तिया के कथनाऽनुसार एक पतित साधु द्वारा उस चैत्य को गिरवा दिया और तत्क्षण विशाला को भग कर अपनी विजय वैजयन्ती फहराई। विशाला नगरी के इस स्तूप का वर्णन हमारे ३२ सूत्रान्तर्गत नन्दीसूत्र नामक ग्रथ में स्पष्ट रूप से है।

पूर्वोक्त दोनो उदाहरण यद्यपि हमारे सर्वमान्य शास्त्रों के हैं तथापि इन उदाहरणों की सत्यता के विषय में मैं इतर लोगों के सन्तोषार्थ यहाँ ऐतिहासिक प्रमाण पेश करता हूँ जिससे इनकी सत्यता पर पूरा प्रकाश पड़ जाय।

(७) जिला आकोला (वरार) के पास एक वारसी ताकली नाम का छोटा गाँव है उसमें एक घर की खुदाई का काम करते समय १९। अखंडित और ७ मस्तकहीन जैन मूर्त्तिएँ उपलब्ध हुई हैं। उनमें कई एक मूर्त्तिएं ईस्वी सन् से ६०० या ७०० वर्ष पहिले की पुरातत्त्वज्ञो ने सिद्ध की हैं। ये मूर्त्तिएँ नागपुर के सेन्ट्रल म्यूजियम में रखी जाने का सरकार ने निश्चय किया है। यह समाचार प्राय. सब सामयिक समाचारपत्रों में प्रकाशित हो चुका है, जैसे—दैनिक अर्जुन ता० १७-५-३६

और वीर सन्देश ता० २५-५-३६ में। यदि यह बात सत्य है तो कोई कारण नहीं कि हम भगवान् महावीर के पूर्व एक दो शताब्दी में मूर्त्तिपूजा नहीं मानें। अर्थात् इन सब प्राप्त प्राचीन मूर्त्तियों से सिद्ध होता है कि भगवान् महावीर के पूर्व भी जैनों में मूर्त्तिपूजा का प्रचार प्रचुरता से था।

सातवाँ तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ का मन्दिर—महात्मा बुद्ध सब से पहले अपने धर्म का उपदेश करने को राजगृह नगर में आये तब वहाँ सुपार्श्वनाथ के तीर्थ में ठहरे थे, ऐसा बौध ग्रन्थ "महावग्गा के १-२२-२३" मे लिखा मिलता है। यद्यपि इस मन्दिर का नाम "सुप्पतित्थ" अर्थात् सुपार्श्वनाथ तीर्थ का पालीभाषा में संक्षिप्त रूप 'सुप्पतित्थ' लिखा है। दिगम्बर विद्वान् बाबू कामता-प्रसादजी ने स्व लिखित 'महावीर भगवान् और महात्मा बुद्ध' नामक पुस्तक के पृष्ठ ५१ पर कई दलीलें एवं प्रमाण देकर इस बात को सिद्ध की है कि महात्मा बुद्ध सब से पहिले राजगृह नगर में आये तब श्री सुपार्श्वनाथ के मन्दिर में ठहरे थे। इससे यह निश्चय हो जाता है कि भगवान् महावीर के समय सुपार्श्वनाथ का मन्दिर था तो फिर कोई कारण नही कि हम महावीर के समय मन्दिर मूर्त्ति होने में किंचित् भी शंका करें।

(८) अब रहा हमारा विशाला नगरी का स्तूप जो ऊपर श्री नंदीसूत्र के उदाहरण से स्पष्ट कर आये हैं। इसी प्रकार मथुरा की खुदाई के काम तथा खण्डहरों में भी ऐसे अनेक स्तूप मिले हैं जिनकी प्राचीनता के विषय में एक पुरातत्त्व और मर्मज्ञ निष्पक्ष विद्वान् लिखते हैं कि:—

The original erection of the Stupa in brick in the time of Parshwanath, the predecessor of Mahavir would fall of a date not later than 600 B. C

Probably therefore this Stupa, of which Dr. Fuhrer exposed the foundation, is the oldest known building in India.

V. Smith
Mutra Antiquities—

"भगवान महावीर के पूर्ववर्त्ती भगवान् पार्श्वनाथ के समय में जिस स्तूप को मूल रचना, ईंटो से की हुई है वह ई. सन् ६०० वर्ष पूर्व के बाद का तो है ही नहीं (याने ई.सन् ६०० या ७०० वर्षों के पूर्व का स्तूप है) तथा डॉ. फुहररकी जांच के मुताबिक भी मथुरा का यह स्तूप भारत के प्राचीनतम स्थापत्यों में सब से प्राचीन है।"

इस प्रकार इन पाश्चात्य संशोधकों और विद्वानों के मत से भगवान् पार्श्वनाथ के पूर्व समय में भी जैनो में स्तूप बनाने का प्रचार था तथा महावीर भगवान् के पूर्व समय एक दो शताब्दी में मूर्त्तिओ के ऐतिहासिक प्रमाण भी प्रचुरता से प्राप्त हो रहे हैं। ऐसी दशा में यह मानना कि जैनो में मूर्त्तिपूजा की प्रथा प्राचीन ही नहीं किंतु प्राचीनतम है, बिल-कुल युक्ति युक्त एवं प्रमाण सङ्गत है। यही क्यों पर इस से बढ़ कर भी हम गत प्रकरणों में जो ऋषभदेव के समयवर्त्ती तीन रत्न रचित स्तूपों का शास्त्रीय प्रमाण दे आये हैं उनकी पुष्टि के लिए भी ये ऐतिहासिक प्रमाण पर्याप्त हैं। अब आगे चलकर और देखिये:—

(९) भगवान् महावीर दीक्षा लेकर सातवें वर्ष में भ्रमण करते हुए जब आबू के निकट मुण्डस्थल नामक नगर में पधारे और उसी स्थान पर आपके दर्शनार्थ राजा नंदिवर्धन आए तो उन राजा ने इस दर्शन लाभ की चिर स्मृति के लिए वहीं पर एक सुन्दर मन्दिर बनवा दिया, जिसकी प्रतिष्ठा श्री केशीश्रमणाचार्य ने कराई थी, उसके खण्डहर आज भी वहाँ दृष्टिगोचर होते हैं, जिसका पता तत्रस्थ शिलालेख से मिलता है, वह शिलालेख विद्वद्वर्य मुनि श्री जयंतिविजय जी महाराज ने अपनी खोज द्वारा प्राप्त किया है जो पुरातत्त्व पर अच्छा प्रकाश डालता है! यह शिलालेख जैनपत्र ता० १५-३-३१ मे मुद्रित भी हो चुका है।

(१०) कच्छ भद्रेश्वर नगर में एक प्राचीन मन्दिर अब भी वर्तमान है जो भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद केवल २३ वर्षों में बना हुआ है। उस मन्दिर की प्रतिष्ठा भगवान् सौधर्म स्वामी के कर कमलो से हुई थी, ऐसा उल्लेख मिलता है। श्री विजयानंदसूरीश्वरजो ने अपने 'अज्ञान तिमिर भास्कर' नामक ग्रंथ मे इस मन्दिर के शिलालेख की नकल स्पष्ट और विस्तार से लिखी है।

(११) उपकेशपुर (ओसियाँ) और कोरण्टा के महावीर मन्दिर की प्रतिष्ठा वीरात् ७० वर्ष मे आचार्य श्री रत्नप्रभसूरी के कर कमलो से हुई थी। ये दोनो मन्दिर आज भी भक्त भव्यों का कल्याण करने मे खड़े हैं, इस विषय में आचार्य श्रीकक्क सूरीश्वरजी महाराज फरमाते हैं कि

"उपकेशे च कोरटे तुल्यं श्रीवीरबिम्बयोः ।
प्रतिष्ठा निर्मिता शक्त्या श्रीरत्नप्रभसूरिभिः ॥"

तथा इन दोनों की प्रतिष्ठा के समय के बारे में लिखा है कि:—

"सप्तत्या वत्सराणां चरमजिनपतेर्मुक्तजातस्य वर्षे ।
पंचम्यां शुक्लपक्षे सुरगुरुदिवसे ब्रह्मणस्सन्मुहूर्ते ॥
रत्नाचार्यैः सकलगुणयुतैः सर्वसंघाऽनुज्ञातैः ।
श्रीमद्वीरस्य बिम्बे भवशतमथने निर्मितेयं प्रतिष्ठा ॥"

"उपकेशगच्छ चरित्र वि० सं० १३७१ का लिखा"

यही बात आचार्य विजयानन्दसूरि अपनी जैनधर्म विषयक प्रश्नोत्तर नामक पुस्तक में लिखते हैं कि—

"एरनपुरा की छावनी से ३ कोस के लगभग यह कोरंटा नाम का नगर आजकल ऊजड़ पड़ा है केवल उस स्थान पर कोरंटा नाम का एक छोटा सा गाँव आबाद है, वहाँ की प्रतिमा भी श्री रत्नप्रभसूरिजी की प्रतिष्ठा कराई" इन उद्धरणों से स्पष्ट जाहिर होता है कि पूर्वोक्त दोनों मन्दिर २३९३ वर्ष के प्राचीन हैं।

इतना ही क्यों पर इस कोरण्टा के प्राचीन मन्दिर का एक सबल प्रमाण प्रभाविक चरित्र में भी मिलता है देखो मेरी लिखी "ओसवाल जाति विषयक शंका समाधान", नामक पुस्तक।

(१२) सुघोषापत्र के तंत्री श्रीमान् मूलचन्द आशाराम वेराटी जैनपत्र ता० २६-१-३० के अंकमें "भूमि गर्भ में छपायेल अपूर्व शासन समृद्धि" शीर्षक लेखमे लिखते हैं कि—

"प्रेवीस जिलाना मालाना गांम मां खोद काम करतां समय बे प्रतिमाएँ उपलब्ध थई, जेमा एक प्रतिमा पर वीर सं० ८२ अने बीजी ऊपर वीर सं० १०४ वर्ष नो शिलालेख छे अने पुरती कोशीश करवा थी ते मूर्त्तियों त्यांना जैनो ने मिली छे" जैनपत्र ता० २६-१-३०

(१३) वड़ली (अजमेर) का वीर सं० ८४ का शिलालेख। यह शिलालेख रायबहादुर पं० गौरीशंकरजी ओझा की शोध खोज से मिला है। इसपर लिखा है:—

"वीराय भगवते चतुरासिति वासे माझिमिके।"

ओझाजी की लिपिमाला पुस्तक

यह लेख अजमेर के अजायब घर में सुरक्षित और लेखक की खुद की निगाह से भी गुजरा हुआ है।

इस लेख से भी यही प्रमाणित होता है कि यह शिलालेख वीर निर्वाण सं० ८४ में अंकित किया गया है। इस शिलालेख में बतलाई माझिमिका वही प्रसिद्ध पुरानी नगरी माध्यमिका है, जिसका उल्लेख भाष्यकार पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में किया है।

प्रस्तुत शिलालेख ने केवल जैनधर्म के इतिहास पर ही नहीं अपितु समग्र भारतीय इतिहास पर बड़ा भारी प्रभाव डाला है। विद्वद्वर्ग की ऐसी धारणा है कि आजतक के प्राप्त भारतीय शिलालेखों में यह लेख सब से प्राचीन और महत्वपूर्ण है। श्रीमान् काशीप्रसाद जायसवाल और महामहोपाध्याय डॉ० सतीशचन्द्र

विद्याभूषण जैसे प्रकाण्ड विद्वानोंने अपनी २ राय प्रकट की है कि यह शिलालेख महावीर के निर्वाण बाद वास्तव में ८४ वर्ष का ही है और जैनधर्म की प्राचीनता तथा महत्ता पर विशेष प्रकाश डालता है। स्थानकवासियों की शंका के निवारणार्थ पं० बेचरदासजी ने भी इस लेख को बारीकी से देखा है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि श्रीमान् संतबालजी जो अशोक के समय से मूर्तिपूजा का प्रचलित होना मानते थे, अब अपनी उस मान्यता को छोड़ वीरात् ८४ वर्ष में मानने लगे हैं। विश्वास है यदि आगे भी इसी प्रकार की पुरातत्त्व की शोध खोज होती रही तो स्थानकवासियों को वीरात ८४ वर्ष के बाद की मूर्ति मान्यता को भी बदलकर भगवान् महावीर के पुरोगामी प्रभु पार्श्वनाथ के समय से भी माननी पड़ेगी। क्योंकि मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त हुए स्तूप के विषय में जिसका कि वर्णन हम ऊपर लिख आये हैं उससे भी प्रस्तुत स्तूप बहुत पूर्व का है यहाँ तक कि प्रभु पार्श्वनाथ का समय भी इनसे बहुत पीछे का है।

(१४) पुरातत्त्व के अनन्य अभ्यासी श्रीमान् डॉ० *प्राणनाथ* का मत है कि ई० सन् के पूर्व पांचवी छट्ठी शताब्दी में जैनियों के अन्दर मूर्ति का मानना ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध है।

(१५) पटना की बस्ती अगम कुँआ से मिली दो मूर्तियों के शिलालेखों से पुरातत्त्वज्ञ श्रीमान् *काशीप्रसाद जायसवाल* ने निर्णय पूर्वक यह घोषणा की है कि ये जैन मूर्त्तिएँ महाराजा कोणिक (अजात शत्रु) के समय की ही हैं।

भारतीय इतिहास की रूपरेखा जिल्द १ पृष्ट ५०२

(१६) काठियवाड़—जैतलसर के पास मायाबन्दर

स्टेशन से थोड़ी दूरी पर ढ़ाका ग्राम में प्राचीन जैन मूर्तिएँ मिली हैं वे भी ईस्वी सन् के पूर्व कई शताब्दियों की हैं।

(१७) पुरातत्त्वज्ञ श्रीमान् हीरानन्द शास्त्री ने एक विस्तृत लेख सरस्वती मासिक पत्र वर्ष १५ अंक २ में प्रकाशित करवाया है जिसमें आप लिखते हैं कि मथुरा से १४ मील के फासिले पर परखम नामक ग्राम में एक प्रतिमा मिली है, जिस पर ब्राह्मीलिपि में एक लेख है, उसको पढ़ने से पाया जाता है कि यह मूर्ति ईस्वी सन् के पूर्व२५० वर्षों की है। इसी प्रकार जैनधर्मावलंबिय के एक स्तूप का भी पता मिला है जो कि पिप्रावह के स्तूप से कम पुराना प्रतीत नहीं होता है। यह स्तूप गौतमबुद्ध के निर्वाण के बाद थोड़े ही समय में बना है, अर्थात् ईस्वी सन् के पूर्व ४५० वर्षों मे यह बना था।

(१८) जैसे पूर्व और उत्तर भारतमें जैनों के प्राचीन स्मारक चिन्ह मिलते हैं वैसे ही दक्षिण भारत और महाराष्ट्र प्रान्त में भी जैनों के स्तूप, मूर्तिएँ और गुफाएँ कोई कम नहीं मिलती हैं। और उन प्राप्त स्मारकों का समय भी मौर्यचन्द्रगुप्त व उनसे भी पूर्व का है देखो "प्राचीन स्मारक नामक पुस्तक।"

(१९) **भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास** पृष्ठ १६ में श्रीमान् त्रिभुवनदास लेहरचन्द ने लिखाहै है कि अंग्रेजों द्वारा खुदाई का काम करते वक्त एक महावीर की प्राचीन मूर्ति उपलब्ध हुई है और उसका चित्र देकर यह बतलाया है कि यह मूर्ति खारवेल के पूर्व अर्थात् वि० सं० के पूर्व तीसरी शताब्दी की है इससे निःशंक है कि यह मूर्ति प्रायः २२०० वर्ष

धन कटक प्रान्त की वेनातट राजधानी के प्रदेश में खुदाई का काम करते समय श्री पार्श्वनाथ प्रभु की प्राचीन मूर्त्ति भूगर्भ से मिली है। यह मूर्त्ति चक्रवर्ति महामेघवहान खारवेल के पूर्व की अर्थात भगवान् महावीर के बाद दूसरी शताब्दी की होना निर्णीत हुआ है।

यह मूर्त्ति भगवान महावीर की है खुदाई का काम करते समय उपलब्ध हुई है और इसका समय भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध के पश्चात् एक शताब्दी का विद्वानो ने निर्णीत किया है ।

की प्राचीन है तथा उस समय भी जैनधर्म में मूर्तिपूजा आमतौर से प्रचलित थी इसका ही यह पर्याप्त प्रमाण है देखो चित्र।

(१९) वैनातट नगर के प्रदेश में मिली हुई पार्श्वनाथ की प्राचीन मूर्ति विक्रम पूर्व दो तीन शताब्दियों की है जिसका चित्र इसी पुस्तक में अन्यत्र है। डॉ० त्रिभुवनदास लहरचंद ने भी अपने "भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास के दूसरा भाग में" इसकी चर्चा करते हुये लिखा है कि यह मूर्त्ति विक्रम पूर्व तीसरी शताब्दी की है।

भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास पृ० १२२

(२०) श्रावस्ती नगरी के शोध खोज से भूमध्य में से एक श्रीसंभवनाथ का मन्दिर निकला है। इस मन्दिर ने ऐतिहासिक क्षेत्र पर अच्छा प्रकाश डाला है। इस खोद काम से और भी अनेक खण्डहर मिले हैं। जिनके विषय में विद्वानो का मत है कि ये भगवान् महावीर के पूर्व के स्मारक हैं और स्वयं भगवान् महावीर भी यहाँ पधारे हुए हैं। देखो

जैन ज्योति अंक ता० २५-४-३६

(२१) अंग्रेजों के खोद काम से मिली हुई एक जैन मूर्ति पर *वीरात्* १८४ वर्ष का शिलालेख अङ्कित है, तथा वह मूर्ति कलकत्ता के म्यूजियम में सुरक्षित है।

(२२) जैन पत्र ता० ८-१२-३५ पृष्ट ११३१ पर एक पुरातत्वज्ञ ने एक मूर्तिपूजा की प्राचीनता बताते हुए भूगर्भ से प्राप्त एक (जैन) मूर्ति को ई० सन् के पूर्व छठी शताब्दी का बताया है। अर्थात् भगवान महावीर के सम सामयिक उस मूर्ति का होना सिद्ध किया है।

(२२) विशाला नगरी के आसपास के प्रदेश में पुरातत्व विभाग की ओर से शोध खोज का आरम्भ होने पर इतने ध्वंसाऽवशेष मिले हैं कि जिन पर गवेषणा पूर्वक विचार कर योरोपियन विद्वानों ने अपने निष्पक्ष मानस से यह स्पष्ट बतला दिया है कि ये स्मारक चिन्ह भगवान् महावीर के सम सामयिक हैं। भूगर्भ से प्राप्त इन साधनों से यह भी निःसंदेह पाया जाता है कि जैनियों में बहुत प्राचीन काल से ही धार्मिक साधनों में जैन मन्दिर, मूर्त्तिएँ, स्तूप और पादुकाए आदि प्रधान समझी जाती थीं। आजतक जैनों के जितने प्राचीन चिन्ह प्राप्त हुए हैं वे सब के सब मूर्तिपूजा के प्राचीनत्व को परिपुष्ट करते हैं। परन्तु ऐसा साधन तो एक नहीं मिला कि जो अपवाद रूप से भी क्वचित् मूर्तिपूजा का विरोध करता हो? इतने पर भी क्या अब हमारे स्थानकवासी भाई यह विचार करेंगे कि वास्तविक तथ्य क्या है?

(२३) ओसियां में देवी के मन्दिर के पृष्ठ भाग में एक देहरी के पीछे प्राचीन जैन मूर्ति अपूजित विराजमान है। यह मूर्ति भी उतनी ही प्राचीन है जितना कि प्राचीन ओसियां का जैन मन्दिर है। जिन्हे विश्वास न हो वे वहाँ जाकर स्वयं देख सकते हैं

(२४) मारवाड़ की प्राचीन राजधानी मण्डोर के भग्न किले मे एक दुमंजिला जैन-मन्दिर खण्डहराऽवस्था में विद्यमान है, उसकी देहरियों के छवना के पत्थरों में भी छोटी-छोटी जैन मूर्तियें विद्यमान हैं, ये भी बहुत प्राचीन हैं जिनका कि चित्र यहाँ दिया जाता है।

(२५) रायबहादुर पं० श्रीमान् गौरीशंकर ओझा ने
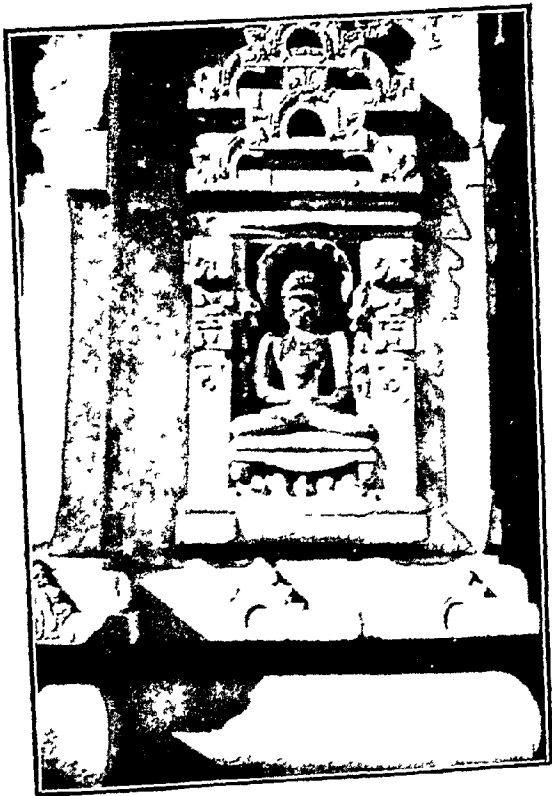
यह मूर्त्ति प्रभु पार्श्वनाथ की है जो ओसिया के देवी के मन्दिर में एक देहरी के पीछे अपूज विराजमान है। मूर्त्ति की प्राचीनता ओसिया के मन्दिर से मिलती जुलती है अर्थात् २३९३ वर्षों की है।

यह मूर्त्ति मारवाड़ की प्राचीन राजधानी मडोवर के भग्न किले मे एक दूमजल जैन मन्दिर की एक भग्नदेहरी के खण्डहर के पत्थर मे कोतारीहुई जैनमूर्त्तियो का दृश्य है।

अपने राजपूताना के इतिहास नामक पुस्तक के पृष्ट १४१३ पर लिखा है कि:—

"इससे निश्चित है कि मेवाड़ में विक्रम संवत् पूर्व दूसरी शताब्दी के पूर्व में मूर्तिपूजा का प्रचार था। (जिसे २२०० से भी अधिक वर्ष हुए हैं)।

(२६) मथुराके प्राचीन कंकाली टीला में खुदाईका काम करने से जो प्राचीन मूर्तियें, स्तूप, सिक्के आदि ध्वसाऽवशेष मिले हैं उन्होने तो भारतीय इतिहास में एकवारगी ही क्रान्ति मचा दी है। इस टीले की खुदाई का काम शुरू में ईस्वी सन् १८७१ में जनरल कनिंघम ने कराया था। बाद में सन् १८७५ मे मि० ग्रौस ने व सन् १८८७ से ९६ तक डॉ० बर्जेल और डॉ० फूहरर की निरीक्षता में काम हुआ, जिसमें सैकड़ों मूर्तिएँ, अनेकों पादुकाएँ, तथा तोरण, स्तूप पवासना आदि के खण्डहर और कई अक्षत पदार्थ निकले। उनमें ११० एकसौ दश प्राचीन शिलालेख और अनेक तीर्थङ्करो की मूर्त्तिएँ तथा एक प्राचीन स्तूप जैनों के थे ऐसा निश्चयात्मक बतलाया गया है।

इन मूर्त्तियो के शिलालेखो मे मौर्यकाल, गुप्त समय और कुशानवंशी राजाओं के समय के शिलालेख सर्वाऽधिक हैं जिन्हें प्राय: २००० या २२०० वर्षों का कहा जा सकता है। जैन स्तूप तो इससे भी बहुत अधिक पहिले का है। कतिपय शिलालेख परिशिष्ट में दिये गये हैं।

पूरातत्त्वज्ञ श्रीमान् सर विन्सेन्ट स्मिथ का मत है कि—

"The discoveries have to a very large extent supplied corroboration to the written Jain tradition

and they offer tangible and incontrovertible proof of the antiquity of the Jain religion, of its early existence, very much in its present form The series of twenty four Pontiffs (Tirthankaras) each with his distinctive emblem was evidently firmly believed in at the beginning of the Christian Era" Further the inscriptions are replete with information as to the organization of the Jain church in sections known as Gana, Kula and Sakha, and supply excellent illustrations of the Jain books- Both inscriptions and sculptures give interesting details proving the existence of Jain nuns and the influential position in the Jain church occupied by women

"अर्थात् इन खोजों से जैनियों के ग्रन्थो के वृत्तान्तों का बहुत अधिकता से समर्थन हुआ है और वे जैनधर्म की प्राचीनता व उसके बहुत प्राचीन समय में भी आज ही की भाँति प्रचलित होने के प्रत्यक्ष और अकाट्य प्रमाण हैं। ईस्वी सन् के प्रारम्भ में ही चौवीस तीर्थङ्कर उनके चिन्हों सहित अच्छी तरह से माने जाते थे, बहुत से लेख जैन सम्प्रदाय के गणों के या शाखाओं के विभक्त होने के समाचारो से भरे पड़े हैं और वे जैन ग्रन्थों के अच्छे समर्थक भी हैं।"

इनमें के कई एक लेख व चित्र आदि डॉ॰ व्हूलर के "एफिग्राफिआ इण्डिका" नामक पत्र की पहिली जिल्द मे छपवाये हैं जिन्हे जरूरत हो वहाँ से देखले।

२३०० वर्षों की प्राचीन जैनमूर्ति.

वैनाकटक से मिली हुई यह मूर्ति जैनधर्म के इतिहास पर अच्छा प्रकाश डालती है देखो 'भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास'

२२०० वर्षों की प्राचीन जैनमूर्ति ।

मथुरा के ककाली टीला का खोद काम करते समय भूगर्भ से अनेक प्राचीन मूर्तियाँ मिली जिनमे यह भी एक है यह लखनऊ के म्यूजियम मे सुरक्षित है ।

जैन तीर्थंकरो की प्राचीन मूर्तिएँ
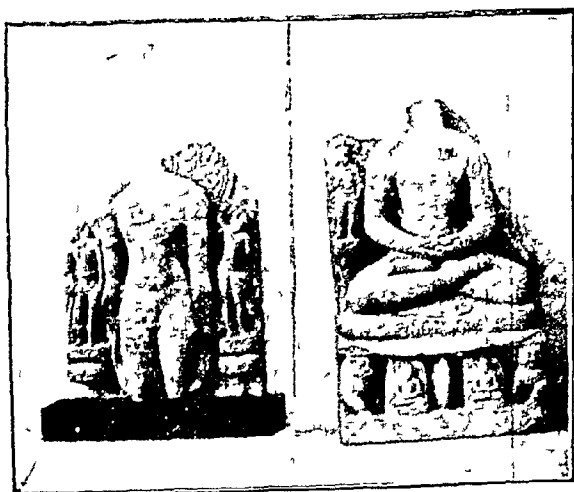
मथुरा के कंकाली टीला के खुदाई का काम करते समय जैन तीर्थंकरो की अनेक मूर्त्तिया मिली जिनमे यह दो मूर्त्ति भी हैं। लखनऊ के म्यूजियम मे विद्यमान हैं। इनका समय गुप्तकाल अर्थात् वि० पू० दो सौ वर्ष का बतलाया जाता है। इस समय के पूर्व भी जैन धर्म में मूर्त्तिपूजा प्रचलित थी जिसका यह एक अकाट्य प्रमाण है।
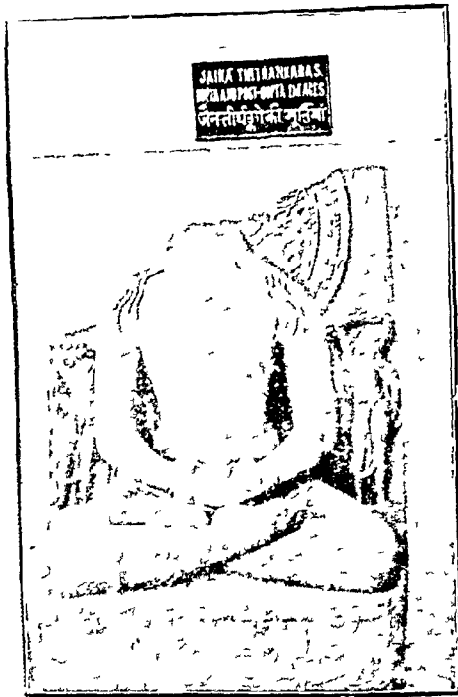
मथुरा के ककाली टीला का खुदाई का काम करते समय जैन तीर्थंकरो की मूर्तिया उपलब्ध हुई। उनमे से यह मूर्त्ति भी एक है। लखनऊ के म्यूजियम मे सुरक्षित है। इसका समय गुप्तकाल अर्थात् २२०० जितना प्राचीन बतलाया जाता है।

वसुदेव शरण अग्रवाल एम० ए० एल० एल० बी० मथुरा लिखते हैं कि:—

"मथुरा कलां में जैन मूर्त्तियों की संख्या बौद्धमूर्त्तियों के समान ही समझी जानी चाहिए। मथुरा की जैन कला महत्त्व में भी हिन्दू या बौद्धकला से कम नहीं है। नागावृत जैन तीथङ्करों की कई एक बहुत ही श्रेष्ठ और संजीव मूर्त्तिएँ मथुरा के संग्रहालय में हैं। जैनकला में सर्व तो भद्र-प्रतिमाएँ बहुत मिलती हैं, जिनमें एक ही पत्थर में चारों दिशाओं की ओर मुँह किए चार तीर्थङ्कर बने रहते हैं। इनमें एक तीर्थङ्कर सदा ही नाग के छत्र वाला पाया जाता है जिसे हम सुपार्श्वनाथ या पार्श्वनाथ मान सकते हैं।"

नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग १३-अंक १।

जैनियों की मूर्तिएँ स्तूपादि प्राचीन पदार्थ अभी तक तो मेरे ख्याल से भूगर्भ में अधिक गुप्त हैं, क्योंकि आज तक जो कुछ उपलब्ध हुए हैं वे तो अन्यान्य धर्मावलंबी पुरातत्त्वज्ञों की ही शोध-खोज के परिणाम हैं न कि खास जैनियों के क्योंकि जैनियोंकी तरफ से तो इस ओर प्रयास होना दर किनारे रहा इस महत्त्वपूर्ण कार्य का श्रीगणेश भी नहीं हुआ है। इस विषय में सर विन्सेन्ट स्मिथ साहिब का मत है कि:—

"I feel certain that the remains at Kaushambi in the Allahabad district will prove to be Jain for the most part and not Buddhist as Cannıngham supposed. The village undoubtedly represents the Kaushambi of the Jains and

the site where Jain temples exist is still, a place of pilgrimage for the votaries of Mahavira. I have good reasons for believing that the Buddhist Kausambi was a different place (J R A S. July 1898) I commend the study of the antiquities at Kosam to the special attention of the Jain community"

× × × ×

अर्थात्—मुझे पूर्ण विश्वास है कि इलाहबाद जिले के कोसम नामक गाँव के खण्डहर आदि बहुतायत से जैन स्मारक सिद्ध होंगे, न कि बौद्ध। जैसे कि डॉ० कनिंघम ने अनुमान किया था 'यह ग्राम निश्चय से जैन कौशाम्बी है। जिस स्थान पर जैन-मंदिर बने हैं वे अब भी महावीर के उपासकों के तीर्थस्थान हैं। मेरे पास यह विश्वास करने के लिए कि बुद्ध कौशाम्बी एक अन्य स्थान है बहुत से दूसरे प्रमाण हैं। "जै० रि० ए० सो० जुलाई सन् १८९८।"

मै जैन सम्प्रदाय को इस जैन कौशाम्बी की प्राचीनता की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए आग्रह करता हूँ।"

× × ×

(२७) अहिछत्ता-नगरी के खोद-काम से प्राचीन खण्डहर तथा मन्दिर मूर्त्तिएँ प्राप्त हुई हैं, वे मूर्त्तिएँ ई० सन् के पूर्व दो सौ वर्ष की पुरानी हैं।

"जैन सत्यप्रकाश अंक १ पृष्ठ २०—"

"लेखक नाथालाल छगनलाल श्रावणमास वि० सं० १९९१"

मूर्त्ति पूजा का प्राचीन इतिहास

२२०० वर्षों का प्राचीन आयागपट्ट
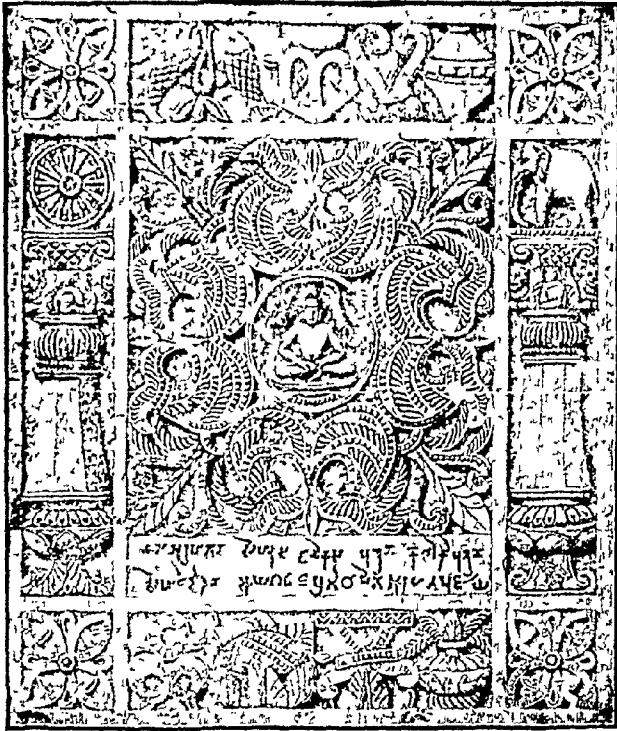
ऊपर का आयागपट्ट मथुरा का कंकालीटीला के खोद काम करते समय भूमि से प्राप्त हुआ है। और इसके लिये भारतीय विद्वान् पुरातत्वज्ञ श्रीमान् राखलदास बेनर्जी का मत है कि "साधारण रीते चार मत्स्य पूच्छना केन्द्र स्थले एक गोलाकार स्थानने विषय एक बेठी जैनमूर्ति होय छे वि० सं ना प्रारम्भ पूर्वे बे सो वर्ष उपर सिहक वणिकना पुत्र अने कौसिकी गौत्रीय मात्ताना संतान सिहनादि के मथुरा मा जे आयागापट्टनी प्रतिष्ठा करीहती तेमां उपरोक्त विवस्था जोवामा आवे छे

क्या मूर्त्तिपूजा की प्राचीनता में अभी भी किसी को शका है ? नहीं।

सम्राट् सम्प्रति का परिवार
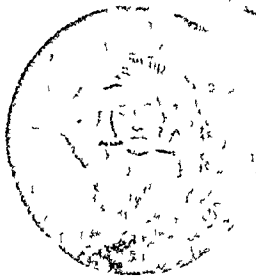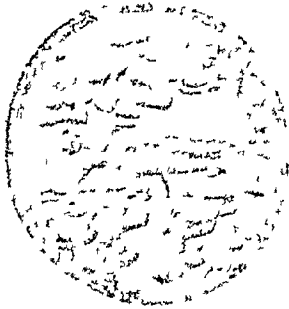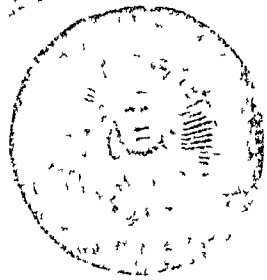
मूर्त्तिपूजा का प्राचीन इतिहास

यह चतुर्थ आरा की प्राचीन जैन मूर्त्ति है।
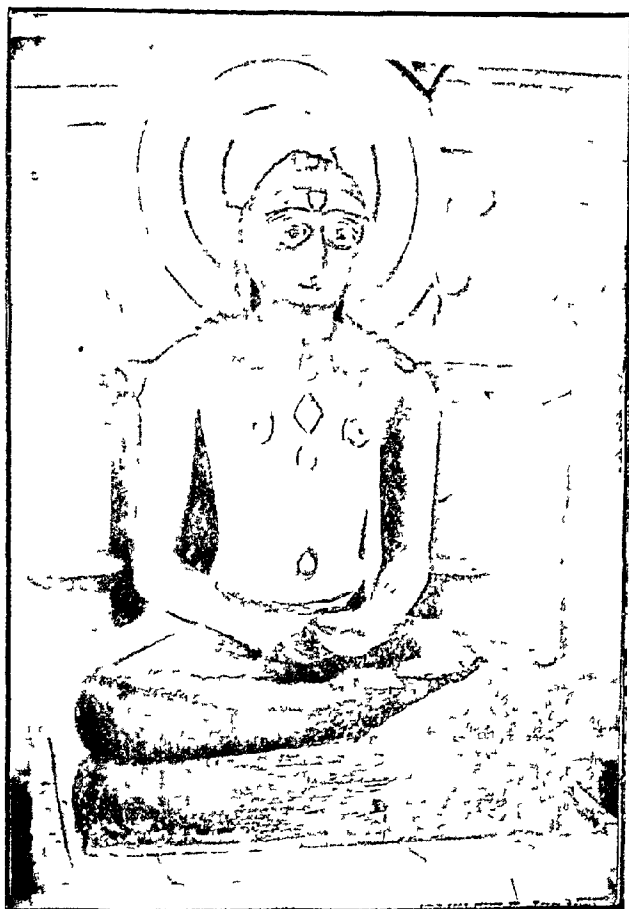
आबू जैनियों का प्राचीन तीर्थ है पर ब्राह्मणकाल मे उसे नष्ट भ्रष्ट कर डाला था तथापि भूगर्भ से कई प्राचीन मूर्तिया वगैरह आज भी उपलब्ध होती हैं उनमें से यह एक है। विमलवसही के देहरी न० २० मे यह मूर्ति स्थापित है। कहा जाता है कि यह मूर्ति चतुर्थ आरा की है।

मूर्त्तिपूजा का प्राचीन इतिहास

चन्द्रावती के प्राचीन मंदिरो का ध्वंस खंडहर

चन्द्रावती नगरी राजा चन्द्रसेन ने वीर की पहिली शताब्दी में वसाई थी जिसको २४०० वर्ष हुए है।

इसी प्रकार महाराजा वसुपाल के सहस्रकूट नामक जिनालय के विषय में कथाकोश ग्रन्थ में भी उल्लेख मिलता है।

"अहिछत्रपुरे राजा, वसुपालविचक्षणः।
श्रीमज्जैनमते भक्तो,वसुमत्यभिधस्त्रिया ॥
तेन श्रीवसुपालेन, कारितं भुवनोत्तमम्।
लसत्सहस्रकूटे, श्रीजिनेन्द्रभवने शुभे ॥"

इससे स्वतः सिद्ध है कि जैनों में मन्दिर मूर्त्ति का पूजन करना प्राचीन समय से ही प्रचलित है।

(२८) जर्मनी के प्रखर विद्वान् डॉ० हरमन जेकोबी के अभिप्राय......

आप जब अजमेर आये थे तब उन्हें कई मूर्त्ति नहीं मानने वालों ने मूर्तिपूजा विषयक अभिप्राय देने को कहा। डॉक्टर साहब को उस समय इतना जैनागमों का बोध न था। अगर आपने सूत्र पहले देखे भी थे तो विशेष कर आचार सम्बन्धी ही। आपके परिपक्वाभ्यास के अभाव में आपने यह कह दिया कि—

No distinct mention of the worship of the idols of the Tirthankaras seems to have been made in the Angas and Upangas × × × I can not enter into details of the subject, but if I cannot be greatly mistaken I have somewhere expressed my opinion that worship in the temples is not an original element of Jain religion.

तात्पर्य यह है कि आपके देखे जैन अंगों-पांगों सूत्रों में, मूर्तिपूजा के लेख धार्मिक विधानों में नहीं है।

यह उनके निखालस और पक्षपात रहित हृदय की बात है। उन्होंने यह तो कहा ही नहीं कि जैनागमों में मूर्त्तिपूजा है ही नहीं। आपने तो अपने कृत अभ्यास से यह कहा कि मुझे मेरे अभ्यास में ऐसा पाठ देखने में नहीं आया।

इतने पर तो हमारे भाई फूले न समाये और डॉक्टर महोदय के वचनों को किसी अतिशय ज्ञानी के वचन की तरह मान नाद फूँकने लगे कि डॉ० जेकोबीने जैनागमों के गूढ़ अभ्यास से यह निश्चय किया है कि जैनागमों में मूर्त्तिपूजा का विधान है ही नहीं। पर उन्हें यह पता नहीं था कि पाश्चात्य विद्वान् मुकाबले उनके इतने हठधर्मी नहीं हैं, बल्कि सत्य के उपासक ही हैं।

उपरोक्त घटना घटी उस वखत शास्त्र विशारद जैनाचार्य श्री विजयधर्म सूरीश्वरजी महाराज जोधपुर में थे, और आपके ही प्रयत्न से जैन साहित्य सम्मेलन की एक विराट् आयोजना हो रही थी डॉक्टर महोदय को भी सम्मेलन में आने का था। आप जोधपुर पधारे और आचार्य महाराज से भेट कर अपनी कई शंकाओं के साथ साथ ज्ञातव्य प्रश्न भी किये। सूरीश्वरजी ने डॉक्टर साहब की अनेक शकाओं का निराकरण अच्छी योग्यता से करके उनको सत्य मार्ग बताया आपके हृदय मे जैनधर्म सम्बन्धी आदर्श स्थान हो गया। आपने सूरिजी की मुक्तकठ से भूरि-भूरि प्रशंसा की। मूर्त्तिपूजा का प्रश्न भी अनेक प्रश्नों में से एक था। ऊपर की बात भी डॉक्टर महोदय ने सूरिजी के आगे कही। फिर क्या था आचार्य महाराज अनेक ऐतिहासिक प्रमाणो से डॉक्टर साहब के मन की शंकाओ को मिटाकर जैनागमो में श्रीभगवतीसूत्र श्रीज्ञातासूत्र, श्रीउपासकदशांगसूत्र श्रीप्रश्न व्याकरण, श्रीउववाईसूत्र श्रीराजप्रसेणीसूत्र

श्रीजीवाभिगमसूत्र आदि अनेक आगमों में मूर्त्तिपूजा विषयक पाठ बताये। डॉक्टर साहब को बड़ा ही आश्चर्य हुआ तथा सत्य हृदय से मूर्त्तिपूजा को सहर्ष स्वीकार किया और अजमेर में आपने जो कुछ कहा था, उससे गलतफहमी न फैले इस ख्याल से आपने सत्य जाहिर किया। आपके दिये हुए व्याख्यान में ही आपने यह कहा कि:—

"He pointed out to me the passage in the Angas, which refer to the worship of the idols of Tirthankaras and assisted me in many more ways"

ता० ४-३-१४ के जैन साहित्य सम्मेलन सभा में दिया हुआ 'व्याख्यान के शब्द' जैन साहित्य सम्मेलन मुद्रित ई० स० १९१६ पृष्ट ३७। इससे यह स्पष्टतया जाहिर हो जाता है कि डॉक्टर साहब का आखरी मंतव्य जैन आगमो मे मूर्त्तिपूजा के विधान का ही है।

(२९) शोधखोज के अजोड अभ्यासक प्रकांड विद्वान् सद्गत श्रीयुत राखलदास बन्धोपाध्याय अपनी दीर्घ विचारणा के अंत में जिनप्रतिमा ही नहीं पर पूजन विधि के लिये ही अकाट्य दलीलें रज्जू करते हैं—

आज से२२०० या २५०० वर्ष पहले जैनी क्या पूजते थे? किस तरह पूजते थे? इसका पता लगाना ही चाहिये। ई० सं० पूर्व २००-३०० वर्षों पहिले उत्तर भारत के जैन मूर्ति पूजा करते थे। प्रमाण रूप में मोजूदा समय में भी मथुरा कौशाम्बी आदि प्राचीन नगरों में से मूर्तिएँ मिलती हैं।

उपरोक्त इन पुरातत्त्वज्ञों के शोध-खोज से प्राप्त साधनों से जैन समाज का लुप्त प्राय इतिहास आज बहुत कुछ प्रकाश में

आ रहा है, और यह प्रयास अभी तक निरन्तर चालू है जिससे आशा की जाती है कि अचिर भविष्य में ही संसार के इतिहास के साथ जैन साहित्य,समाज और धर्म का इतिहास भी अधिकांश में परिस्फुट होगा। क्योंकि इस प्रभावशाली और महत्त्व के कार्य से जो कुछ स्तूप, मूर्तिएँ शिलालेखादि प्राप्त होते हैं उन्हें भारतीयता के पक्षपात से रहित योरोपियन विद्वान् अपने अपने ग्रंथों में सचित्र छाप निष्पक्षतया अपना निर्भीक अभिप्रायदेते हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविक सत्य क्या है? हमें पूर्ण विश्वास है कि पुरातत्वज्ञों के प्रयत्न द्वारा यह खुदाई की प्रथा यों की यों कुछ काल तक जारी रही तो सारी दुनियां में यह बात स्वयं जाहिर हो जायगी कि जैन धर्म की मूर्त्तिपूजा संसार में सब से प्राचीन है, और फिर हमारे उन मूर्तिअपूजक भाइयों को जो रातदिन हमें इसके लिये कोसा करते हैं, प्रत्युत्तर देने का स्थान तक नहीं मिलेगा।

क्योंकि हमारे कई एक भाई केवल पक्षपात के विमोह में फँस, बिलकुल बेभान हो मूर्त्ति के बारे में यद्वा-तद्वा वचन बोल उठते हैं, पर इस प्रकार जब वे अपने प्राप्त पूर्व इतिहास की ओर नजर डाल देखेंगे तो उनकी अज्ञता का पड़दा स्वयमेव दूर हो जायगा, और लाचार हो यह कहना पड़ेगा कि हमारे पूर्वजों ने जैनमूर्त्तियों का निर्माण करवा कर न केवल हम पर ही किंतु बड़े बड़े राजा महाराजों पर भी जैन धर्म का कैसा जबर्दस्त प्रभाव डाला था। तथा उसका कारण उन राजामहाराजाओं ने अपने विशाल दुर्गों, गढों और किलों तक में कैसे २ आलीशान एवं ऊँचे शिखरोंवाले मन्दिर बनवाकर किस तरह जैन धर्म को

सदा सर्वदा के लिए संसार में स्थायी बनाया था। यद्यपि बहुत से किलों के मन्दिर अनार्य यवनों ने अपनी सत्ता में नष्ट भ्रष्ट कर दिए फिर भी अनेक ऐसे २ मन्दिर उत्तुंग पहाड़ो पर, अगम्य किलों पर और निर्जन वनों में शेष रह गये जो आज के इस गये गुजरे जमाने मे भी भारतीय जैनो की प्राचीन विभूति की स्मृति दिला रहे हैं। उदाहरणार्थ अवशिष्ट मन्दिरों का कुछ परिचय नीचे दिया जाता है।

१—चित्रकोट (चित्तौड़) के किले में जैनमन्दिर तथा जैनों का कीर्ति स्तम्भ, जैनों के उज्ज्वलभूत का परिचय दे रहे हैं।

२—कुम्भलगढ़ के दुर्ग में आज भी कई जैनमन्दिर मौजूद हैं।

३—मारवाड़ की प्राचीन राजधानी मंडोर के भग्न किल्ले में सांप्रत समय में भी दुमञ्जिला मन्दिर शेष है।

४—जैसलमेर के दुर्ग में देवभवन के सदृश आठ मन्दिर विद्यमान हैं जहाँ कि हजारों भावुक यात्रा करते हैं।

५—नागपुर (नागोर) के किले मे मन्दिर होने का उल्लेख उपकेशगच्छ चरित्र में मिलता है। पर यवनों ने अपने राजत्व काल में उसे तोड़ फोड़ उस मन्दिर के मसाले से मसजिद बना डाली है।

६—ग्वालियर के किले में पूर्व जमाने में जैन मन्दिर होने का उल्लेख मिलता है।

७—फलोदी के किले में भी जैनमन्दिर होने का जनप्रवाद है।

८—दौलताबाद के दुर्ग में बहुत से जैनमन्दिर होने का उल्लेख शत्रुँजय के पंद्रहवां उद्धारक समरसिंह के चरित्र में मिलता है और आज भी वहाँ से बहुत सी जैनमूर्तिएँ निकल रही हैं।

९—बदनावर के किले में पहिले जैन मन्दिर था।

१०—ईडर के किले में एक विशाल जैनमन्दिर आज भी विद्यमान है, जिसकी हजारो भावुकलोग यात्राकर आनन्द लूटते हैं।

११—जालौर के किले में बड़े भव्य जैनमन्दिर अब भी सुरक्षित हैं जिन्हें लोग सौन्दर्य के कारण आधा शत्रुञ्जय कहते हैं।

१२—मांडवगढ़ के दुर्ग में जैनमन्दिर विद्यमान है।

१३—रणथंभोर के किले में भी जैन मन्दिर थे।

१४—अलवर के किले में धर्मवीर हीरानन्दजौहरी ने जैन मन्दिर बनवाया था।

१५—त्रिभुवनगिरि के किले में खुद वहाँ के राजा ने जैन मन्दिर बनवाया था।

१६—किराटकूंर के किले में भी जैन मन्दिर था।

इत्यादि इनके अलावा और भी जैन पटावलियों वंशावलियों और चरित्रादि ग्रन्थोंसे पता चलता हैकि अनेक राजा महाराजाओं के दुर्गों में जैन मन्दिर थे।

इस उपर्युक्त तालिका से इतना तो अवश्य पाया जाता है कि जैनों में मन्दिर मूर्तियों का मानना बहुत प्राचीन समय से है। और इन दुर्गस्थ मन्दिरों ने राजा महाराजाओं पर ही नहीं परन्तु संसार भर में जैनधर्म का अच्छा प्रभाव डाला। अब आगे चलकर हम भारत के रमणीय पहाड़ों पर के जैन मन्दिरों की संक्षिप्त सूची लिखते हैं:—

१—कलिङ्ग देश के खण्डगिरि और उदयगिरि पहाड़ियों पर आलीशान जैनमन्दिर थे, जिनका जिक्र चक्रवर्ती महाराजा खारवेल के शिलालेख से मिलता है।

२—हिमालय पहाड़ पर भी एक समय जैनमन्दिर थे और यह पहाड़ जैनों का धाम तीर्थ समझा जाता था, इसका उल्लेख श्री जिनप्रभसूरि कृत तीर्थकल्प में मिलता है।

३—सम्मेत शिखरगिरि—यह जैनियों का तीर्थ धाम है। वर्तमान चौवीस तीर्थंकरों में से वीस २० तीर्थङ्करो का निर्वाण इसी पवित्र पहाड़ पर हुआ था। वहाँ यदि मन्दिर और पादुकाएँ हो तो इसमें आश्चर्य क्या है।

४—राजगृह के उदयगिरि पर जैन मन्दिर।

५—राजगृह के रत्नगिरि पहाड़ पर जैन मन्दिर।

६—राजगृह के विपुलगिरि पहाड़ पर जैन मन्दिर।

७—राजगृह के व्यवहारगिरि पहाड़ पर जैन मन्दिर।

८—राजगृह के सोनगिरि पहाड़ पर जैन मन्दिर।

९—क्षत्रिय कुण्ड की पहाड़ी पर जैन मन्दिर।

१०—पहाड़पुर (बङ्गाल) के वड़ा टोला पर जैन मन्दिर।

११—कोलसी पहाड़ (भद्रलपुर) पर जैन मन्दिर।

१२—ढकांगी की पहाड़ी पर जैन मन्दिर।

१३—तीर्थाऽधिराज श्री शत्रुञ्जय—यह जैनों का प्रसिद्ध तीर्थ धाम है। और वह जैनमन्दिरों से खूब ही विभूषित है हजारों लाखों लोग वहाँ यात्रार्थ जाकर सेवा पूजा कर अपनी आत्मा को पवित्र और निर्मल बना देते हैं।

१४—श्री गिरिनारजी के पहाड़ पर भी बहुत जैनमन्दिर हैं।

१५—आबूजी के पहाड़ पर अपनी शिल्पकला से संसार को चमत्कृत करनेवाला विशाल जैन मन्दिर है।

१६—कुम्भारियाजी पहाड़ पर भी पूर्व जमाना में ३०० मन्दिर कहे जाते हैं। उनमें से ५ तो आज भी विद्यमान हैं।

१७—तारंगाजी के पहाड़ पर गगन चुम्बी भव्य जैन मन्दिर हैं।

१८—तलाजा कदम्बगिरि पहाड़ों पर भी विशाल जैन मन्दिर हैं।

१९—नारलाई (मारवाड़) की दोनों पहाड़ियों पर जैन मन्दिर हैं, जिन्हे लोग मारवाड़ के शत्रुञ्जय और गिरनार अवतार कहते हैं।

२०—पाली की पहाड़ी पर जैन मन्दिर है।

२१—जोधपुर के पास गुरां का तलाव की छोटी सी पहाड़ी पर दो रमणीय जैनमन्दिर हैं।

२२—राजगढ़ (मेवाड) की पहाड़ी पर श्रीमान् दयालशाह का बनाया हुआ भव्य एव दर्शनीय जैनमन्दिर हैं।

२३—अरावली पहाड़ के बीच त्रिलोकदीपक राणकपुर का मन्दिर जो अपनी समता का भारत मे एक ही जैन मन्दिर है।

उ युक्तपहाड़ो के अलावा भी श्री शखेश्वर, चारूप, कुलपाक, आन्तरिक, मक्सी, माँडव, उज्जैन, केशरियानाथ, भाँदक अंजारी कापरड़ा और, ओसिया आदि के मशहूर जैन मन्दिर हैं जो अपनी प्राचीनता, भव्यता और दृढ़ता के लिए विश्व विख्यात हैं। जैन मन्दिर और मूर्त्ति का इतना निरबाध प्रचार होने का कारण यह है कि जैन मूर्त्तियो की, त्याग, शान्ति और ध्यानमय आकृति संसारी जीवों का कल्याण करने मे समवायि कारण है। क्योंकि ऐसी भव्याकृति भवतापतप्त जीवो का मन स्वतः शान्ति की ओर खींच

लेती हैं। अतः इन्हे जैन तो क्या पर जैनेतर जनता भी सहसा अपना इष्टदेव मान लेती हैं। उदाहरणार्थ देखिये:—

१—श्री जगन्नाथपुरी में शान्तिनाथ भगवान् की मूर्ति।

२—श्री बद्रीधाम में भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्ति।

३—कांगड़े के किले में श्री ऋषभदेव की मूर्ति।

इस प्रकार महाराष्ट्रादि प्रान्तों में भी बहुत से जैनेतर लोग जैन मूर्तियों को अपने तीर्थधामो में तथा मन्दिरो मे स्थापित कर स्वेष्ठ लाभार्थ पूजन अर्चन करते हैं।

कहने की आवश्यकता नही कि इन मूर्तियो की स्थापनवेला में जैनों की धर्म भावना कैसी थी, और इन धार्मिक कार्यों से उन पूर्वजों के पुण्य किस प्रकार बढ़ते थे, वे कैसे समृद्धिशाली थे कि लाखों करोड़ों का द्रव्य व्ययकर राजा महाराजाओं के किलों में तथा ऊँचे २ पहाड़ो पर अनेक भव्य मन्दिर बनवाकर अपने मानव जीवन को सफल बना गए। पर जब हम आज अपने भाइयो को ही इन मन्दिरो का विरोध करते तथा जिन महानुभावो ने अपना तन, मन, और धन अर्पण कर इन मन्दिरो को आत्मकल्याणार्थ बनाया उनकी ही संतान को तीर्थङ्करो की मूर्त्तियों की विराधना करते देखते हैं तो बड़ा दुःख होता है और इनकी बुद्धि पर तरस आता है।

क्या—मन्दिर निर्माता हमारे पूर्वजों ने स्वप्न में भी यह विचार किया होगा कि आज हम जिस पसीने की कमाई को पानी की तरह बहा अपने स्वर्ण चाँदी को पत्थरो की कीमत में जुड़ा धर्म की चिर स्थापना के लिए ये दृढ़ स्तंभ रूप मन्दिर बनवा रहे हैं, कल हमारे ही सपूत जन्म लेकर इन मन्दिरों के लिए हमें वेव-

कुफ़ बताकर हमारी मखौल उड़ायेंगे! तथा सदा के लिए मन्दिरों के द्वार बंद कराने का दुःसाहस करेंगे ? नहीं! कदापि नहीं!! हर्गिज नहीं !!!

फिर भी यह बात बहुत खुशी की है कि सत्य की कदर करनेवाले जैनेतर पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वान् संशोधकों ने प्राचीन ऐतिहासिक साधनों को जुटा २ कर हमारे भ्रान्त भाइयों को भी भान कराया है जिससे ये लोग भी अब भगवान् महावीर के बाद दूसरी शताब्दी एवं वीरात् ८४ वर्ष से भी मूर्त्तियों का अस्तित्व स्वीकार करने लगे हैं। परन्तु हमें तो इससे भी पूर्ण सन्तोष नहीं होने का। किन्तु हम तो चाहते हैं कि ये भाई भी हमारी तरह मन्दिर मूर्तियों का गौरव समझ कर उनकी भक्ति भाव से सेवा पूजा करें, तथा इन मन्दिर मूर्त्तियों का गौरव अपनी नस नस में भरें जो कि हमारे पूर्वजों में था तभी जैन शासन की उन्नति, धर्म का अभ्युदय, और आत्मा का कल्याण हो सकता है। अन्यथा केवल कहने मात्र से कि हाँ ? मूर्त्ति पूजा प्राचीन तो है पर ....इस थोथी उक्ति से कोई भी काम नहीं चल सकता।

भूतकाल में जैनमूर्त्तियों का सार्व भौम प्रचार

पूर्व में हम लिख आए हैं कि जैन-धर्म अपनी दिव्य योग्यता के कारण विश्वप्रिय एवं जगत् व्यापी धर्म हो गया था अत. उनके प्रबल प्रमाण एवं धर्म स्तम्भ रूप मन्दिर केवल भारत में ही अपना अटल साम्राज्य जमाए बैठे हों सो नहीं किन्तु भारत के बाहिर यूरोप आदि विदेशों में भी इनका एक छत्र राज्य था,

यह मूर्त्ति भगवान महावीर की है आष्ट्रीय देश के बुड्प्रेस्त नगर के एक किसान के खेत में खोद काम करते भूगर्भ से मिली है इसकी प्राचीनता सम्राट चन्द्रगुप्त या सम्प्रति के समय की बतलाई जाती है जिसको आज २२०० वर्ष से अधिक वर्ष हुए हैं ।

इतिहास के अमूल्य साधन—

खुदाई के काम में भूगर्भ से मिले हुए प्राचीन जैन स्मारक

वहाँ भी जैन-धर्म के उपासक अपरिमित संख्या में थे जिन्होंने जैन-धर्म के प्रचारार्थ तथा उसके चिरस्मरणार्थ उन प्रदेशों में भी अनेक जिनालय बनाए। कालचक्र की कुटिल गति से आज वहाँ के निवासी भले ही जैन-धर्म की आराधना नहीं करते हों ? परन्तु पूर्व जमाना के प्राचीन स्मारक अब भी वहाँ उपलब्ध होकर अपने भव्यभूत का परिचय देते हैं। पुरातत्त्वज्ञ विद्वद् वर्ग का एकान्त निश्चित मत है कि किसी जमाने में यूरोप में भी जैन-धर्म का काफी प्रचार था। उदाहरणार्थ लीजिये।

१—आष्ट्रिया प्रदेश के हंगरी प्रान्त के बुदापेस्ट ग्रामके एक किसान को भूमि खोदते हुए भूगर्भ से भगवान् महावीर की मूर्त्ति प्राप्त हुई है। और यह मूर्त्ति प्रायः महाराजा चन्द्रगुप्त या सम्राट सम्प्रति के समय की बतलाई जा रही है। जैन-धर्म का लिखित ऐतिहासिक साहित्य इस बात को और भी पुष्ट करता है क्योंकि उसमें स्पष्ट उल्लेख है कि महाराजा श्रेणिक और चन्द्रगुप्तादि ने भारत के बाहिर प्रदेशों में भी जैन-धर्म का प्रचुर प्रचार किया था। महाराजा श्रेणिक के पुत्र अभयकुमार ने अनार्य-देश एवं आर्द्रकपुर नगर के राजकुमार आर्द्रकुमार के लिए भगवान् ऋषभदेव की मूर्त्ति भेजी थी। उस मूर्ति के दर्शन से उस कुमार को बोधिलाभ हुआ और उसने भगवान् महावीर के पास दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त किया। उपर्युक्त कथन में हम किसी प्रकार की शंका नहीं कर सकते क्योंकि महाराजा चेटक, श्रेणिक उदायन और कुणिक के समय जैनों में मूर्त्तिपजा का पर्याप्त प्रचार था जिसे हम गत प्रकरणों मे सिद्ध कर आये हैं। आष्ट्रिया में खुदाई करने से और भी जैन मूर्त्तिएं मिली है इस

हालत में यदि स्याद्वाद निधान अभयकुमार ने आर्द्रककुमार के लिए मूर्त्ति भेजी हो तो यह सर्वांश में सत्य है।

२—अमेरिका मे भी खोद काम करते समय ताम्रमय सिद्ध चक्र का गट्टा मिला है, वह भी उतना ही प्राचीन बताया जाता है जितनी कि आष्ट्रिया वाली प्राप्त मूर्त्ति प्राचीन हैं।

३—बम्बई समाचार नामक दैनिक अखबार ता ४ अगस्त १९३४ के अंक में "जैन-चर्चा" शीर्षक स्तम्भ में एक यूरोप-यात्रीय विद्वान् लेखक ने विस्तृत लेख लिखकर इस बात को प्रबल प्रमाणों द्वारा सिद्ध की है कि अमेरिका और मंगोलिया देशमे एक समय जैनोंकी घनी बस्ती थी। प्रमाण रूप आजभी वहाँ के भूगर्भ से जैन मन्दिर मूर्त्तियो के खण्डहर प्रचुरता से मिलते हैं। लेखक महोदय ने तो वहाँ की बस्ती के प्रमाण में यहाँतक कल्पना कर डाली है कि शास्त्रोक्त जैनों का महाविदेह क्षेत्र शायद यही प्रदेश तो न हो। और वहाँ से बहुत लोगों का भारत में आने का भी अनुमान किया है। कुछ भी हो पर इतना तो नि:शङ्क माना जा सकता है कि जैनों में मूर्त्ति का मानना बहुत प्राचीन समय से प्रचलित तथा जैन मूर्त्ति-पूजा का प्रचार विश्वव्यापी था।

४—श्याम मे एक पहाड़ी पर प्राचीन जिनालय अब भी विद्यमान है।

कई एक लोगों की यह धारणा है कि मूर्त्ति का विरोध केवल हम ही नहीं पर क्रिश्चियन और मुसलमान भी करते हैं। उनकी इस भ्रान्त भावना के परिष्कार के लिए हमारा इतना ही कहना है कि क्रिश्चियन और मुसलमान किस प्रकार मूर्त्ति का विरोध

करते हैं ? इन्हे अभी तक इसका पता ही नहीं है। जरा निम्नांकित उदाहरणों पर ध्यान लगाकर हृदय पर हाथ रख विचार करें।

१—उत्तर अफ्रीका में प्राचीन इजिप्त (मिश्र) देश में असिरिश और आइरिस नामक लिंग अब भी पूजे जाते हैं। शिव के सदृश असिरिश के मस्तक में सर्प और हाथ में त्रिशूल एवं अंग में व्याघ्र चर्म का परिवेष्ठन है। ऐपिस नामक वृषभ के ऊपर बैठे हैं। इस देश में एक बिल्व सदृश वृक्ष होता है उसी के पत्तो इस मूर्त्ति पर हमेशा चढते हैं। दुग्ध से स्नान कराया जाता है। जिस प्रकार अपने देश में शैवो का काशीधाम है वैसे ही उनके वहाँ पर एम्फिस नामक प्रसिद्ध नगर है। उस देश में लिङ्ग का बीजाक्षर "ट" है मूर्त्ति का रंग काला है। असिरिश वृषभ और आइसिस गोरूप में स्थित है।

२—उत्तर अफ्रिका की जितनी अरब जातिया हैं, सबलिंग और शक्ति की पूजा करती हैं।

३—ग्रीस देश में लिग पूजा अभी तक चलती है।

४—इफसिस देश में डायना नामक देवी की पूजा होती है।

५—ग्रीश देश मे आधा हिस्सा बकरे का और आधा मछली का इस शकल की पान नामक मूर्त्तिकी, तथा और भी ग्रीवायस, मीनर्वा, पीगेश नामक मूर्त्तियों की पूजा होती है।

६—रोम और फ्लारेन्स नगर में बेक्स नामक देवकी पूजा होती है।

७—रोमन केथोलिक संप्रदाय के लोग जो क्रिश्चियन हैं इटली में लिंग और अन्य मूर्त्तिएं पूजते हैं।

८—इङ्गलैण्ड के यॉर्क प्रान्त में 'स्टोनहेज' नामक मूर्त्ति की पूजा होती है। और भी केमलक मन्दिर में मूर्त्तिपूजा होती है।

९—नवटन स्टीन, राउण्डजीरा, और इजीस्मीऊरा जो आयर्लैण्ड में हैं, वहाँ के चर्चों के दरवाजों पर स्त्री आकार की मूर्त्ति होती है जिसे लोग पूजते हैं।

१०—स्काटलैण्ड के ग्लासगो नगर में वहाँ पर श्रीसूर्य के मन्दिर में सुवर्ण पत्र जड़ित सूर्य के आकार वाली मूर्त्ति की पूजा होती है।

११—फ्रान्स देश की स्त्रियें, सौभाग्य, तन्दुरुस्ती और आयुष्य के लिए स्त्री पुरुष चिन्हाकार वाली मूर्त्तिएं पूजते हैं।

१२—अष्ट्रोहुण गिरि देश में ताम्रश्वेक नामक शिवलिङ्ग की पूजा होती है।

१३—तुर्की के असीर्यानामक मुल्क के बाबिलिन शहर में ३०० घन फीट का शिवलिङ्ग है। तापंडा, पोलिस नाम के अन्य स्थानों में ३०० घन फ़ीट की एक शिवमूर्त्ति है।

१४—अरबस्तान में मुहम्मद के जन्म के पहिले से ही लात, मनात, अल्लात और अल्लाउजा नामक मूर्त्तिएँ पूजी जाती थी।

१५—मक्का में सङ्ग, अस्वद और मक्केश्वर महादेव की मूर्त्ति का चुम्बन होता है। मक्के के जम जम कुए में एक और मूर्त्ति तथा नजरा में खजूर की पत्तियों की पूजा होती है।

१६—भारतवर्ष के पूर्वीय द्वीप, फज्ज, जावा, और सुमात्रा में लिंग की पूजा होती है। तथा वहा महाभारतादि की कथाएँ एवं अन्य पुराणों के पाठ भी ज्यों के त्यों माने जाते हैं।

१७—फिनिशिपा देश में वाल नामक सूर्य रूप स्त्री की पूजा होती है। बनवलक में सूर्य के मन्दिर हैं।

१८—फिजिशियन और यहूदिया देश में निनिवानगर और सीलोन में भी मूर्त्ति पूजा होती है। अफ़रिदस्तान के स्वात, चित्राल, कावुल, वल्क, बुखारा, और काफ़ आदि पहाड़ी प्रान्तों में पञ्चसर और पञ्चवीर नामक मूर्त्तिएँ पूजी जाती हैं।

१९—श्याम देश मे एकोनिस और एष्टर गेटिस नामक मूर्त्तिएँ पूजी जाती हैं।

२०—फ़िजिशियन देश में ऐटिस नामक लिंगाकार मूर्त्ति की पूजा होती है।

२१—निनिवा नगर में एशिरानामक मूर्त्ति की पूजा होती है

२१—यहूदिया देश में इज़राइल व यहूदी लोगो द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तिएँ अभी तक पूजी जाती हैं। उन लोगों में लिंग मूर्त्ति स्पर्श करके शपथ खाने की प्रथा प्रचलित है। प्रसिद्ध इब्राहीम के नौकर के लिङ्ग स्पर्श की शपथ देते हैं। याकूब जव अपने पिता की अस्थियो के लिए मिश्र देश को गया था तो अपने नौकर को लिंग स्पर्श करवाया था। यहूदी राजा लोग भी लिंग पूजकर कचहरी जाते हैं।

२३—जापान में आइस नगर में सूर्य, लक्ष्मी, और विष्णु की मूर्त्तियों की पूजा होती है।

२४—लंका और सिंहल द्वीप में भी लिङ्गाकार मूर्त्तिपूजा होती है।

२५—ईरान में ज्वालामय लिङ्ग मूर्त्ति को पूजा होती है।

२६—साइवेरिया तासकंद में शेवयिन लोग लिङ्ग पूजते हैं।

२७—ओशिनिया, मंडाविच और हवाई टापुओं में हैजा, महामारी, आदि उपद्रव होने पर लिङ्गपूजा होती है।

२८—दक्षिण अमेरिका के ब्राजिल देश में बहुत प्राचीन समय की शिवगणेश की मूर्त्तिएँ मिलती हैं, और कई एक जैनधर्म की मूर्त्तिएँ तथा सिद्धचक्र के गट्टे एवं उनके ध्वंसाऽवशेष मिलते हैं।

२९—स्पेन के सोमटेस नामक मन्दिर के दरवाजे की एक बाजू पुरुषाकार मूर्त्ति तथा दूसरी ओर स्त्रीकार वाली मूर्त्ति की पूजा होती है।

३०—मेड्रिड़ शहर में मंदिर और कबरिस्तान में स्त्री आकार की नङ्गी मूर्त्ति की मिट्टी के धड़ पर पूजा होती है।

३१—नॉर्वे ओर स्वीडन मे लिंगपूजा होती है।

३२—होंडुराश देश मे पेनिको नगर मे दो मुँह वाली पत्थर की मूर्त्ति की पूजा होती है।

३३—मेक्सिको देश मे हाथी के मस्तक के समान आकृति वाली मूर्त्ति की पूजा होती है।

३४—लंका में बुद्ध चरणो की पूजा की जाती है। इत्यादि भारत के बाहिर अन्य विदेशो मे तत्तद्देशीय प्रजा की भावना के अनुकूल मूर्त्ति की पूजा की जाती है। जिन लोगो ने स्वय यूरोप की यात्रा कर इन मूर्त्तिपूजा को अपनी आँखो से देखा है उन्हीं के यात्रा वृतान्तो मे से कुछ मूर्त्तिपूजा के उदाहरणो का सङ्केत हमने यहाँ किया है। यूरोप तथा अन्य विदेशों में पूजी जाने वाली ये मूर्त्तिएँ कितनी प्राचीन हैं इसके लिए हम कतिपय पाश्चात्य प्रमाण यहां दर्ज करते हैं जो पूर्ण विश्वासपात्र हैं।

क्योंकि आजकल यूरोपादि विदेशों का खुदाई का काम होते वक्त भूमध्य में से सैकड़ों मूर्त्तियें आदि मिलती हैं और वे वहां के म्यूजियमो में सुरक्षित रखी जाती है।

श्रीमान् रतिलाल भीखाभाई ने बंबई समाचार दैनिक पत्र ता० २४-४-३६ के अङ्क में "श्री लोंकाशाह और जैनधर्म शीर्षक" एक विस्तृत लेख मे लिखा है कि यूरोप की ये मूर्त्तिऐं अति प्राचीन हैं। यथा.—

१—आमेन के एक बड़े पादरी रूई की मूर्त्ति पत्थर में खोदी हुई तीन फीट ऊँची जो ३९०० वर्ष पूर्व की अभी मिली है ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित है।

२—ओलपिया के पास "होरा" नामक मंदिर जो कि २५०० से ३००० वर्ष का पुराना है उसके खण्डहर अभी तक मौजूद हैं।

३—रंगून में पैगोड़ा का ३५० फीट ऊँचा स्तूप अभी तक विद्यमान है जो कि बहुत प्राचीन है।

४—एलिफेन्टा की गुफाओ में २८०० वर्ष पूर्व की खुदी हुई शिव पार्वती की मूर्त्तिऐं वर्तमान मे भी स्थित हैं। इनके फोटो भी इण्डिया-ऑफिस ने लिए हैं बंबई के हिंदू लोग शिव-रात्रि महोत्सव वहीं पर स्टीमरो से जाकर मनाते हैं।

५—अजन्ता और इलोरा मे भी द्रविड़, जैन, बौद्ध, और ब्राह्मण संस्कृति वाले प्राचीन मन्दिर दीखते हैं।

६—इजिप्त की संस्कृति द्योतक एडफु का मंदिर २२०० वर्ष का बना हुआ अभी तक भग्नाऽवस्था मे पड़ा है।

७—लगभग ५४०० वर्ष पूर्व की एबिडोस नामक

(इजिप्ट) राजा की मूर्त्ति हाथी दाँत में कुतरी हुई ब्रिटिश म्यूजियम मे है ।

८—लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व की नागदेवी की मूर्ति वाला लीला पत्थर चिकागो नेचरल हिस्ट्री के फील्ड म्यूजियम में मिल सकता है ।

९—लगभग ४८०० सौ वर्ष पूर्व का हिमोटेप नामक डाक्टर का बावला ब्रिटिश म्यूजियम में है ।

इस प्रकार ईस्वी सन् के ५-६ हजार पूर्व की मूर्त्तिएँ तो भूमि से निकल रही हैं। किन्तु कह नहीं सकते कि अब फिर मूर्त्तियों की प्राचीनता कहाँ तक पहुँचेगी क्योंकि ज्यों ज्यों शोध खोज और भूगर्भ की खुदाई होती जाती है त्यों २ जगत का प्राचीन इतिहास बताने वाले अमूल्य रत्न मिलते जाते हैं इसलिए "इयत्तयैव मूर्त्ति प्राचीनत्व सिद्धम्" को हम निश्चयात्मक नहीं बता सकते हैं। इसका निर्णय तो भविष्य पर है। परन्तु आशा होती है कि इन नितरां प्राप्त साधनों से हमारे ग्रन्थों मे बताई हुई अनादि मूर्त्तिपूजा की सिद्ध होगी ।

आज करीब १३०० वर्षों से मुसलमान, क्रिश्चियन, पारसी तारनपन्थी और लौंकामत वाले लोगो का मूर्त्तिपूजा के लिए घोर विरोध करने पर भी संसार में मूर्त्ति-पूजक लोग कितनी संख्या में हैं जब कि सारे संसार की मनुष्य गणना करीबन् दो अर्ब की है जिसमे मूर्तिपूजक इस प्रकार हैं ।

१ बौद्ध (बुद्धमतोऽनुयायी)	५८०००००००
२ रोमन केथोलिक (यूरोपियन)	३९०००००००
३ ग्रीक	१०००००००

४ ऐनिमिस्ट	१५३२०००००
५ हिन्दू	२७०००००००
६ भिन्न-भिन्न जातियाँ	२७०००००
७ जैन	१००००००

कुल मू० पू० १४०६९०००००

१—अब जरा मूर्ति नहीं मानने वालों की भी हालत और संख्या देखिये। मूर्ति नहीं मानने वालों में सर्व प्रथम नंबर मुसलमानों का है जो संसारभर में करीबन् २२ करोड़ कहे जाते हैं। परन्तु न तो इनका काम बिना मूर्ति के चलता है और इसलिए ये न मूर्ति पूजा से वञ्चित ही रहे हैं। जैसे कि ये लोग ताजिया (तावूत), मसजिद और कबरें बनाते हैं जिनमें अपनी भावना अनुसार एक निश्चित आकार की (मूर्ति) आकृति स्थापित करते हैं और उसे पूज्य भाव से देखते हैं, उस पर पुष्प चढ़ाते हैं उसे लोवान आदि का धूप देते हैं, प्रसाद (मिष्टान्न) आदि रखते हैं, तथा अजमेर में ख्वाजापीर (खास का पीर) की एक दरगाह है वहाँ सैकड़ों कोस दूर दूर से मुसलमान लोग आते हैं और उसको पवित्र स्थान जानकर बहुमानपूर्वक पूजते हैं, इतना ही क्यों पर हज़ारों मुसलमान हज (यात्रा) के लिए मक्कामदीना जाते हैं उसे अपना तीर्थधाम समझ कर वहाँ अपने माने हुए अनेक सत्कार्य करते हैं, वहाँ जाने में उनकी भावना आत्मकल्याण साधन की रहती है। वहाँ जाकर वे किस प्रकार पूजा आदि करते हैं इस विषय में एक अनुभवी सज्जन लिखते हैं:—

In Pilgrim garb they walk seven times round the sacred Mosque, they kiss the black stone seven times, they drink the water intensely brackish of the well of Zemzem, they shave their heads, and pair their nails and have their hair and nails buried They then ascend mount Arafat, throw showers of stones at the pillars. This is understood to be stoning the devil

J Murray Mitchel
(The great religions of India)

"अर्थात् यात्री लोग पवित्र पोशाक पहिन कर मसजिद की सात बार प्रदक्षिणा करते हैं तथा वहाँ पर जो काला पत्थर स्थापित किया हुआ है उसको सात बार चूमते हैं। जम जम कुआ का पानी जो बिलकुल खारा है उसका चरणाऽमृत लेते हैं। वहाँ वे शिर मुँडवा अपने बालो को गाड़ देते हैं। बाद में अराबूत पहाड पर चढ़ते हैं, वहाँ जो तीन स्तम्भ दीखते हैं उनकी ओर पत्थर फेंकते हैं, यह करने का उनका इरादा रहता है कि पिशाचो को मार भगावें"

जे० मुरे मिचल्स
"दि ग्रेट रिलिजन्स ऑफ इण्डिया"

यह सब मूर्तिपूजा का ही रूपान्तर नहीं तो और क्या है? इसके अलावा काबाशरीफ नाम का मक्का में एक पुराना मंदिर है जिसे मुसलमान लोग किबला कहते हैं। वह हिन्दुस्तान से पश्चिम की ओर है अतः मुसलमान लोग पश्चिम की तरफ

मुँह करके नमाज पढ़ते हैं। उस मंदिर को मसजिदअलहराम के नाम से पुकारते हैं। यहाँ एक पत्थर का बना हुआ चौरस मकान है और वह काला पत्थर इसी मकान में स्थापित है जिसका कि यात्री मुसलमान लोग चुम्बन करते हैं। इस काबा (किबला) को मान देने का कुरान में भी बहुत जगह लिखा हुआ है।

यदि हम पं० दरबारीलालजी के शब्दों में कहें तो स्पष्ट हो जायगा कि मुसलमान लोग भी मूर्ति पूजक ही हैं जैसा कि आपने लिखा है—

"हाँ, यह बात कहने में मुझे कोई संकोच नहीं कि एकाध अपवाद को छोड़ कर सभी मनुष्य मूर्ति पूजक हैं। बल्कि मूर्ति पूजा के विरोधी मूर्ति के द्वारा पूजा करने वाले ही नहीं होते किन्तु मूर्ति पूजक भी होते हैं। एक मुसलमान मसजिद में मूर्ति रखना पसन्द नहीं करता किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि वह मूर्ति पूजक नहीं है, उसकी मूर्ति पूजकता बजाय घटने के कुछ बढ़ती ही गई है। अब उसने छोटी सी मूर्ति के बदले समूची मसजिद को ही मूर्ति मानली है। मसजिद की एक एक ईंट को वह मूर्ति के हाथ पैर की तरह सन्मान की चीज समझता है। वह यह भूल जाता है कि मसजिद की ईंटों और साधारण मकान की ईंटों में कोई फरक नहीं है। साधारण मकान में भी उतना ही खुदा है जितना कि मसजिद में। परन्तु एक बुत-परस्त जिस प्रकार मूर्ति की पवित्रता मे विश्वास रखता है और उसकी ओट मे अहंकार की पूजा करने के लिए प्राण लेने और देने को तैयार होजाता है, इसी प्रकार बुतपरस्त को घृणा की

दृष्टि से देखने वाला मुसलमान मसजिद की पवित्रता में विश्वास करता है और उसकी ओट में अहंकार की पूजा करने के लिए प्राणों की बाजी लगाने में उतारू हो जाता है। इसी प्रकार दोनों में से यदि अहंकार भाव की पूजा निकल भी जाय तो भी मूर्ति के अपमान की तरह मसजिद का अपमान दिल को अवश्य चोट पहुंचायगा। क्योंकि मूर्ति पूजकों के समान अमूर्तिकों के पास भी हृदय है और हृदय सदैव मूर्तिपूजक ही होता है। मूर्ति के हटाने पर बड़ी बड़ी मसजिदें और कबरें मूर्तियें बन जाती हैं।

सत्य सन्देश पाक्षिक वर्ष ११ अंक १५ पृष्ठ० ३७०

इससे पाठक स्वतः समझ गये होंगे कि मुसलमान लोग भी मूर्ति पूजक ही हैं + +

२—इससे आगे मूर्ति नहीं मानने वालों में दूसरा नम्बर क्रिश्चियन लोगों का है। उनमें रोमनकेथोलिक तो मूर्तिपूजा को मानते हैं पर प्रोटेस्टेण्ट मुंह से मूर्ति का इन्कार करते हैं इन प्रोटेस्टेण्टों की संख्या १८ करोड़ कही जाती है परंतु मूर्ति विना इनका भी काम नहीं चलता है, वे लोग भी प्रकरांतर से मूर्ति पूजक ही है। क्योंकि ईशू क्राइष्ट को जिन दुश्मनो ने शूली पर चढ़ाया था, क्रिश्चियन लोग उसी शूली पर लटकती ईसामसीह की आकृति को बडे आदर से देखते हैं। जेरूसलम इन लोगों का बडा ही पवित्र यात्राधाम है, वहां हजारों क्रिश्चियन यात्रार्थ आते हैं और वे लोग गले में क्रॉस लटकाया रखते हैं और उसका भक्तिभाव पूर्वक चुम्बन करते हैं। क्या यह मूर्ति पूजा नहीं है? हमारी समझ मे तो अपने किसी श्रद्धेय की स्मृति में कोई चिन्ह बना उसके प्रति पूज्य भाव रखना ही मूर्तिपूजा है।

देखिये—प्रोटेस्टेण्ट ईसाई कितना ही मूर्ति विरोधी क्यों न हो पर ईसामसीह के चित्र और क्रॉस का तो अपमान वह किसी प्रकार से सहन नहीं कर सकता। कारण वह मुंह से भले ही कहदे कि मैं मूर्ति पूजा नहीं मानता हूँ पर उसका हृदय इसकी साक्षी नहीं देगा वह तो अपने परोपकारी इष्ट देव की ओर तत्क्षण झुकेगा ही। सदा से मूर्ति की मान्यता रखने वाला निर्मल मनुष्य हृदय अपने मान्य महा पुरुष का अपमान कभी नहीं सह सकता। इतना ही क्यों पर जब वह कहीं ईसा का चित्र भी देख लेता है तो तत्काल टोप उतार उसका सम्मान अवश्य करता है। क्या यह मूर्ति पूजा से कोई भिन्न रीति है। इससे आगे चलिये एक चार आना में कपड़ा खरीदिये उस पर यूनियन जैक (अंग्रेजी झण्डा) का निशान बना दीजिये और उसे अब पैरों तले कुचलिए क्या कोई ईसाई ऐसा करने देगा नहीं, वह उसकी रक्षार्थ अपने आपकी बाजी लगा देगा पर अपने राष्ट्रीय चिन्ह देश के निशान, उस अमर मूर्ति का अपमान नहीं होने देगा तो बस, इसी का नाम तो मूर्तिपूजा है।

जिस ईसामसीह ने मूर्ति पूजा का विरोध किया था आज उसी के शिष्यों में से सोक्रेटिस (शुकरात) ने अनेको प्रमाणों द्वारा मूर्ति पूजा को ठीक सिद्ध किया है और अनेकों अंग्रेज आज गिरजाघरों, चित्रों और अखबारों में जहाँ देखो वहीं पर मूर्ति से ही काम ले रहे हैं। यही नहीं किन्तु सारे संसार को यह प्रेरणा कर रहे हैं कि प्रभु ईसा की शरण आओ।

क्या ऐसी दशा में कोई यह प्रमाणित कर सकता है कि

प्रोटेस्टेण्ट अंग्रेज मूर्ति नहीं पूजते ? यदि नहीं तो फिर क्यों कहा जाता है कि मूर्तिपूजा ठीक नहीं ।

अस्तुतः अग्रजो की मूर्तिपूजा के बारे में आप उन्हीं के विद्वानों के वाक्यों को पढ़िये, एक विद्वान लिखता है—

(From Murtipuja Book, Page 103)

Logicians may reason about abstractions, but the great mass of men must have images The strong tendency of the multitude in all ages and nations to idolatry can be explained on no other principle There is every reason to believe, that the first inhabitants of Greece, worshipped one invisible Diety, but the necessity of having something more definite to adore produced in a few centuries, the innumerable crowd of Gods and Godesses In like manner, the anceint Persians thought it impious to exhibit the creator under a human form Yet even these transferred to the sun worship which, in speculation be considered due only to the supreme mind The history of the Jews, is the record of a continued struggle between pure Theism supported by the most terrible sanctions, and the strongly fascinating desire of having visible and tangible object of adoration.

God, the uncreated, the incomprehensible, the invisible attracted few worshippers A Philosopher might admire so noble a conception but the

crowd turned away in disgust from words which presented no image to their minds

Soon after Christianity had achieved its triumph, the principle which has assisted it, began to corrupt. It became a Paganism Patron saints assumed the offices of household Gods St. George took the place of Mars St Elmo consoled the mariner for the loss of Castor and Pullut. The virgin mother and Cicelia succeeded to Venus and the Muses

Reformers have often made a stand against these feelings but never with more than apparent and partial success The man who demolished the images in cathedrals have not always been able to demolish these which were enshrined to their minds

"अर्थात् नैयायिक भले ही इस बाबत में हलका संवाद करें पर जन समुदाय को तो मूर्तियों को जरूरत होगी ही। सब जमानों में समस्त प्रजाओं की मूर्तिपूजा की तरफ झुकावट रही है और इसका कोई दूसरे अभिप्राय पर खुलासा नहीं हो सकता। ग्रीस देश वासियों के लिए यह मानने के बहुत कारण हैं कि वे पहिले कोई एक अदृश्य देव की पूजा करते थे। फिर भी पूजा भक्ति के लिए किसी एक अव्यक्त वस्तु की आवश्यक्ता ने थोड़ी ही सदियों में असंख्य देवी देवताओं का एक मण्डल खड़ा कर दिया, इसी तरह प्राचीन ईरानी (पारसी) भी जगत्

कर्त्ता को मनुष्याकार में प्रस्तुत करना बहुत अधार्मिक कृत्य समझते थे। उनका भी वह विचार आखिर सूर्यदेव की पूजा में परिणत हुआ। और पूजा को खुले दिल से योग्य मानने लगे। जब यहूदियों का इतिहास एक तरफ तो शुद्ध एकेश्वरवाद से जो कि भयंकर राज्य कानूनों से परिपुष्ट है, और दूसरी तरफ पूजा भक्ति के लिए स्पष्ट (रूप से तैयार) दिखाई देता है, और हाथ से स्पर्श हो ऐसी चीज के लिए आश्चर्यकारक अत्यन्त बलवती इच्छा, इन दोनों के आपसी झगड़ों की सिर्फ नोंध है।

जिसको किसी ने उत्पन्न नहीं किया है तथा जो अदृश्य है ऐसा परमेश्वर अपनी तरफ बहुत कम को आकर्षित कर सकता है। कोई तत्त्वज्ञ पुरुष भले ही ऐसे उत्तम विचार की तारीफ करे परन्तु साधारण जन समूह तो ऐसे शब्द जो कि "उनके मन में मूर्ति का कुछ भी प्रादुर्भाव नहीं कर सकते" उन से घृणा कर दूर भगेंगे।

क्रिश्चियानीटी ने जो अपनी (सैद्धान्तिक) विजय शीघ्र ही करली इस में उसे जो सिद्धान्त सहायक हुए थे वे (वापिस) बिगड़ने लगे और एक नवीन मूर्ति पूजा जन्मी। क्रिश्चियन मूल साधुओं ने घर देवताओं की जगहे संभाल ली। सेन्ट ज्योज ने मंगल का स्थान लिया। सेन्ट ऐल्मो, कैस्टर और पोलक्स के बदले मछुओं को दिलासा देने वाले के पद पर कायम हुए। कुमारिका माता और सिसीलिया गौरी तथा सरस्वती के स्थान पर मानी गई।

सुधारकों ने ऊपर कही हुई अनेक बातों पर कई दफा जोर दार आक्रमण किया है। पर परिणाम सिर्फ स्वल्प विजय के

सिवाय कुछ न हुआ। भले ही वे मनुष्य मन्दिरों की मूर्तियों का नाश करने में शक्तिमान हुए हों पर मूर्तिऐं जो कि जन समाज के हृदय मन्दिर में सर्वदा निवास करती हैं उन्हे तोड़ने को किसी के पास कोई शक्ति है ही नहीं।

"लार्ड मेकोले मिल्टन के निवन्ध का अभिप्राय"

उपरोक्त कथन से अंग्रेज प्रोटस्टेन्ट भी मूर्ति पूजक ही है।

३—मूर्ति पूजा नहीं मानने वालों में तीसरा नम्बर यहूदियों का है जिन की संख्या प्रायः १२ करोड़ है। परन्तु गौर कर देखा जाय तो वे लोग भी मूर्तिपूजा से सर्वथा वचे नहीं रह सके हैं। क्योंकि किसी न किसी रूप से वे लोग भी मूर्ति को स्वीकार कर उनकी पूज्य भाव से पूजा अवश्य करते हैं। देखिये "बाइविल" के पूर्वार्द्ध में इस विषय का उल्लेख कैसा मिलता है।

दाऊद को यह विचार आया कि मुझे गड़रियों में से ईश्वर ने राजा वनाया था। अव तो मैं वहुत वढ़िया मकान में रहता हूँ और ईश्वर को तम्बू के परदे में रखता हूँ। ऐसा न होना चाहिये। इतने ही में नथान नामक पुरोहित के स्वप्न में खुद परमेश्वर ने दर्शन देकर कहलाया कि:—

Go and tell my servant David, thus saith the God, shalt thou build me a house for me to dwell in?

Old I II Samuel Chap VII/5

Whereas I have not dwelt in any house since the time that I brought up the children of Israel

out of Egypt even to this day but have walked in tent and in a tabeunacle

Old I II Samuel Chap VII/6

" जा और मेरे सेवक दाऊद को यह कह कि परमेश्वर यह कहता है कि क्या तूँ मेरे रहने को एक घर बन्धायेगा।"

इजिप्त से जब मैंने इजरायल के वंशजों को छुडवाये तब से आज की घड़ी तक मैं तम्बू और डेरो में फिरा करता हूँ।

ईश्वर के इस हुकम की तामील दाऊद ने कर ईश्वर के लिये एक आलीशान मकान (मन्दिर) बनवा के वहां वह ईश्वर की आकृति की भक्ति पूर्वक उपासना करने में तत्पर हुआ। क्या यह मूर्ति पूजा से भिन्न रीति है ?

४—मूर्ति पूजा नहीं मानने वालों में चौथा नम्बर पारसियों का आता है। इनकी संख्या करीब १ लाख है पर मूर्तिपूजा से वे भी वंचित नहीं रहे हैं। वे लोग अग्नि को देवता के रूप में मानते हैं और उनका बड़ा ही आदर सत्कार करते हैं। क्या यह मूर्ति पूजा नहीं है ? इतना ही क्यो पारसी लोग अपने पैगम्बर जरथोस्त का सुन्दर फोटो भी रखते हैं क्या सभ्य समाज इसे मूर्ति पूजा न कह कर मूर्ति-खण्डन कहेगा ? आगे चल कर देखें तो पारसियो के सूर्यदेव की भी उपासना है।

५—मूर्त्ति विरोधकों में पाँचवाँ नम्बर स्थानकमार्गी भाइयों का आता है। ये लोग मुँह से कहते हैं कि हम मूर्त्ति को नहीं मानते हैं परन्तु आभ्यन्तर रूप में अपने पूज्य पुरुषों की मूर्त्तिएँ, पादुकाएँ, उनके चित्र, समाधि और फोटो खिचवा कर उनकी पूज्यभाव से पूजा करते हैं।

गोरी ग्राम के उपाश्रय की एक दीवार का गोख में

स्था० साधु हर्षचन्दजी की मूर्त्ति का यह फोटू है

कई स्था० साधु साध्वि दूर-दूर से दर्शन को आते है स्थानिक भक्त लोग नलयेरादि से पूजा और सब लोग वन्दन करते है

परमेश्वर की मूर्ति नहीं मानने वाला समाज

अपने गुरु की मूर्ति की किस प्रकार पूजा करते है? इसको भी तो जरा सोचो समझो।

परमेश्वर की मूर्ति नहीं मानने वाला स्था० समाज अपने मृत साधु साध्वियो की किस प्रकार पूजा करता है ?
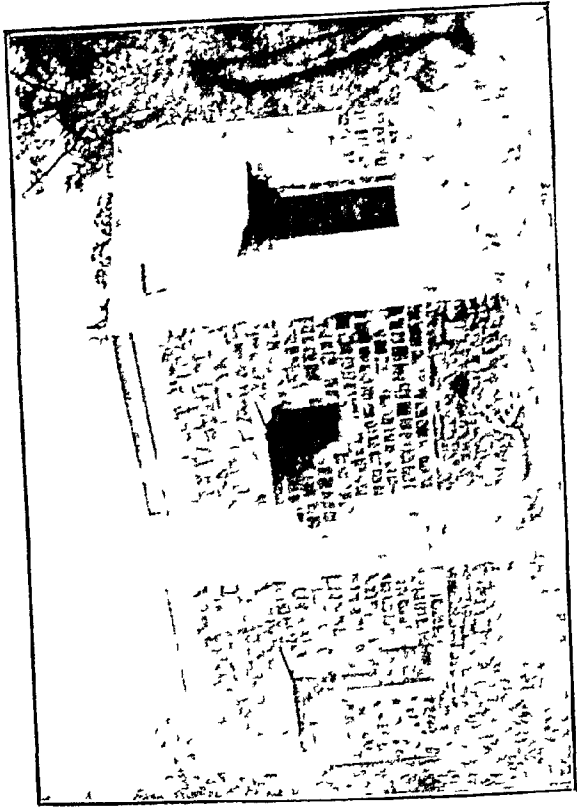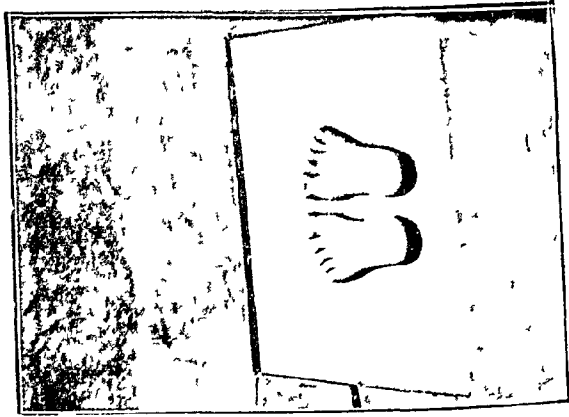
भरतपुर मे स्था० आरजियां इन्द्रांजी का समाधि मन्दिर और उसके अन्दर पाषाणमय पादुका का यह फोटू (चित्र) है

मारवाड़ के गीरी ग्राम मे स्था० साधु हरखचंदजी की पाषाण-मय मूर्त्ति है, सादड़ी में ताराचन्दजी की पाषाण की मूर्त्ति है। बड़ोति (जिला मेरठ) मे स्था० साधुओं की समाधिएँ और उन पर पादुकाएँ चिन्ह भी हैं। अँबाला (जि० पंजाब) में भी स्था० साधुओ की समाधि विद्यमान हैं। और भी अनेक स्थानों पर गुरुभक्ति के लिए ऐसे स्मारक बनाए गए हैं और आज भी बनाए जा रहे हैं। आश्चर्य तो इस बात का है कि तीर्थङ्करो की मूर्त्तियो की पूजा नहीं करने वाला स्था० समाज अपने मान्य पूज्यो की गति स्थिति तक का पूरा ठिकाना नहीं है; धूप, दीप, और पुष्पादि से पूजा करता है। सैकड़ों कोसो से उनके दर्शनार्थ आता है। हम इनसे पूछते हैं कि यह आना, समाधि पर लगे पत्थरो के वास्ते है या उन समाधि और पादुका में गुरुत्व का पूज्यभाव रखने का कारण है ?। यदि गुरुत्व का पूज्यभाव है तब तो गुरु के अभाव मे उनके स्मृति चिन्हो का आदर करना गुरु की मूर्त्तिपूजा है। और यदि उन समाधि आदि को कोरे पत्थर और काष्ठ जानकर पूज्य-भाव रखते हैं तो इधर उधर घूम फिर कर नाहक समय, शरीर और धन का दुरुपयोग करना अव्वल नंबर की मूर्खता है। यदि साधारण साधु आदि छद्मस्थो के लिए भी आप यह पूज्य-भाव रखते हैं तो फिर उन जगदुपकारी विश्ववंद्य तीर्थङ्करों के प्रति यह पूज्यभाव न रखना कहाँ की बुद्धिमता है ?।

स्थानकवासी साधु साध्वियों के चित्र और फोटो उनके भक्तो के कई घर घर मे पूजे जाते हैं क्या भक्तो की साधुओ के प्रति यह मूर्त्तिपूजा नहीं है ?। यदि मूर्त्तिपूजा में हिंसा का प्रश्न किया जाय तो स्था० समाज में मूर्त्ति, पादुका, समाधि और फोटो

आदि खिंचवाने में कौनसी अहिंसा है। इनमे भी तो जैनो के मन्दिर मूर्त्ति सदृश ही हिंसा होती है, फिर यह दुराग्रह क्यों? कि जैनों की मन्दिर मूर्त्तिएँ बनने में होता है, और हमारे मूर्त्ति, पादुका, समाधि, फोटो, चित्र, तथा स्थानक बनवाने में अहिंसा होती है। निष्कर्ष यह है कि केवल हठवादी स्थानकवासी अपने चित्त के सन्तोष के लिए ऊपर से यह भले ही कह दें कि हम मूर्त्तिपूजा नहीं मानते हैं, पर उनका हृदय तो इस असत्य की साक्षी नहीं देगा। वह मूर्त्तिपूजक है और भविष्य में भी रहेगा। यदि ऐसा नहीं होता तो ये क्यों अपने पूज्य पुरुषों के पूर्वोक्त स्मारक बनाने में तथा पूज्यभाव रखने में अपना समय गँवाते?।

६—इससे आगे चलने पर छठवाँ नंवर सिक्ख संप्रदाय और आर्य समाजियो का मूर्त्ति विरोध में आता है। किन्तु इनका भी वही हाल है जो पूर्व सप्रदायो का है, ये भी मात्र मुँह से कहते हैं कि हम मूर्त्ति नहीं मानते किन्तु मानते ये भी जरूर हैं। मूर्त्ति विना इनका भी काम नही चल सकता। उदाहरणार्थ देखिये.—

सिक्खों के पूज्य पुरुषो की कई जगह समाधिएँ बनी हुई हैं। हजारों सिक्ख उन समाधियों के दर्शनार्थ बहुत दूर दूर से आते हैं और नाना द्रव्यो से उन समाधियो की पूजा करते हैं तथा आर्य समाजी भी जब अपना जुलूस निकलाते हैं तब स्वामी दयानन्द सरस्वती के सुन्दर फोटो को पुष्पादि से सजाकर उसे पालकी या सवारी आदि में रख शहर भर में घुमाते हैं। यह प्रक्रिया उनकी स्मृति में की जाती है कि जिन्होने हिन्दू जाति को नये सिरे से मूर्त्तिपूजा के विरोध का पाठ पढ़ाया था। हम आर्य

स्थापना और द्रव्य निक्षेपों को अपूज्य मानने वाला समाज अपने पूज्य पुरुषों के मृत शरीर रूपी द्रव्य निक्षेप और आकृति रूप स्थापना निक्षेप का तो इस प्रकार से भक्तिभाव और सत्कार करे और तीर्थंकरों के द्रव्य और स्थापना निक्षेप मानने को इन्कार करे, इससे अधिक पक्षपात क्या हो सकता है ?
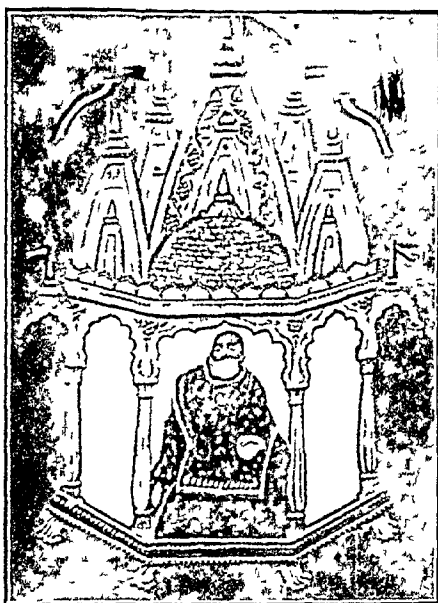
स्थानकमार्गी तपस्वीजी माणकचन्द्रजीऋषि

आपके भक्तों ने आपके मृतक शरीर और पालकी के साथ फोटू ली है। और उन्होंने आपका समाधिस्थान (मन्दिर) भी बनवाया है।

हीरालालजी म० । पूज्यश्रीलालजी म० । पूज्य शोभाचंदजी म०

इन मूर्त्तियो (फोटू) के बनाने का अर्थ तो यही होगा कि इन पूज्यो की मूर्त्तियों को देख भक्तजनो के हृदय में उन उपकारी पूज्यो के प्रति पूज्यभाव पैदा हो। इसी कारण इन पूज्यो की मूर्त्तियों को (फोटू) भक्त अपने स्वच्छ मकानो मे रख प्रात' समय दर्शन करे तथा धूप उखेव कृतकृत्य बने। यदि ऐसा ही है तो तीर्थंकरो की मूर्त्तियो के प्रति मलीन भाव क्यों ? इसको जरा शान्त चित्त से सोचे, विचारे और मनन करे।

अहमदाबाद में यह ग्रूप तैयार करवा के जाहिर खबर द्वारा तीन पाई)।।। मे बेचा गया है क्या इस ग्रूप (मूर्त्तियों) से मूर्तिपूजा सिद्ध नहीं होती है ?

तीर्थंकर भगवान की प्रतिमा-पूजा का विरोधी और अपनी फोटू-पूजा का अभिलाषी गुजरात कच्छ काठियावाड का स्थानकमार्गी साधु मण्डल ।

पूज्यश्री रतनचन्द्रजी म० की सम्प्रदाय के पूज्य

हीरालालजी म० । पूज्यश्रीलालजी म० । पूज्य शोभाचंदजी म०

प्र० व० साधु चौथमलजी और आप के गुरु ।

इन मूर्त्तियों (फोटू) के बनाने का अर्थ तो यही होगा कि इन पूज्यों की मूर्त्तियों को देख भक्तजनों के हृदय में उन उपकारी पूज्यों के प्रति पूज्यभाव पैदा हो। इसी कारण इन पूज्यों की मूर्त्तियों को (फोटू) भक्त अपने स्वच्छ मकानों में रख प्रात समय दर्शन कर तथा धूप उखेव कृतकृत्य बनें। यदि ऐसा ही है तो तीर्थंकरों की मूर्त्तियों के प्रति मलीन भाव क्यों? इसको जरा शान्त चित्त से सोचें, विचारें और मनन करें।

अहमदाबाद में यह ग्रूप तैयार करवा के जाहिर खबर द्वारा तीन पाई)।। में बेचा गया है क्या इस ग्रूप (मूर्त्तियों) में मूर्तिपूजा सिद्ध नहीं होती है ?

तीर्थंकर भगवान की प्रतिमा-पूजा का विरोधी और अपनी फोटू-पूजा का अभिलाषी गुजरात कच्छ काठियावाड़ का स्थानकमार्गी साधु मण्डल।

मृतक शरीर के पास में बैठ कर

तीर्थंकरो की मूर्त्ति के कट्टर विरोधी समाज आप अपने को पूजाने का कैसे पीपासु है ? क्या इसको मूर्त्तिपूजा नही कहा जा सकता है ?
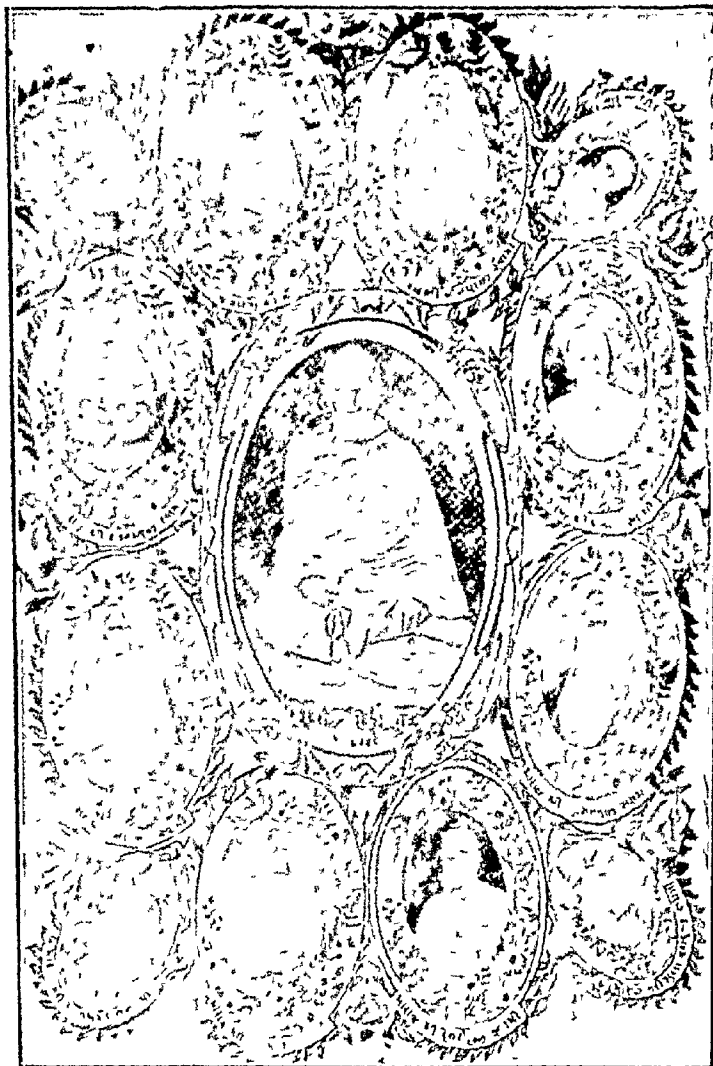
समाजी भाइयों से पूछते हैं कि ऐसा करने में क्या आपके ये मनोभाव नहीं रहते कि सारी जनता हमारे महर्षि के फोटो को देखे, और उनके प्रति श्रद्धा का भाव रख उनके मन्तव्यों को मानें ? यदि हाँ, तब तो यह मूर्त्तिपूजा का ही एक प्रकार है ! और नहीं तो ऐसा करना केवल श्रम मात्र है । यदि स्वामीजी के फोटो की सवारी में तुम्हारा भाव पूज्यता का है तब तो हम तुम से क्या विशेष करते हैं । हम भी विश्वोपकारी परमेश्वर की मूर्त्ति बना उसकी तरफ अपनी श्रद्धा प्रकट कर सारे संसार को उसके गुण गाने का इशारा करते हैं । तब ऐसा करने में तुम्हारी गुरुपूजा पूजा नहीं और केवल हमारी ईश्वर की मूर्त्तिपूजा ही मूर्ति पूजा है इस प्रकार यह मिथ्या हठ क्यों ? तुम्हारे पूज्य पुरुष विशेष केवल हम तुम जैसे साधारण मनुष्य ही हैं उनसे प्राथना करने से कोई काम नहीं निकलने का; अतः उनके चित्र के आगे तुम्हारी प्रार्थना न करना भी उचित ही है । तब हमारे ईश्वर सर्वज्ञ परमेश्वर उनकी पूजा, उनसे प्रार्थना में हमारी चित्तवृत्ति निर्मल और आत्मा का विकास होता है अतएव प्रभुपूजा करना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है ।

इस विषय में श्रीमान् पं० दरबारीलालजी ने क्या ही खूब लिखा है जो नीचे दिया जाता है:—

"एक आर्यसमाजी कदाचित् महात्मा राम और कृष्ण की मूर्तियों का अपमान देख ले परंतु स्वामी दयानन्द के चित्र के अपमान से उसका हृदय भर जाता है । यह बात दूसरी है कि शास्त्रार्थ में अपनी पक्ष सिद्धि के लिए आवश्यक होने पर कोई आर्यसमाजी विद्वान्, स्वामी दयानंद सरस्वती के चित्र पर जूता

चला दे, परंतु यह कार्य करते समय जो उसके हृदय में वेदना होती है, इसके खेद में जो उसके मुँह से उद्गार निकलते हैं समाज मे जो क्षोभ होता है, उससे यही मालूम होता है कि आर्यसमाजियों के हृदय भी साधारण मूर्त्तिपूजक मनुष्य के समान ही हैं। यही बात स्थानकवासियो, तारन पथियो, ब्राह्मसमाजियों, व प्रार्थनासमाजियों आदि के लिए भी कही जा सकती है"

"सत्य सन्देश पाक्षिक वर्ष ११ अ १५ पृ० ३७०।

यदि कोई व्यक्ति अज्ञता से यह प्रश्न करे कि मूर्त्ति तो हम मानते हैं पर जल चंदनादि से उस जड़ मूर्त्ति की हम पूजा नहीं कर सकते हैं। यह कहना नितान्त अनसमझ और पक्षपातपूर्ण है क्योंकि जब उस जड़ मूर्त्ति को हम ईश्वर या अपने इष्ट आराध्य पूज्यपुरुषो की मूर्त्ति समझते हैं तो ऐसा कौन कृतघ्नी होगा कि जो शक्ति के होते हुए भी उसकी भक्ति न करे, अर्थात् जहाँ तक बन सके वहाँ तक तन, मन, और धन से ईश्वर की भक्ति करनीचाहिए देखिये मुसलमान लोग ताजिया, (तायूत) मसजिदें और पीरों के तकियो पर पुष्प, नारियल चढ़ाते हैं, लोबान का धूप देते हैं। ईसाइयों के गिरजाघरो में होली वर्जिनादि की मूर्त्तिएँ रक्खी जाती हैं और उन पर हीरा, पन्ना, माणक, मोती का जड़ाव किया जाता है तथा उन मूर्त्तियों के आगे भक्ति-भाव पूर्वक घुटने टेक नमस्कार करते हैं। वहाँ पर अनेकों मोमबत्तिएँ जलाई जाती हैं। स्थानकवासी भाई भले ही जैनमंदिर में जाकर पूजा नहीं करते हों पर अपने गुरु की मूर्त्ति को नारियल आदि चढ़ाते हैं। ये हनुमानजी को रोट और रामदेवजी को चूरमा भी जरूर चढ़ाते हैं। फिर यह क्यों कहा जाता है कि हम मूर्त्तिपूजा नहीं करते हैं ?। क्या

आपके उपर्युक्त विधान मूर्त्तिपूजा सूचक नहीं हैं ? यदि हां, तो फिर गुड़खाना और गुलगुलों से परहेज़ रखना कहां की योग्यता है ? ।

अंत में मैं यह कह देना चाहता हूँ कि संसार भर में जितने मतमतान्तर हैं उनमें से अधिक लोग ईश्वर को निराकार मानते हैं फिर भी उनकी उपासना करना अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं, परन्तु निराकार ईश्वर की उपासना कैसे की जाय ? यह उनकी बुद्धि के बाहिर की बात है। क्योंकि निराकार ईश्वर या ईश्वर के गुणों का जब कोई आकार ही नहीं तो उनकी उपासना कोई कैसे कर सकता है ? । यदि कोई कहे कि हमें मन्दिर मूर्त्तियों की क्या जरूरत है ? । हम तो हमारे हृदय में निराकार ईश्वर की कल्पना कर उपासना कर सकते हैं। परन्तु यह कहना जितना आसान है, करना उतना ही कठिन है। ऐसा कहने वाले लोग अभी निरे अज्ञ हैं और पक्षपात के दलदल में फँसे हुए हैं। क्योंकि हृदय में ईश्वर की कल्पना करना यह भी तो एक प्रकार की आकृति (मूर्त्ति) पूजा ही है। जब ईश्वर निराकार है और उसके आकार की कल्पना की जाती है तो उस समय जो आकार है वही मूर्त्ति है।

दूसरा सवाल यह है कि अच्छा, यदि हमने मूर्ति मान भी ली और उसके प्रति पूज्य भाव रखना भी कबूल कर लिया परन्तु उसकी पुष्पादि से पूजा करना क्या हेतु रखता है ? यह बात रुचि और अधिकार पर निर्भर है। जैसे किसी मनुष्य के घर एक परोपकारी पुरुष चला जावे, और घर वाले को उस पुरुष से भविष्य में महान् लाभ होने की आशा हो जावे, तो

वह घरपति अपनी शक्ति, संपत्ति, और अधिकार के सद्भाव में होकर उस परोपकारी पुरुष की सेवा और स्वागत ही करेगा। आपही बतलाइये कि आपके मन में ऐसे परोपकारी पुरुष के देखते ही क्या पूज्य भाव पैदा न होगा? क्या आप उनकी अपनी शक्ति के अनुसार पुष्पादि से पूजा नहीं करेंगे? यदि हाँ, तो फिर उस परम प्रभू के विषय में ही ये निर्मूल शङ्काएं क्यों की जाती हैं। यदि कोई कठोर हृदय, कुबुद्धि पुरुष कदाग्रह के वश हो ऐसा नहीं करे तो क्या वह अपनी कुभावना से भविष्य में लाभ उठा सकता है? क्या कोई सभ्य उसके इस कुकृत्य* की प्रशंसा कर सकता है? कदापि नहीं।

इसी प्रकार अधिकार और सामग्री के होते हुए भी जो परमेश्वर की द्रव्य भाव से पूजा न करे वह अपने हृदय की कठोरता के कारण भविष्य में कुछ भी लाभ नहीं उठा सकता। इसे आप स्वयं समभाव दिल से सोच लें।

हम निराकार ईश्वर की उपासना उसकी आकृति (मूर्ति) बना कर के ही कर सकते हैं, इसलिए ईश्वर की उपासनार्थ परमेश्वर की मूर्ति की परमावश्यकता है। आत्म कल्याण के लिए जो मूर्ति की आवश्यकता है सो तो है ही, परन्तु सांप्रत

* इस विषय में यदि कोई अपनी स्वकल्पना से कुतर्क करें तो उनके निराकरणार्थ मेरी लिखी "मूर्ति पूजा विषयक प्रश्नोत्तर" नामक पुस्तक को ध्यान पूर्वक पढ़ें? जो कि इसी पुस्तक के अनन्तर मुद्रित करवा दी गई है। उसमें प्रायः तमाम कुतर्कों के उत्तर युक्ति, शास्त्र और इतिहास के प्रमाणों से दिए गए हैं। उसे पढने पर अज्ञा की की हुई कोई कुतर्क शेष नहीं रह सकती। जिज्ञासु जन उसे पढ़ अपना आत्म कल्याण करें।

वैज्ञानिक युग में तो सांसारिक कार्यों के लिए भी पग पग पर मूर्ति की आवश्यकता रहती है। जैसे किसी व्यक्ति ने यहां रह कर यूरोपादि किसी प्रदेश का विवरण पढा तो उसे यह ज्ञान नहीं हुआ कि अमुक नगर, देश, पहाड़, बगीचा आदि किस आकार का और कहां पर है। परन्तु जब उस प्रदेश का हूबहू नकशा लाकर सामने रख दिया तो वह उन पदार्थों का अच्छी तरह से ज्ञान हांसिल कर सकता है। यही क्यों, एक मनुष्य के खास चित्र से वह प्रत्यक्ष होने पर उसे हम पहिचान सकते हैं। क्या यह मूर्ति का प्रभाव नहीं है ? यदि है तो तत्वज्ञ मुमुक्षुओं को चाहिये कि पक्षपात को दूर हटा कर परमेश्वर की शान्त मुद्रस्थित ध्यान युक्त पद्मासनों पविष्ट मूर्ति का पूजन, वंदन कर अनेकों पुण्यों से प्राप्त इस अमूल्य मनुष्य जीवन को सफल बनावें। यही हार्दिक भावना है।

परिशिष्ट

कलिङ्गाधिपति महामेघवाहन चक्रवर्ती महाराजा खारवेल के प्राचीन शिलालेख की
"नकल"

(श्रीमान् पं० सुखलालजी द्वारा संशोधित)

विशेष ज्ञातव्य—असल लेख में जिन मुख्य शब्दों के लिए पहिले स्थान छोड़ दिया गया था, उन शब्दों को यहाँ बड़े टाइपों में छपवाया है। विराम चिन्हों के लिए भी स्थान रिक्त है। वह खड़ी पाई से बतलाये गये हैं। गले हुए अक्षर कोष्टबद्ध हैं और उड़े हुए अक्षरों की जगह बिन्दियों से भरी गई हैं।

[प्राकृत का मूलपाठ]

(पंक्ति १ ली)—नमो अराहंतानं [।] नमो सव-सिधानं [।] ऐरेन महाराजेन महामेघवाहनेन चेतिराज वसवधनेन पसथ-सुभलखनेन चतुरंतलुठितगुनोपहितेन कलिं-गाधिपतिना सिरि खारवेलेन १.

(पंक्ति २ री)-पंदरसवसानि सिरि-कडार-सरीरवता कीडिता कुमारकीडिका [।] ततो लेखरूपगणना-ववहार। विधि-विसारदेन सवविजावदातेन नववसानि योवरजं पसासितं [।] संपुण-चतु-वीसति-वसो तदानि वधमान-सेसयो वेनाभिविजयोततिये २.

(पंक्ति ३ री)–कलिंगराजवंस–पुरिसयुगे महाराजा भिसेचनं पापुनाति [।] अभिसितमतो च पधमे वसे वात–विहत–गोपुर–पाकार–निवेसनं पटिसंखारयति [।] कलिंग-नगरिं [f] खबीर–इसि–ताल–तडाग–पाडि यो च बंधा-पयति [।] सवुयानपटिसंठपनं च ३.

(पंक्ति ४ थी)–कारयति [।।] पनतीसाहि सतसह-सेहि पकतियो च रंजयति [।] दुतिये च वसे अचितयिता सातकंणि पछिमदिसं हय–गज–नर–रध बहुलं दंडं पठा-पयति [।] कण्हबेंनां गताय च सेनाय वितासितं मुसिकनगरं [।] ततिये पुन वसे ४.

(पंक्ति ५ वीं)–गंधव–वेदबुधो दंप–नत–गीतावा-दित संदसनाहि उसव–समाज कारापनाहि च कीडापयति नगरिं [।] तथा चवुथे वसे विजाधराधिवासं अहत–पुवं कालिंग पुवराज–निवेसितं······वितध–मकुसबिलमढिते च निखित–छत–५.

(पंक्ति ६ ठी)–भिंगारे हित–रतन–सापतेये सवरठिक भोजके पादे वंदापयति [।] पंचमे च दानी वसे नन्द-राज–ति–वस-सत–ओघाटितं तनसुलिय–वाटा पनाडिं नगरं पवेस [य] ति [।]सो···भिसितो च राजसुय [।] संदस–यंतो सब–कर–वणं ६.

(पंक्ति ७ वीं)-अनुगह-अनेकानि सतसहसानि विसजति पोरं जानपदं [।] सतमं च वसं पसासतो वजि रघरव [ ] ति-घुसित-घरिनीस [-मतुकपद-पुंना] [ति ? कुमार ....[।] अठमे च वसे महता सेना.....-गोरधगिरिं ७.

(पंक्ति ८ वीं) घातापायिता राजगहं उपपीडापयति[।] एतिनं च कंमापदान-संनादेन संवित-सेन-वाहनो विपमुंचितु मधुरं अपयातो यवनराज डिमित............[मो ?] यछति [वि]......पलव...८.

(पंक्ति ९ वीं)-कपरुखे हय-गज-रध-सह-यंते सवघरा-वास-परिवसने स-अगिणठिया [।] सव-गहनं च कारयितुं बम्हणानं जातिं परिहारं ददाति [।] अरहतो ......व...न...गिय ९.

(पंक्ति १० वी)...[का] . ि. मान [ति] रा [ज]-संनिवासं महाविजयं पासादं कारयति अठतिसाय सतसहसेहि [।] दसमे च वसे दंड-संधी-साममयो भरध-वस-पठानं महि—जयनं...ति कारापयति.... ....[निरितय उयातानं च मनिरतना [नि] उपलभते [।] १०.

(पंक्ति ११ वी)....मंडं च अवराजनिवेसितं पीथुड-गदभ-नंगलेन कासयति [ि] जनस दंभावनं च तेरसवस-सतिक [ं]-तु भिदति तमरदेह-संघातं [।]

बारसमे च वसे···हस···के. ज. सवसेहि वितासयति उतरापथ-राजानो····.

(पंक्ति १२ वीं)·······मगधानं च विपुलं भयं जनेतो हथी सुगंगीय [ं] पाययति [।] मागधं च राजानं बहसतिमितं पादे वंदापयति [।] नंदराजा-नीतं च कालिंगजिनं संनिवेसं·····गह-रतनान पडिहारेहि अंगमागध-वसुं च नेयाति [।] १२.

(पंक्ति १३ वीं)·······तु [ं] जठरलिखिल-वरानि सिहरानि नीवेसयति सत-वेसिकनं परिहारेन [] अभुत-मछरियं च हथि-नावन परीपुरं सव-देन हय-हथी-रतना [मा] निकं पंडराजा चेदानि अनेकानि मुतमणि-रतनानि अहरापयति इध सतो १३.

(पंक्ति १४ वीं)·········सिनो वसीकरोति [।] तेरसमे च वसे सुपवत-विजयचक-कुमारीपवते अरिहते [य ?] प-खीण संसतेहि कायनिसीदीयाय याप-ञावकेहि राजभितिनि चिनवतानि वसासितानि [।] पूजाय रत-उवास-खारवेल-सिरिना जीवदेह-सिरिका परिखिता [।] १४.

(पंक्ति १५ वीं)·····[सु] कतिसमणसुविहितानं (नुं-?) च सत दिसानं [नुं ?] ञानिनं तपसि-इसिनं संघियनं [नुं ?] [;] अरहत-निसीदिया समीपे

पभारे वराकर-समुथपिताहि अनेक योजनाहिताहि प. सि. ओ'''सिलाह सिहपथ-रानिसि-[.] धुडाय निसयानि १५.

(पंक्ति १६ वीं)''''''''''''घंटालत्तो चतरे च वेडूरियगभे थंभे पतिठापयति [,] पान-तरिया सत सहसेहि [।] मुरिय-काल वोछिनं च चोयठिअंग-सतिकं तुरियं उपादयति [।] खेमराजा स वढराजा स भिखुराजा धमराजा पसंतो सुनंतो अनुभवंतो कलाणानि १६.

(पंक्ति १७ वीं) '''''गुण-विसेस-कुसलो सव-पांस-डपूजको सव-देवायतनसंकारकारको [अ] पतिहत चकिवाहिनिवलो चकधुरो गुतचको पवत-चको राजसि-वस-कुलविनिसितो महा-विजयो राजा खारवेल-सिरि १७. ❀ ।

❀ इस लेख का विशेष विवरण मेरी लिखी जैन प्राचीन इतिहास संग्रह तीसरा भाग की पुस्तक में देखो ।

मथुरा की प्राचीन जैन मूर्त्ति ऊपर के

शिलालेख।

डॉ—कनिंगहाम (Sir. A. Cunningham) के आर्चीओलोजीकल रिपोर्ट (Archaeological Report) के तीसरे वोल्यूम में नं० १३ से १६५ में छपे हुए मथुरा का शिलालेखों से नमूने के तौर पर कतिपय शिलालेख यहाँ दिये जाते हैं।

"सिद्धं सं० २० ग्रमा १ दि० १०+२ कोट्टिया तो गणातो, वाणियतोकुलतो, वैरितो शाखातो शिरिकातो भत्तितोवाचकस्य आर्यसंघसिहस्य निर्वर्तनं, दत्तिलस्य''वि लस्य कोठुविकियेजयत्रालस्य, देवदासस्य, नागदिनस्य, च नागदिनाये च मातुये श्राविकाये दिनाये दांनइ (श्री) वर्द्धमान प्रतिमा"

ऊपर का लेख सं० २० का भगवान् महावीर की प्रतिमा पर खुदा हुआ है।

× × × ×

"सिद्धं, महाराज्यस्य, कनिष्कस्यराज्ये सवत्सरे नवमें ६ मासेप्रथमें १ दिवसे ५ अस्यं पूर्वासे कोट्टियातो गणतो वाणियतो कुलतो, वैरितो शाखातो, वाचकस्य नागनंदिस, निर्वरतनं ब्रह्मधतुये भट्टिमितसं कुठुविनिये विकटाये श्रीवर्द्धमानस्य प्रतिमा करिता सर्व सत्वानां हित सुखाये"

यह लेख कनिष्कराज्य के नौवां वर्ष का भगवान् महावीर की मूर्ति पर का है।

× × × ×

"संवत्सरे ६०.... स्य कुटुंबनिय दानस्य (वोधुय) कोट्टियातो गणतो, प्रश्नवाहनकुलतो, मज्जमातोशाखातो सनिकायभतिगालाऐ, थवानि........"

यह लेल स० ९० का एक खण्डित मूर्त्ति पर का है।

× × × ×

"सं० ४७ ग्र० २ दि० २० एतस्य पूर्वाये चारणे गणेये तिधमिक कुलवाचकस्य रोहनदिस्य शिष्यस्य सेनस्य निर्वतन सावक...इत्यादि।

यह लेख सं० ४७ का एक पत्थर खण्ड पर है।

× × × ×

"सिद्ध, नमोअरिहंतो महावीरस्य देवस्य, राज्ञा वसुदेवस्य संवत्सरे ६८ वर्ष—मासे ४ दिवसे ११ एतस्य पूर्वा वे आर्य रोहतियतोगणतो परिहासककुलतो पोन पत्ति कातो शाखातो गणस्य आर्यदेवदत्तस्य ..इत्यादि।

मथुरा की ककालीटीला की खुदाई के काम से जो मूर्त्तियाँ स्तूपादि उपलब्ध हुए हैं उनके प्राचीन एवं महत्वपूर्ण शिलालेख डॉ० स्मिथ की 'जैन स्तूप और मथुरा की एन्टीकोटीज' में मुद्रित हो चुके हैं इनके अलावा और भी शिलालेखो को जो बड़े ही महत्वपूर्ण हैं और जैनों की प्राचीन जाहुजलाली बतलाने वाले हैं, इन सबका संग्रह 'ऐपीग्राफीआ इन्डीका के सं० १९१० जनवरीमास

के अंक में पुरातत्त्वविद् और भारतीय प्रखर विद्वान डॉ० रा० बेनरजी ने मुद्रित करवाये थे उसके कतिपय लेख यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

"सिद्धं सं० ६ हे० ३ दिन १० ग्रहमित्रस्य धितु शीवशिरिस्य वधु एकडलस्य कोट्टियातो गणतो, आर्य-तरिकस्य कुटुविनिये, ठानियातो कुलतो वैरातो शाखातो निवर्तना गहपलाये दिति"

भावार्थ० सिद्धं [सिद्ध को नमस्कार] सं० ९ वा वर्ष हेमन्त का तृतीय मास के १० वें दिन कोट्टीयगण स्थानीयकुल और वज्रशाखा के आर्य तरिक की आज्ञा से एक डल की स्त्री शिवश्री की पुत्रवधु ग्रहमित्रा का पुत्र गहपला की बनाई यह मूर्ति हुई।

ऊपर के शिलालेख वाली मूर्त्ति मथुरा से मिली और लखनऊ के म्यूजियम में सुरक्षित है। मूर्त्ति खड़ी ध्यान में है पर मस्तक खण्डित है मूर्त्ति के दक्षिण की ओर पुरुषाकृति के दो पुरुष हाथ जोड़ कर खड़े हैं, बायीं ओर एक स्त्री हाथ जोड़कर खड़ी है मूर्त्ति पर का लेख अपभ्रंश संस्कृत भाषा का एवं उस समय कुशान लिपि में खुदा हुआ है।

× × × ×

इस भाँति कुशान सं० १० के समय की जैनमूर्त्ति रोहील-खंड के रामनगर के खुदाई के काम करते समय मिली है जिसके विषय में डॉ० फूरर ने अपने लेख में उस मूर्त्ति को महत्त्व का स्थान दिया है।

× × × ×

इसके अलावा एक मूर्त्ति पर निम्नांकित शिलालेख है।

सं० १२ व ४ एतस्य पूर्वायां कोट्टियातो गणतो बम्ह दासियातो कुल तो उचेन—'''इत्यादि ।

संवत् १२ चौथा मास ग्यारहवें दिन कोटिगण ब्रह्मदासी याकुल और उच्च नागौरी शाखा के आर्य कुलकी शिष्या इत्यादि ।

× × × ×

मुसलमानो के राजत्व काल में कई अज्ञ लोगों ने मूर्त्तिपूजा के विषय में यद्व-तद्व बोलकर जीवत रह सके। यदि वही मौर्यराज-काल का समय होता तो मूर्त्ति के विषय मे थोड़ा भी अपशब्द बोलने वाले बड़ा भारी सजा का पात्र हो जाता। देखिये महामन्त्री चाणक्य का अर्थशास्त्र जो सर्वमान्य है, क्या कहता है।

आक्रोशाद्देव चैत्यानां उत्तम दंड मर्हति—कौ० अर्थ ३-१८ ।

भावार्थ—देवता और धर्म मन्दिरो को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था उनके प्रति किसी प्रकार का कुवाक्य बोलने पर कड़ा दंड मिलता था।

"मौर्यसाम्राज्य का इतिहास"

बुद्धिमान विचार कर सकते हैं कि सम्राट् चन्द्रगुप्त का समय वि० सं० पूर्व चौथी शताब्दी का है। मौर्य चन्द्रगुप्त कट्टर जैन था और मन्दिरों के प्रति उनकी अटूट भक्ति थी। अस्सी करोड सोनइयें उनके मंदिरो के निमित व्यय किये थे। उनके राजत्व समय में कोई व्यक्ति देवमन्दिरो की आशातना तो क्या पर कटु शब्द बोलने वाला भी दंड का पात्र समझा जाता था। मूर्त्तिपूजा के अस्तित्व में इससे बढ़कर क्या प्रमाण हो सकता है?

× × × ×

श्रीमान् रा० ब० पं० गौरीशंकरजी ओझा ने भारतीय शिल्पकाल और विशेष में आबू के जैनमन्दिर के बारे में अपने उद्गारों को किस प्रकार प्रकाशित किये हैं सो नीचे पढ़िए—

"जब से राजपूताने पर मुसलमानो के हमले होने लगे तभी से वे समय समय पर धर्म-द्वेष के कारण यहाँ के सुन्दर मन्दिरों आदि को नष्ट करते रहे इसलिये १२०० वर्ष से अधिक पूर्व के शिल्प के उत्तम नमूने यहाँ विरले ही रह गये हैं, तिस पर भी इस देश में कई भव्य प्रासाद आदि अब तक ऐसे विद्यमान हैं, जिनकी बनावट और सुन्दरता देखने से पाया जाता है कि प्राचीन काल में यहाँ भी भारत के अन्यान्य प्रदेशों के समान तक्षणकला बहुत उन्नत दशा मे थी। महमूद गजनवी जैसा कट्टर विधर्मी मथुरा के मन्दिरो की प्रशंसा किये बिना न रह सका। उसने अपने गजनी के हाकिम को लिखा कि, "यहाँ (मथुरा में) असंख्य मन्दिरों के अतिरिक्त १००० प्रासाद मुसलमानो के ईमान के सदृश दृढ़ हैं। उनमें से कई तो संगमरमर के बने हुए हैं, जिनके बनाने में करोड़ो दीनार खर्च हुए होंगे। ऐसी इमारत यदि २०० वर्ष लगे तो भी नहीं बन सकतीं।" बाड़ोली (मेवाड़ में) के प्रसिद्ध प्राचीन मन्दिर की तक्षण कला की प्रशंसा करते हुए कर्नल टॉड ने लिखा है कि "उसकी विचित्र और भव्य बनावट का यथावत् वर्णन करना लेखनी की शक्ति के बाहर है यहाँ मानो हुनर का खजाना खाली कर दिया गया है। उसके स्तम्भ, छतें और शिखर का एक एक पत्थर छोटे से मदिर का दृश्य बतलाता है। प्रत्येक स्तम्भ पर खुदाई का काम इतना सुन्दर और बारीकी के साथ किया गया है कि उसका वर्णन नहीं

हो सकता है। यह मन्दिर सैकड़ों वर्षों का पुराना होने पर भी अब तक अच्छी स्थिति में खड़ा है।" मन्त्री विमलशाह और वस्तुपाल के बनवाये हुए आबू पर के जैनमन्दिर भी अनुपम हैं। कर्नल टॉड ने, अपनी 'ट्रैवल्स इन् वेस्टर्न इंडिया' नाम की पुस्तक में विमलशाह के मन्दिर के विषय में लिखा है कि, 'हिंदुस्तान भर में यह मन्दिर सर्वोत्तम है और ताजमहल के सिवा कोई दूसरा स्थान इसकी समता नहीं कर सकता। वस्तुपाल के मन्दिर के सम्बन्ध मे भारतीय शिल्प के प्रसिद्ध ज्ञाता म० फर्गुसन ने 'पिकचर्स इलस्ट्रेशन्स् ऑफ् एनशिऐंट आर्किटेक्चर इन हिन्दुस्तान' नामक पुस्तक में लिखा है कि इस मन्दिर में, जो संगमरमर का बना हुआ है, अत्यन्त परिश्रम सहन करने वाली हिन्दुओं की टांकी से फीते जैसी बारीकी के साथ ऐसी मनोहर आकृतियां बनाई गई है, कि उनकी नक़ल काग़ज पर बनाने में कितने ही समय तथा परिश्रम से भी मैं सफल नहीं हो सका। ऐसे ही चितौड़ का महाराणा कुम्भा का कीर्त्ति स्तम्भ एवं जैन स्तम्भ, आबू के नीचे की चंद्रावती और झालरापाटन के मन्दिरों के भग्नावशेष भी अपने बनाने वालों का अनुपम शिल्पज्ञान, कौशल, प्राकृतिक सौंदर्य तथा दृश्यों का पूर्ण परिचय और अपने काम में विचित्रता एवं कोमलता लाने की असाधारण योग्यता प्रकट करते हैं, इतना ही नही किन्तु ये भव्य प्रासाद परम तपस्वी की भाँति खड़े रह कर सूर्य का तीक्ष्ण ताप, पावन का प्रचंडवेग और पावस की मूसलाधार वृष्टियो को सहते हुये आज भी अपना मस्तक ऊँचा किये, अटल रूप में ध्यानावस्थित खड़े, दर्शकों की बुद्धि को चकित और थकित कर देते हैं।

इन थोड़े से उपरोक्त स्थानों के अतिरिक्त राजपूताने में और भी अनेक कला कौशल के उज्ज्वल उदाहरणरूप स्थान विद्यमान हैं जिनका वर्णन हम आगे यथा प्रसंग करेंगे। इसी तरह मुसलमानो के इस देश पर अधिकार करने के पूर्व की सुन्दर खंडित मूर्त्तियां जो मथुरा, कामां (भरतपुर राज्य में), राजोरगढ़ (अलवर राज्य में), हर्षनाथ के मन्दिर (जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रदेश में), हाथमों (जोधपुर राज्य में), बघेरा (अजमेर ज़िले में), नागदा, धौड़, बाडोली, मैनाल (चारों उदयपुर राज्य में) बड़ौदा (डूंगरपुर राज्य की पुरानी राजधानी), तलवाड़ा (बांसवाड़ा राज्य में) आदि कई स्थानों से मिली हैं, उनको देखने से यही प्रतीत होता है, कि मानों कारीगर ने उनमें जान ही डाल दी हो। मुसलमानों का इस देश पर अधिकार होने के पीछे तक्षणकला मे क्रमशः भद्दापन ही आता गया। X X X

"राजपूताना का इतिहास पृष्ठ २२"

मूर्तिपूजा का प्राचीन इतिहास समाप्तम्

मूर्तिपूजा विषयक प्रश्नोत्तर

श्रीरत्नप्रभाकर ज्ञान पुष्पमाला पु० नं० १६५
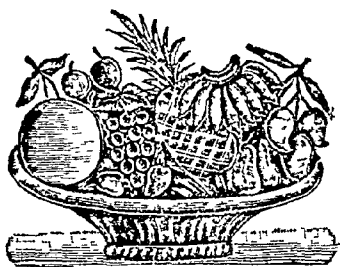
मूर्त्तिपूजा विषयक प्रश्नोत्तर।
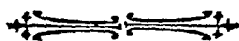
[वर्षाकी मौसम थी, आकाश चारोंओर काले मेघोंसे अच्छादित था। विजली की म्लान चमक रह २ कर दुनियाँ के भाग्य पर मन्द मुस्कान कर रही थी तो मेघों की भयङ्कर गर्जना ब्रह्माण्ड को ही फोड़ डालने का मानों मिथ्या प्रयास कर रही थी। बीच २ में रिमझिम २ बूंदों का वरसना बड़ा भला जान पड़ता था। प्रफुल्लित वनराजि और हरे-भरे खेत अपनी स्वाभाविक सुन्दरता से सहसा मन को मोह लेते थे। बाग-बगीचों में फूलों की सुगंधि भौरों को मस्त वना रही थी। पक्षियों का कोमल कलरव कानों को बड़ा मीठा लगता था। गोपाल और किसान लोग वर्षा की खुशी में मस्त हो मीठी २ रागें आलाप रहे थे। व्यापारियों की थकावट नगर वाहिर की वगीचियों की शिलाओं के रगड़ों से दूर भाग रही थी। धूरिये वोहरे, किसानों के खेतों से फूंक, फली, काकड़ी, तरबूज आदि की गांठें कंधों पर लादे आ रहे थे। नगर के वाहिर चारों ओर कुँए और तालाब जल से उमड़ पड़े थे। साधुओं के उपाश्रयों में लम्बी २ ललकारों से व्याख्यान हो रहे थे। मन्दिरों में स्नात्रमहोत्सवों और प्रभुपूजा की सूचना पेटी-तवले दे रहे थे। झालरों के झंकार और घंटाओं के गुञ्जार से नगर का पाप पलायन कर रहा था। दानियों की दान कीर्त्ति

और तपस्वियों की तपस्या का तेज चारो ओर फैल रहा था। दिन के ११ बजे का जिक्र है कि एक नवयुवक मन्दिर से परमेश्वर की पूजा कर उपाश्रय जा रहा था, रास्ते में एक व्यक्ति ने उस नवयुवकसे कुछ प्रश्न किए और नवयुवक ने उसको समीचीन उत्तर दिए आज वे ही प्रश्नोत्तर। हम विचारज्ञ पुरुषो के मनोविनोदार्थ यहाँ उद्धृत करते हैं। प्रश्नकर्त्ता का नाम प्रश्नचंद्र और उत्तरदाता का नाम उम्मेदचंद्र था खयाल रहे]

"प्रकाशक"

प्रश्नचंद्र—क्या आप मूर्त्तिपूजक हैं?

उम्मेदचंद्र—नहीं।

प्रश्न—तो फिर आपके कपाल मे तिलक क्यो है?।

उम्मेद—यह तो जैनी होने का निशान (मार्क) है। क्या आपने नहीं सुना है:—

"देवी के टीको कही, शिव की जांणो आड़।
तीखा तिलक जैनों तणा, विष्णु की दो फाड़॥"

प्र०—आप मूर्त्ति की पूजा तो करते हैं?।

उ०—मैं केवल मूर्त्ति की, पूजा नहीं करता हूँ। क्योकि यदि मैं मूर्त्ति ही की पूजा करता तो मूर्त्ति के सामने यह कहता कि हे मूर्त्ति! तू अच्छी है, बड़ी सुदर है, तुम्हारे बनानेमे मैंने इतना द्रव्य व्यय किया। तू कैसे सुंदर चिकने पत्थर की बनी हुई है। इतने लोगों ने तुम्हे इतने समय मे किस चतुराई से बनाया है? इत्यादि, परंतु ये शब्द कोई भी भावुक भक्त मूर्त्ति के सामने उच्चारण नहीं करता है अतः मैं केवल मूर्त्तिका ही पूजक नहीं हूँ।

प्र०—तो फिर आप किस चीज की पूजा करतेहैं?।

उ०—मै मूर्त्ति द्वारा शुद्ध, सनातन, सर्वज्ञ, ईश्वर, परमात्मा तीर्थङ्करो की पूजा करता हूँ। मूर्त्ति तो मात्र निमित्त कारण है। जैसे वीतरागकी वाणीकी पूजा के लिए सूत्रोके पन्ने हैं वैसे ही सर्वज्ञ तीर्थकरो की खुदकी पूजाके लिए मूर्त्ति है जरा नीचे की बातो को ध्यान लगा कर सुनो।

मूर्त्ति के निमित्त कारण से तीर्थकरो की पूजा	सूत्रो के निमित्त कारण से तीर्थकरो की वाणी की पूजा
मूर्त्ति के दर्शन मात्र से मेरे हृदय मे तीर्थकरो के प्रति पूज्यभाव पैदा होता है और हम लोग यह कहते हैं कि:—	सूत्रो को देखते व पठन पाठन करते ही हमारे हृदय में तीर्थकरो की वाणी के प्रति पूज्य भाव पैदा होता है और हमारे मुँह से सहसा यह निकल जाता है कि:—
अपार संसार समुद्दपारं। पत्ता शिवं दिंतु सुइक्क सारं। सव्वे जिणंदा सुर विंद वंदा। कल्लाण कल्लीण विसाल कंदा। 'कल्याण कंद स्तुति'	जिण वयणे अणुरत्ता, जिण वयण जे करंति भावाश्र अमला असंकलिट्ठा, तेहुंति परत संसारे॥ 'उतरा० अ० ३३॥
मूर्त्तियो को मै तीर्थङ्कर कहता हूँ जिन तीर्थङ्करों की मूर्त्तिएं हैं उन्हे मैं उसी नाम से पुकारता हूँ जैसे:—	सूत्रो को हम जिनवाणी कहते हैं। सूत्रों को भी तीर्थकरो की वाणी कहते हैं और उन्हे उन्ही के नामसे यो कहते हैं जैसे:—

यह भगवान्ऋषभ देवकी मूर्त्ति है।	यह वाणी भगवान्ऋषभदेवकी है।
यह भगवान् पार्श्वनाथकी मूर्त्ति है।	यह वाणीभगवान्पार्श्वनाथनेकही।
यह भगवान् महावीरकी मूर्त्ति है।	यहबातभगवान्महावीर नेकही।
मूर्त्ति के निमित्त कारण से तीर्थंकरो का ज्ञान होता है इसलिए मूर्ति उपकारी है।	सूत्रों के निमित्त कारण से भी तीर्थंकरों का ज्ञान होता है अतः सूत्र उपकारी है
मूर्त्ति तीर्थंकरों की होने से उनकी ८४ आशातना टाली जाती है।	सूत्र तीर्थंकरो की वाणी होने से उनकी ३४ असज्झाइयें वरजी जाती हैं।
मूर्त्ति तीर्थंकरों की होने के कारण उच्च पवासन पर विराजमान कर पूजी जाती है। मूर्त्ति के पचाल, मुकुट कुण्डल ध्यानमुद्रा देखने से तीर्थंकरो की क्रमश. जन्म, राज्य और वीतराग दशा का ज्ञान होता है।	सूत्र तीर्थंकरों की वाणी होने से उच्च पाट तथा ठवणी पर रख पढ़े जाते हैं। सूत्रो के पढ़ने से तीर्थंकरों की बाल्याऽवस्था, राज्याऽवस्था और वीतरागाऽवस्था का ज्ञान होता है।

इस प्रकार मूर्ति और सूत्र ये दोनों तीर्थंकरों का वास्तविक ज्ञान होने के निमित्त कारण हैं और इन कारणो से हमको ज्ञान, वैराग्य और शान्ति मिलती है। अतः हमारे लिए दोनो पूज्य हैं। हम केवल मूर्ति पूजक ही नहीं पर मूर्ति के द्वारा तीर्थंकरों के पूजक हैं। हमारे चैत्यवन्दन मे, स्तुति मे, स्तवन मे, प्रार्थना मे जहाँ देखो वहाँ तीर्थंकरों की ही पूजा, आती है न कि केवल मूर्ति की जरा हमारे भक्ति भरे हृदय के उद्गार तो देखिये कि हम मूर्ति के सामने बढ़कर हो क्या कहते हैं:—

"नमोत्थुणं, अरिहंताणं, भगवंताणं" इति।

कहिये! यह नमस्कार किसको है भगवान् को या केवल मूर्ति को?। आगे हम क्या प्रार्थना करते हैं कि "*जिणाणं जावयाणं, तिन्नाणं तारयाणं*, बुद्धाणं बोहयाणं, मुत्ताणं मोअगाणं, सव्वनूणंसव्वदरिसिण" इस बात को साधारण बुद्धि वाले भी समझ सकते हैं कि हम जैन लोग केवल मूर्त्ति पूजक हैं या मूर्त्ति द्वारा तीर्थङ्करो के पूजक हैं?।

प्र०—तो फिर कई एक लोग आपको जड़-उपासक क्यो कहते हैं?

उ०—ऐसा कहने वालों की खुद की बुद्धि की जड़ता है कि वे दूसरों के भावो को या विधानों को न समझ कर केवल द्वेष भाव से यद्वा तद्वा निंदा कर अपना कर्म बंधन करते हैं।

प्र०—जब आप वीतराग भगवान के उपासक हैं, तो मूर्त्ति की क्या जरूरत है। वीतराग की उपासना तो बिना मूर्त्ति के भी हो सकती है।

उ०—ऐसा कहना एकान्त भूल और अज्ञानता सूचक है क्योंकि कारण के अभाव से कार्य की सिद्धि हो ही नही सकती है। यह कथन केवल एक धर्म या एक व्यक्ति के लिए नही पर समग्र संसार के लिए है। और कारण-कार्य की बदौलत सारा विश्व मूर्त्ति पूजक है। यह बात एक दूसरी है कि कोई सद्भाव मूर्त्ति माने और कोई असद्भाव मूर्त्ति को माने, पर मूर्त्ति माने बिना तो किसीका भी कोई काम नहीं चल सकता है।

प्र०—काम क्यों नही चल सकता, हम लोग मूर्त्तिपूजा बिल-कुल नहीं मानते हैं और हमारा सब काम ज्यो का त्यो चल रहा है।

उ०—महाशय ! यह बात केवल मुँह से कहने की है कि हम मूर्त्ति नहीं मानते, न कि वास्तव मे यह सच्ची है। देखिये कभी कोई अनभिज्ञ व्यक्ति अपने अपमानादि के कारण क्रोधित हो या आवेश में आकर कह दे कि हम मूर्ति नहीं मानते हैं "पर जिस को मूर्त्ति का मार्मिक रहस्य ही मालूम नहीं है ऐसे अबोधात्मा का यह कहना कौन समझदार ठीक मान सकता है। हाँ ! या तो कोई उस कहने वाले के सदृश ही स्वयं अबोध हो या जिस पर पक्षपात का भूत सवार हो वह व्यक्ति क्षण भर के लिए हठधर्मी बन कर खुद मूर्त्तिमान होते हुए भी मुँह से कह देता है कि हम मूर्त्ति नहीं मानते हैं। और जब प्रमाण पूछा जाता है तो झट से अपने उन पूर्वजों का नाम लेलेते हैं कि जिन्होंने कुछ न जानते हुए केवल अपने अपमानादि के कारण से मूर्त्ति नहीं मानी थी। परन्तु क्या यह कह देना समझदारों का काम है ? कदापि नहीं।

प्र०—अच्छा तो आप ही बताइये कि हम लोगों ने कब मन्दिर में जाकर मूर्त्ति पूजा की थी।

उ०—क्या मन्दिर में जाना ही मूर्त्ति पूजा है ? नहीं, हम कहते हैं कि किसी भी हालत मे मूर्त्ति (आकृति) का अवलंबन करना यही मूर्त्तिपूजा है और ऐसा प्राणी मात्र को करना पड़ता है।

प्र०—आप केवल मुँह से ही वारंवार कहते हैं कि "तुम भी मूर्त्ति-पूजक हो" परंतु उदाहरण देने में आप नितान्त कमजोर हो। अन्यथा बतलाना चाहिए कि हम किस आकृति का

अवलंबन करते हैं जिससे कि आप हमें मूर्ति-पूजक करार देते हो।

उ०—आप अपने गुरुजी को नमस्कार करते हो ?।

प्र०—जी हाँ! पर इससे क्या हुआ, हमारे गुरुजी मे तो ज्ञानादि गुण हैं।

उ०—आप गुणो को नमस्कार करते हैं या शरीर को ? यदि गुणो को नमस्कार करते हो तो ज्ञानादि गुण तो अरूपी हैं जो कि आपके दृष्टिगोचर नही होते। और आत्मा मे अनन्त ज्ञान दर्शनादि गुणों का खयाल करके दृश्य शरीर को नमस्कार करते हो तो यह प्राणी मात्र अर्थात् क्या एकेंद्रिय, क्या पञ्चेंद्रिय, क्या भव्य, क्या अभव्य, सब जीवो मे विद्यमान है अतः प्राणी मात्र को नमस्कार करना चाहिए। यदि केवल शरीर ही को वंदना करते हो तो शरीर तो जड़ और हाड मांस का पुतला है और यह भी मनुष्य मात्र के होता है अतः कमसे कम सब प्राणियो को नहीं तो मनुष्य मात्र को तो नमस्कार करना ही चाहिये।

प्र०—हमारे गुरुजी का शरीर, जड़ है तो क्या हुआ, पर हमारे लिए तो वे पूज्य हैं। हम उनके अन्दर गुणों की भावना करके ही वन्दन पूजन करते हैं। आपको इससे क्या आपत्ति है ?

उ०—हमको इसमे कोई आपत्ति नहीं, परन्तु यदि आप इसी प्रकार मूर्ति में भी गुणो की कल्पना करके मूर्ति द्वारा तीर्थंकरों का वन्दन पूजन करो तो, आपको क्या आपत्ति है।

प्र०—हमारे गुरुजी तो रजोहरण, मुंहपत्ती, आदि रखते और संयम पालते है। मूर्ति क्या रखती और कौनसा संयम पालती है जो उसे हम वन्दन पूजन करें ?।

उ०—संयम रूपी हैं या अरूपी ?

प्र०—संयम रूपी नहीं किन्तु अरूपी है।

उ०—तो अरूपी संयम को आप कैसे देख सकते हो ? ।

प्र०—अरूपी संयम को हम देख तो नही सकते हैं, पर तीर्थङ्करों के वचनो से जानते हैं।

उ०—तीर्थङ्करों ने तो स्वलिङ्गी, अन्यलिङ्गी और गृहलिङ्गी तीनों को सिद्ध होना बतलाया है (देखो भगवती सूत्र) क्या आप इन तीनो को नमस्कार करते हैं ?

प्र०—नही हमको मालूम पड़े कि इनमें संयम हैं उन्ही को हम नमस्कार करते हैं।

उ०—आपको कितना ज्ञान है ? जो आपको अंतःस्थ अरूपी सयम का पता पड़ जाय, भला, बताइये तो सहीकि आपके गुरु भव्य हैं या अभव्य ?

प्र०—यह तो ज्ञानी ही जान सकते हैं, पर रजोहरण मुंह-पत्ती आदि साधुत्व के चिन्ह होने से हम परम्पराऽऽगत व्यवहार से जान लेते हैं कि यह साधु है।

उ०—तबतो आपके वन्दन पूजन के कारण गुरुजी के रजो हरण और मुंहपत्ती आदि वाह्यचिन्ह हुए जो कि जड़ हैं फिर आप यह क्यो कहते हैं कि "हम जड़ आकृति (मूर्ति) को नहीं मानते हैं। आप स्वयं यह सोचिये कि आपके गुरुजी का शरीर और रजोहरण आदि एक आकृति रूप है या नहीं। तथा ये जड़ हैं या चेतन। यदि ये, आकृति जड़ रूप हैं तो इन जड़ पदार्थों में ज्ञानादि अरूपी गुणों की कल्पना करना और उनकी वन्दन पूजन करना क्या जड़ पदार्थ की सेवा नहीं है ? यदि है

तो जरा विचार करें कि मूर्तिपूजक लोग इससे अधिक क्या करते हैं ? वे भी तो मूर्ति में आदर्श गुणों का आरोप कर उन्हीं गुणों का वन्दन , जन करते हैं ।

प्र०—हमारे गुरुजी तो बोलते चालते हैं, मूर्ति क्या भी बोलती है ?

उ०—बोलने चालने मे तो योगोंकी चञ्चलता होनेसे हिंसा होती है और उनसे उल्टा कर्मों का बन्धन होता है और इन कर्म बन्धन से बचने के लिए ही आपके गुरुजी और अध्यात्म योगी बन सके तो कुछ समय के लिये मौन व्रत धारण करते हैं । अब आप ही बताइये कि ज्यादा बोलना अच्छा है, या नहीं बोलना अच्छा है ?

प्र०—हमारे गुरुजी तो उपदेश करते हैं जिससे सुनने वालों को ज्ञान होता है क्या आपकी मूर्ति भी कोई उपदेश करती है जिससे कि उसके उपासकों को उपदेश हो ।

उ०—उपदेश तो मात्र निमित्त है उपादान तो आत्मा ही है कई लोग मूर्त्ति द्वारा तीर्थंकरों के स्वरूप चिन्तवन से वैराग्य को प्राप्त कर लेते हैं तब कई लोग साधुओं के व्याख्यान से राग द्वेष कर कर्मबन्धन कर बैठते हैं । आपके गुरुजी के उपदेश करने पर भी कई लोग उनकी तारीफ और कई लोग निंदा करते हैं जो आप प्रत्यक्ष में भी देख रहे हैं, पर मूर्त्ति ध्यान स्थित होने पर भी उनके चरणों में सारा विश्व सिर झुकाता है । यदि उपदेश नहीं देने के कारण ही आप मूर्ति को नहीं मानतेहैं तब तो सिद्धों को भी नहीं मानना चाहिए कारण वे भी उपदेश नहीं देते हैं । किन्तु उन्हें तो तुम दिन में कई बार "नमोत्थुणं" देते हो इसका फिर क्या अर्थ हुआ ? यदि उपदेश न देने पर भी तुम उन सिद्धो

को नमस्कार करते हो तो मूर्ति भी उन्हीं सिद्धों को है फिर उसे नमस्कार वन्दन आदि क्यो न किया जाय ? हमारी राय में तो जरूर करना चाहिये ।

भाई साहिब ! किन्हो विद्वानो के पास कुछ काल रह कर पहिले जरा जैन शास्त्रो को खूब समझलो कि मूर्ति कारण है और सिद्ध कार्य हैं और "कारणकार्ययोरभेदः" इस न्याय के अनुसार दोनो का कार्य कारण रूप अभेद (एकी भाव) सम्बंध है, जैसे आपके गुरुजी का जड़ शरीर और रजोहरण, मुंहपत्ती आदि कारण है और संयमादि गुण कार्य है, इस प्रकार कुछ समझ बूझ कर शंका करो । अन्यथा व्यर्थ का वितण्डावाद खडा करने मे मुंह की खानी पड़ती है । अच्छा ! आगे चल कर मैं आपको इस विषय को समझाने के लिए एक उदाहरण फिर बतलाता हूँ कि पहिले आप बताइये कि आपके जो सूत्र हैं वे अमूर्त्ति हैं या मूर्त्ति ?

प्र०—सूत्र कोई मूर्त्ति थोड़े ही हैं ।

उ०—तो क्या अमूर्त्ति हैं ?

प्र०—क्या आप सूत्रो को मूर्त्ति मानते हो ।

उ०—बेशक ! क्योकि सूत्रो के पत्रो की और अक्षरो की आकृति है या नही ?

प्र०—आकृति तो है ।

उ०—तो बस होगया; आकृति और मूर्त्ति कोई भिन्न दो वस्तुएँ नही हैं किन्तु आकृति मूर्त्ति शकल स्थापना आदि सब एकार्थी पर्यायवाची शब्द हैं ।

प्र०—अच्छा सूत्रो के पत्रो को तो आप मूर्त्ति मानते हो

पर जब सूत्रों के पन्नेही नहीं थे और सूत्रों का ज्ञान कण्ठस्थ था उस समय के हमारे पूर्वज क्या मर्त्ति मानने वाले थे।

उ०—हाँ. वे भी मूर्त्तिपूजक ही थे।

प्र०—वे कैसे मूर्त्तिपूजक थे।

उ०—यद्यपि पन्ने तो नहीं थे किन्तु फिर भी वे शब्दोच्चारण में "क" को क और "ख" को ख उच्चारण करते थे। यह भी तो क और ख की मूर्त्ति ही है। कारण, क की आकृति को क कहना और ख की आकृति को ख कहना यही तो मूर्त्ति है। मूर्त्ति का अर्थ है कि अमुक आकृति द्वारा अमुक भावों का ज्ञान होना भाव तो है कार्य और जिस आकृति द्वारा उसका ज्ञान होता है वह कारण है समझे न ?

प्र०—यदि हम मूर्त्ति को कारण मान भी लें तो भी इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि हम उन सूत्रों के पन्नों को पुष्पादि से पूजें।

उ०—भले ही पुष्पादि से मत पूजो पर जिस कारण से आपको ज्ञान प्राप्त हुआ उसका उपकार मानना तो आपका कर्त्तव्य है न ?

प्र०—हाँ, उपकार तो जरूर मानना ही चाहिए।

उ०—परन्तु उपकार विना पूज्य भाव आए नहीं माना जा सकता है।

प्र०—हाँ, पूज्य भाव तो आता ही है।

उ०—तो बस ! कारण के प्रति पूज्य भाव पैदा होना ही कारण की पूजा है। फिर वह चाहे द्रव्य पूजा करे चाहे भाव

पूजा। पर कार्य की सिद्धि के लिए कारण की पूजा सब संसार करता है।

प्र०—आप संसार भर को मूर्त्ति पूजक वतलाते हो किन्तु संसार मे मूर्त्ति नहीं मानने वालो की संख्या करोड़ों की है, कहिये यह कब से और क्यों ?

उ०—इतिहास के प्रखर विद्वानो ने अपक्षपात भाव से शोध और खोज कर यह निष्कर्ष निकाला है कि "संसार भर मे मूर्त्ति पूजा का प्रचुरता से प्रचार था और सब लोग अपने अपने माने हुए देवों की मूर्त्तियो द्वारा स्व स्व शास्त्र कथित विधानो से पूजा कर आत्म-कल्याण करते थे परन्तु काल की कुटिल गति से विक्रम की सातवी शताब्दी से अरबिस्तान मे एक मुहम्मद साहिब नाम की व्यक्ति हुई जिन्होने उस समय अरबिस्तान मे मूर्तियो की ओट से होने वाले स्वार्थान्ध अत्याचारों को रोकने का बीड़ा उठाया पर उनको यह बात समझ में नही आई कि शरीर पर पैदा हुए क्षत को मिटाने के लिए उसी का उपचार करना चाहिये या समूचे शरीर को ही इस संसार से मिटा देना चाहिए अतः उन्होने उस बिगड़ी दशा का वास्तविक सुधार न कर मूर्तिपूजा का ही विरोध कर अपना "मुस्लिम मज़हब" नामक नया पन्थ निकाला, जिसे आज १३५८ वर्ष हुए हैं। उनका यह कार्य पूर्वोक्त उदाहरणाऽनुसार ऐसा ही घटित हुआ कि जिस मनुष्य के सिर पर बाल बढ़ गए हो और वह उस झंझट को मिटाने के लिए नाई के पास जाय, तब नाई उन बालों को न काट बाल पैदा करने वाले सिर को ही काट डाले कि न रहे बांस न बजे बांसुरी,, किन्तु मुहम्मद साहिब ने

इन सब पर कुछ विचार न कर इसी मार्ग का अनुसरण किया मुहम्मद साहिब की इस बात से पाश्चात्य देशो मे बड़ी भारी अशान्ति फैली पर सौभाग्यवश इस अयोग्य कार्य में मुहम्मद साहिब को पूर्ण सफलता नहीं मिली क्योंकि उनके पास कोई ऐसा प्रमाण या युक्ति नही थी जो कि जनता के हृदय पटल को सहसा पलट सके। उनके पास तो केवल तलवार का बल था जिनके भरोसे पर वे अपने विचारो को जन साधारण में प्रचलित करना चाहते थे पर भला यह कब होने का था, हठात् कोई किसी के विचारो का विनिमय क्या कर सकता है ? अतः वे इसमें फैल रहे और प्रमाण स्वरूप विक्रम की चौदहवीं शताब्दी तक तो जर्मनादि पाश्चात्य प्रदेशों मे मूर्त्तिपूजा की प्रथा ज्यों की त्यों चालू रही। इतना ही क्यो पर खास मक्का में तो चौदहवीं सदी में जैनमंदिर मूर्त्तिएँ भी पूजी जाती थी। विक्रम की सातवी शताब्दी से विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक भारत पर अनेक मुस्लिम जातियों के अगणित हमले हुए और धर्मान्धता के कारण उन विधर्मी मुसलमानो ने भारत की स्थाई शिल्पकला के अनेक उद्भट नमूने, हजारो लाखों सुन्दर मन्दिर सदा के लिए नष्ट भ्रष्ट कर दिए। ज्ञानोपलब्धि के अनन्य साधन हजारो पुस्तकालयो को ज्यों का त्यो जला दिया किन्तु इतना अत्याचार होने पर भी आर्य प्रजा पर उनका तनिक भी प्रभाव नही पड़ा, और विक्रम की सोलहवी सदी तक अखिल भारत मे प्रत्येक धर्मावलम्बी अपने २ इष्ट देव की मूर्त्ति की पूजा करता रहा। किंतु आखिर उन मुसलमानों की अनार्य संस्कृति हमारे नामधारी आर्यों पर पड़ ही गई और

मुहम्मद के शिष्य समुदाय में सबसे पहिले हमारे लौंकाशाह ने और बाद में गुरु नानकशाह, कबीर, और रामचरण आदि व्यक्तियों ने उस अनार्य संस्कृति का अन्धाऽनुकरण किया, जो अद्याऽवधि भी जारी है पर यह बात तो दावे के साथ कही जा सकती है कि जितने मूर्त्ति-विरोधी आज तक हुए हैं और अपना अलग मत चलाया है, वे सबके सब मूर्त्तिपूजा से किसी हालत में बच नहीं सके हैं। चाहे वे इस प्रक्रिया को किसी अन्य रूप में मानें पर इस (मूर्त्तिपूजा) को मानते जरूर हैं। यही क्यों किन्तु वे मूर्तियों की पुष्पादि से भी पूजा करते हैं।

प्र०—बताइये ? कि मुसलमान लोग कैसे मूर्त्ति पूजक हैं ?

उ०—मुसलमान लोग मूर्त्तिपूजक हैं इसको कौन इन्कार करता है ? मुसलमान लोग मूर्त्तिपूजक नहीं हैं तो फिर वे हजारो रुपये खर्चकर, अनेक कष्ट उठाकर, मक्का मदीना की यात्रार्थ क्यों जाते हैं ? तथा वहाँ जो काबा नाम के मंदिर मे काला पत्थर रक्खा हुआ है उसकी सात बार प्रदक्षिणा करके अपने कृत पापों को नष्ट करने की भावना से उसका सात बार चुम्बन क्यो करते हैं ? एवं वहाँ जो झमझम नाम का खारा पानी का कुआँ है, उसके जल का चरणामृत क्यो लेते हैं ? उन्हे फूल फल क्यों चढ़ाते हैं ? और मणो (वन्द) लोबान धूप क्यो खेवते हैं ? यह सब क्यों किया जाता है ? वे ताबूत ताजिया आदि फिर किस लिए बनाते हैं। मसजिदो में पीरो की स्थापना किस कारण होती है ? अजमेर की ख्वाजापीर की दरगाह की यात्रार्थ सैकड़ो कोस दूर २ से असंख्य मुसलमान आते हैं यह क्या जानकर आते हैं ? इन सब उपर्युक्त कृत्यों के संपादन करने में मुसलमानो की आन्तरिक

भावना आत्म-कल्याण साधन की रहती है यह ऐसा क्यों है ? क्या इन सब विधानों से यह सिद्ध नहीं होता कि मुसलमान लोग मूर्त्तिपूजक हैं। क्या यह प्रकार मूर्तिपूजा का नहीं है ? यदि है तो आपका कथन नितान्त अनर्गल है ।

प्र०—खैर ! आपके कथनानुसार माना कि मुसलमान तो मूर्त्तिपूजक हैं परन्तु क्रिश्चियन (अंगरेज) लोग तो मूर्त्तिपूजक नहीं हैं, इसका क्या उत्तर है ?

उ०—इसका उत्तर यह है कि क्रिश्चियनों में रोमन कैथोलिक लोग तो प्रत्यक्ष में ही मूर्त्तिपूजा करते हैं अतः उनके लिए कुछ कहना व्यर्थ है। परन्तु प्रोटेस्टेण्ट पार्टी वाले भी केवल मुँह से कहते हैं कि हम मूर्त्तिपूजा नहीं मानते हैं किन्तु वे भी अपने गिरजाघरों मे महात्मा ईसामसीह की शूली सर लटकती हुई मूर्त्ति रखते हैं, उसे देख उनका दिल रोमाञ्चित हो जाता है पुष्प धूपादि से उसकी पूजा करते हैं। सिर पर से टोप नीचे उतार कर घुटने टेक वे उस मूर्त्ति को नमस्कार करते हैं क्या यह मूर्तिपूजा नहीं है ? हमारी समझ में तो यही मूर्त्तिपूजा का विधान है ।

प्र०—माना कि अंगरेज भी मूर्तिपूजा मानते हैं परन्तु पारसी लोग तो मूर्ति का नाम ही नहीं लेते कहिये यहाँ क्या जवाब है ?

उ०—भाई खूब कहा, पारसी लोग मूर्ति का नाम भी नहीं लेते ? हम तो जानते हैं कि पक्के मूर्तिपूजक तो पारसी ही हैं। देखिये उनका इष्टदेव अग्नि है और वे अग्निदेव की पूजा करते हैं, अग्नि के सामने बाजा बजाते हैं, पुष्प घृत आदि

होमते हैं क्या यह मूर्तिपूजा नहीं है ? पारसी लोग सूर्यदेव को भी पूजते हैं तो फिर क्यों कहा जाता है कि पारसी मूर्त्तिपूजक नहीं हैं।

प्र०—ठीक पारसी भी मूर्तिपूजक हैं किन्तु सिक्ख और कबीर पंथी आदि तो मूर्ति नहीं मानते हैं।

उ०—यह सब कहने मात्र को बाहिरी ढोंग है, जिन लोगों ने अज्ञानता वश यह एक प्रकार का हठ पकड़ लिया है और जानते हुए भी उसे नहीं छोड़ते हैं यह बात दूसरी है, पर मन तो उनका भी मूर्त्ति की ओर रुजू अवश्य है, यदि ऐसा न होता तो वे अपने पूज्य पुरुषों की समाधिएँ फिर क्यों बनाते ? और सैकड़ों हजारों कोस दूर से चला कर वे उन समाधियों के दर्शनार्थ एक जगह इकट्ठे क्यों होते तथा उन समाधियों को पूज्य भाव से क्यों देखते एवं पुष्प हार, धूप, दीप नारियल आदि से उनकी पूजा क्यों करते ? परन्तु वे ऐसा सब कुछ करते हैं इसलिए सिद्ध होता है कि ये भी मूर्ति पूजक अवश्य हैं।

प्रश्नो०—माना, ये भी मूर्तिपूजक हैं किन्तु तारण पंथी, लौंकाऽनुयायी, स्थानकवासी और तेरहपंथी लोग तो मूर्ति को नहीं मानते हैं।

उ०—तारणपंथी लोग भले ही मूर्त्ति को नही माने पर वे लोग भी शास्त्रजी को तो एक उच्चासन पर स्थापित कर अच्छे सुन्दर वस्त्र आदि से उनकी सजावट करते हैं, पुष्प अक्षत आदि से तथा स्वर्ण, चांदी के बने कृत्रिम पुष्पों से सोत्साह शास्त्रजी को पूजते हैं और इस प्रकार से पूजा करने में वे तीर्थङ्करों की भक्ति कर अपना आत्म-कल्याण समझते हैं क्या यह मूर्त्ति पूजा नहीं है ? । दूसरा लौंकामत के लिए तो अब यह सवाल ही

नहीं रहा कि वे मूर्त्तिपूजक हैं या नहीं क्योंकि लौंकाऽनुयायी तो अब खुले आम अपने उपाश्रयों में साक्षात् भगवान् तीर्थङ्करों की मूर्त्तिएँ स्थापित कर उनकी द्रव्य भाव से पूजा करते हैं, तथा तीसरा नंबर है स्थानकवासियों का सो उनमें भी मूर्त्तिएं, गुरु-पादुकाएँ, समाधिएँ और साधु-साध्वियों के फ़ोटो पूजे जाते हैं। देखो ग्राम गिरि (मारवाड़) में स्था० साधु हर्षचंद जी की तथा गांव सादड़ी (मारवाड़) मे स्था० ताराचंदजी की पाषाण मय मूर्त्ति अष्ट द्रव्य से पूजी जाती है। आगरा में स्था० साधु रत्नचन्दजी की पादुकाओं की पूजा होती है। बड़ोद व अंबाला में स्थानक० साधुओं की बहुत काल से समाधिएँ हैं जो अत्यादर से पूजी जाती हैं, वहां हर साल मेला भरता है और हजारो लोग एकत्र होते हैं क्या यह मूर्त्तिपूजा का रूपान्तर नहीं है ?। अब रहे तेरहपन्थी लोग, सो वे भी इस मूर्त्तिपूजा से बिलकुल वञ्चित नहीं रहे हैं। अभी एक ताजा उदाहरण लीजिए, कि इसी वर्ष गांव गंगापुर (मेवाड़) में तेरह पन्थी पूज्य कालू रामजी स्वामी का देहान्त हुआ था तब आपके भक्त लोगों ने उस मृत शरीर (शव) का स्वर्ण रजत (चांदी) निर्मित पुष्पों से पूजन किया। इस उत्सव में भक्त लोगों ने हजारों रुपये खर्च कर अपने माने हुए (मान्य) धर्म की उन्नति समझी। अपने पूज्यजी के दाह स्थान पर एक स्मारक (चबूतरा) बनाया। हम पूछते हैं कि अब उस स्थान पर जो तेरहपन्थी साधु, साध्वियों श्रावक और भक्ताणिएँ जायँगी उनका दिल क्या इस स्मारक को देख भक्ति भाव से द्रवित नहीं होगा ? क्या उसे देख इन भक्तजनों को पूज्यभाव या स्मरण नही आएगा कि इस स्थान पर

हमारे पूज्यजी दग्ध हुए ? आदि। यदि हाँ तो बस ये भी मूर्त्ति पूजक हैं यह सिद्ध हो गया, क्योंकि अन्यथा पूज्यजी के शरीर से जीवात्मा के विदा लेने के बाद तो वह शरीर एक प्रकार की नर आकृति वाली मिट्टी ही शेष रही और बाद उस मिट्टी के पुतले को सोने-चाँदी के पुष्पों से सत्कार करना यह स्थापना और द्रव्य निक्षेप की पूजा नही तो और क्या है ? जरा नेत्रों को मूँद सच्चे दिल से हृदय में विचारिये कि हम लोग फिर अपने मान्य प्रभु की मूर्त्ति के बारे मे इस रीति से भिन्न और किस अनोखी रीति से पूजा करते हैं ?

प्र०— खैर ! यह तो जो कुछ है सो सुन लिया, पर अब आप यह बतावें कि संसार में आम तौर से प्रत्यक्ष मूर्त्ति पूजने वालों की संख्या कितनी है ?

उ०—यों तो मनुष्य और देवता सब के सब मूर्ति पूजक ही हैं परन्तु हां जो नरक के जीव और विकल मनुष्य हैं वे मूर्ति का स्पर्श नहीं करते हैं, इनके अलावा क्या आर्य, और क्या अनार्य सब मूर्तिपूजक हैं तथापि स्पष्ट ज्ञान के लिए देखिये:—

बौद्धमत के ··· ५८००००००००

रोमन कैथोलिक ३९००००००००

हिन्दू ··· ··· २७००००००००

जैन ··· ··· ···१००००००

ग्रीकादिको गिना जाय तो कुल १४०६९००००० हैं।

इनके सिवाय भी मुँह से मूर्तिपूजा नहीं माननेवाले किन्तु हृदय से माननेवालो की संख्या अलग है। कारण देहधारी जीव का हृदय सदा से मूर्तिपूजक रहा है अत: वह येन केन प्रकारेण मूर्ति माने बिना नहीं रह सकता।

प्र०—खैर हमारी तो मान्यता सूत्रों पर है, पर क्या जैन सूत्रों में मूर्तिपूजा का विधान है ?

उ०—अरे भाई ! सूत्रो में तो क्या पर सूत्र स्वयं भी तो मूर्ति स्वरूप हैं:—पन्ने, मूर्ति—स्याही, मूर्ति—कलम मूर्ति, लिखने वाला मूर्ति, लिखाने वाला मूर्ति, पढ़ने वाला मूर्ति, पढाने वाला मूर्ति, समझने वाला मूर्ति, समझाने वाला मूर्ति, उपदेश देने वाला मूर्ति, और उपदेश सुनने वाला मूर्ति, इस प्रकर सारा विश्व तो मूर्ति मय है फिर सूत्रों में मूर्ति विषयक उल्लेख का पूछना ही क्या है। ऐसा कोई सूत्र नहीं है, जिसमें मूर्त्ति विषयक उल्लेख न मिलता हो। चाहे ग्यारहअग, बत्तीससूत्र और चौरासी आगम देखो, मूर्त्ति सिद्धान्त व्यापक है, यदि इस विषय के पाठ देखने हों तो हमारी लिखी प्रतिमा छत्तीसी, गयवर विलास और सिद्ध प्रतिमा मुक्तावली तथा हाल ही मे छपा "मूर्त्तिपूजा का प्राचीन इतिहास," नाम की पुस्तकें देखो।

प्र०—सूत्रों को आप मूर्त्ति कैसे कहते हैं ?।

उ०—मूर्त्ति का अर्थ है, आकृति (शकल) सूत्र भी स्वर, व्यञ्जन वर्णों की आकृति (मूर्त्ति) ही तो है।

प्र०—मूर्ति को तो आप वन्दन, पूजन करते हो, पर आपको सूत्रों का वन्दन पूजन करते नहीं देखा ?।

उ०—क्या आपने पर्यूषणों के अन्दर पुस्तकजी का जुलूस नहीं देखा है ? जैन लोग पुस्तकजी का किस ठाठ से वन्दन पूजन करते हैं ! और आप भी तो सूत्रों का बहुमान करते हैं।

प्र०—हम लोग तो सूत्रों का वन्दन पूजन नहीं करते हैं।

उ०—यही तो आपकी कृतघ्नता है कि सूत्रों को वीतराग

की वाणी समझ उनसे ज्ञान प्राप्त कर आत्मकल्याण चाहते हो और उन वाणी की वन्दन पूजन करने से इन्कार करते हो, इसीसे तो आपकी ऐसी बुद्धि होती है। श्री भगवती सूत्र के आदि में गणधर देवों ने "णमो बंभीए लिवीए" कहकर स्थापना सूत्र (ज्ञान) को नमस्कार किया है। मूर्त्ति अरिहन्तों का स्थापना निक्षेप है और सूत्र अरिहन्तों की वाणी की स्थापना है, एवं ये दोनों वन्दनीक तथा पूजनीक हैं।

प्र०—महावीर तो एक ही तीर्थंकर हुए हैं पर आपने (मूर्त्तिपूजकों ने) तो ग्राम ग्राम में मूर्त्तिएँ स्थापन कर अनेक महावीर कर दिये हैं।

उ०—यह अनभिज्ञता का सवाल है कि महावीर एक ही हुए परन्तु भूतकाल में महावीर नाम के अनन्त तीर्थंकर हो गये हैं। इसलिये उनकी जितनी मूर्तिएं स्थापित हो उतनी ही थोड़ी हैं। यदि आपकी मान्यता यही है कि महावीर एक हुए हैं तो आपने अपने पन्ने पन्ने पर महावीर की स्थापना कर उन्हे शिर पर क्यों लाद रक्खा है? मन्दिरों में मूर्त्ति महावीर का स्थापना निक्षेप है और आपके पन्नों पर जो "महावीर" ये अक्षर लिखे हुए हैं वह भी महावीर का स्थापना निक्षेप है। इसमें कोई अन्तर नहीं है। तब स्वयं तो (अक्षर) मूर्त्ति को मानना और दूसरों की निन्दा करना यह कहाँ का न्याय है।

प्र०—कोई तीर्थंकर किसी तीर्थंकर से नहीं मिलता है पर आपने तो एक ही मन्दिर में चौवीसों तीर्थंकरों को एकत्र बैठा दिया।

उ०—हमारा मन्दिर तो बहुत लम्बा चौड़ा है उस में तो

चौबीसों तीर्थंकरों की स्थापना सुख पूर्वक हो सकती है, और राजप्रश्नी सूत्र में कहा भी है कि एक मन्दिर मे "अट्ठसयं जिण-पडिमाणं" पर आप तो पाँच इंच के छोटे से एक पन्ने में ही तीनों चौवीसो के ७२ तीर्थंकरों की स्थापना कर, और उस पन्ने को पुस्तक मे खूब कसकर बाँध अपने सिर पर लाद कर सुखपूर्वक फिरते हैं। भला, क्या इसका उत्तर आप समुचित दे सकेंगे ? या हमारे मन्दिर में चौबीसों तीर्थंकरो का होना स्वीकार करेंगे ?

प्र०—सूत्रों में तो तीन चौवीस का नाम मात्र कहा है वही हमारे पन्नो में लिखा है, स्थापना कहाँ है ?।

उ०—जो नाम लिखा है वह अक्षर ही तो स्थापना है। जब मूर्त्ति स्वयं अरिहन्तो की स्थापना है, तो सूत्र उन अरिहन्तो की वाणी की स्थापना है इसमें कोई अन्तर नहीं है।

प्र०—सूत्रों के पढ़ने से ज्ञान होता है। क्या मूर्ति के देखने से भी ज्ञान होता है ?।

उ०—ज्ञान होना या नहीं होना आत्मा के उपादान कारण से सम्बन्ध रखता है। सूत्र और मूर्ति तो मात्र निमित्त कारण हैं, सूत्रो से एकांत ज्ञान ही होता है तो जमाली गोशालादि ने भी यही सूत्र पढ़े थे, फिर उन्हे सम्यक्ज्ञान क्यों नहीं हुआ ? आप भी तो यही सूत्र पढ़ते हो फिर आपकी यह दशा क्यों ? और जग-वल्लभाचार्य को मूर्ति के सामने केवल चैत्य-वन्दन करने ही से कैवल्य ज्ञान कैसे हो गया ?। इसी प्रकार अनेक पशु पक्षियों व जलचर जीवों को मूर्ति के देखने मात्र से जाति-स्मरणादि ज्ञान हो गये हैं, अतः नाम की अपेक्षा स्थापना से विशेष ज्ञान हो सकता

है। आप पुस्तक पढने की अपेक्षा एक नकशा सामने रक्खो जिससे आपको तमाम दुनियाँ का यथार्थ ज्ञान हो जायगा।

प्र०—आप जिन-प्रतिमा को जिन-सारखी कहते हो क्या यह मिथ्या नहीं है ?।

उ०—आप ही बतलाइये यदि हम जिन-प्रतिमा को जिन-सारखी नही कहे तो फिर क्या कहे। उन्हे किन के सारखी कहे। क्योकि यह आकृति सिवाय जिनके और किसी के सदृश मिलती नही है जिससे उनकी इन्हे उपमा दें। जिन प्रतिमाको जिन-सारखी हम ही नहीं कहते हैं किन्तु खास सूत्रो के मूल पाठ में भी उन्हें जिन-सारखी कहा है, जैसे—जीवाभिगम सूत्र में यह लिखा है कि "धूवदाउणं जिनवराणं" अर्थात् धूप दिया जिनराज को, अब आप विचार करें कि देवताओं के भवनो मे जिन-प्रतिमा के सिवाय कौन से जिनराज हैं ? अर्थात् शास्त्रकारों ने जिन प्रतिमा को ही जिनराज कहा है। समवसरण मे तीर्थङ्करों के तीन दिशा में जिन प्रतिमा रखते हैं और चतुर्विध श्रीसंघ उनको जिनवर सदृश समक्ष वन्दन भक्ति करते हैं यदि हम आपके फोटू को आपके जैसा कहे तो कौनसा अनुचित हुआ ? यदि नहीं तो फिर जिन-राज की प्रतिमा को जिन-सारखी कहने ही में क्या दोष है ? यदि कुछ नहीं तो फिर कहना ही चाहिए।

प्र०—यदि मूर्ति जिनसारखी हैं तो उसमें कितने अतिशय हैं ?।

उ०—जितने अतिशय सिद्धों में हैं उतने ही मूर्ति में हैं, क्योंकि मूर्ति भी तो उन्हीं सिद्धो ही की है। अच्छा अब आप बतलाइये कि भगवान् की वाणी के पैंतीस गुण हैं, आपके सूत्रों में कितने गुण हैं ?।

प्र०—यदि जिन-प्रतिमा जिन-सारखी है तो फिर उस पर पशु पक्षी बीटें क्यो कर देते हैं? उनको अर्पण किया हुआ नैवेद्य आदि पदार्थ मूषक मार्जार क्यो ले जाते हैं तथा उन्हे दुष्ट लोग हड्डियों की माला क्यो पहना देते हैं?। उनके शरीर पर से आभूषण आदि चोर क्यो ले जाते हैं, एवं मुसलमान लोगो ने अनेक मन्दिर मूर्तियाँ तोड़ कैसे डाली? इत्यादि

उ०—हमारे वीतराग की यही तो वीतरागिता है कि उन्हे किसी से राग-द्वेष या प्रतिबन्ध का अंश मात्र भी नही है। चाहे कोई उन्हे पूजे या उनकी निन्दा करें, उनका मान करें या अपमान करें, चाहे कोई द्रव्य चढ़ा जावे, या ले जावे, चाहे कोई भक्ति करे या आशातना करें। उन्हे कोई पुष्पहार पहिना दें या कोई अस्थिमाला आकर गले में डाल दें इससे क्या? वे तो राग द्वेष से परे हैं उन्हें न किसी से विरोध है, और न किसी से सौहार्द, वे तो समभाव हैं, देखिये—भगवान् पार्श्वनाथ को कमठ ने उपसर्ग दिया और धरणेन्द्र ने भगवान् की भक्ति की, पर प्रभु पार्श्वनाथ का तो दोनो पर समभाव ही रहा है। जैसा कि कहा है—

"कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचितं कर्म कुर्वति।
प्रभोस्तुल्य मनोवृत्तिः पार्श्वनाथ श्रियेऽस्तुवः॥"

इसी प्रकार भगवान् महावीर के कानों मे गोवल ने खीलें ठोकी, वैद्य ने खीलें निकाल ली, परंतु भगवान् का दोनो पर समभाव ही रहा, जब स्वयं तीर्थंकरों का समभाव है तो उनकी मूर्तियो में तो समभाव का होना स्वाभाविक ही है आखिर वे मूर्तियाँ भी तो उन वीतराग देवों की ही हैं और हमारे देव वीतराग होने की

साबूती यह मूर्तियाँ बतला रही हैं क्योंकि उन्हीं की मुद्रा में ही निस्पृहता झलक रही है। क्या इसके अलावा आपके पास कोई ऐतिहासिक साधन है कि आप अपने देव की वीतरागिता बतला सको ? अच्छा ! अब हम थोड़ा सा आपसे भी पूछ लेते हैं कि जब वीतराग की वाणी के शास्त्रों में पैंतीस गुण कहे हैं तो फिर आपके सूत्रों को कीड़े कैसे खा जाते हैं ? तथा यवनों ने उन्हे जला कैसे दिया ? और चोर उन्हे चोर के कैसे ले जाते हैं ? क्या इससे सूत्रों का महत्व घटजाता है ?—यदि नहीं तो इसी भाँति मूर्तियों का भी समझ लीजिये कि मूर्ति और सूत्र ये दोनो स्थापना निक्षेप है।

मित्रो ! ये कुतर्कें केवल पक्षपात से पैदा हुई हैं यदि समदृष्टि से देखा जाय तब तो यही निश्चय ठहरता है कि ये मूर्तिये और सूत्र, जीवों के कल्याण करने में निमित्त कारण मात्र हैं। इनकी सेवा, भक्ति, पठन, श्रवणादि मे परिणामो की शुद्धता, निर्मलता होती है। यही आत्मा का विकास है, इसलिए मूर्तिएँ और सूत्र वन्दनीय एवं पूजनीय हैं।

प्र०—प्रतिमा पूजने ही से मोक्ष होती हो तो फिर तप, संयम आदि कष्ट-क्रिया की क्या जरूरत है ?

उ०—प्रतिमा-पूजन मोक्ष का कारण है इसमें कोई सन्देह नहीं हैं फिर भी यदि आपका यह दुराग्रह है तो स्वयं बताइये कि तुम दान शील से मोक्ष मानते हो, वह क्यो ? कारण यदि दान-शील से ही तुम्हे मोक्ष प्राप्ति हो जाती है तो फिर दीक्षा लेने का कष्ट क्यों किया जाता है ? परन्तु बन्धुओ ! यह ऐसा नहीं है—यद्यपि दानशील एवं मूर्तिपूजन ये सब मोक्ष के कारण हैं फिर

भी जैसे—गेहूँ धान्य, बीज रूप गेहूँ से पैदा होता है फिर भी ऋतु, जल, वायु, और भूमि की अपेक्षा रखता है वैसे ही ये दानशील मूर्तिपूजन आदि भी तप, संयमादि साधनो की साथ में आवश्यकता रखते हैं। समझे न ?

प्र०—यदि मूर्त्तियाँ वीतराग की हैं और वीतराग तो त्यागी थे, फिर उनकी मूर्त्तियों को भूषणादि से अलंकृत कर उन्हे भोगी क्यों बनाया जाता है ?

उ०—जो सच्चे त्यागी हैं वे दूसरों के बनाये भोगी कभी नहीं बन सकते, यदि बनते हों तो तीर्थंकर समवसरण में रत्न-खचित सिंहासन पर विराजते हैं पीछे उनके प्रभामण्डल (तेजो-मण्डल) ऊपर अशोक वृक्ष, शिर पर तीन छत्र और चारो ओर ६४ इंद्र चमरो के फटकारे लगाया करते हैं। आकाश में धर्म-चक्र एवं महेन्द्रध्वजा चलती है तथा सुवर्ण कमलों पर वे सदा चलते हैं और ढ़ीचण प्रमाणे पुष्पों के ढेर एवं सुगन्धित धूप का धुआँ चतुर्दिश फैलाया जाता है। कृपया कहिये, ये चिन्ह भोगियों के हैं या त्यागियों के, यदि दूसरे की भक्ति से त्यागी भोगी बन जाय तो फिर वे वीतराग कैसे रहे ? असल बात तो यह है कि भावुकात्मा जिनमूर्ति का निमित्त लेकर जन्मावस्था को लक्ष्य में रख पश्चात राजावस्था के कारण मुकुट कुण्डल हार, जेवर पहनाते हुए भी भक्तों का दृष्टिबिन्दु उन वीतराग की भक्ति करने का ही हैं, इससे इनके चित्त की निर्मलता होती है और क्रमश: मोक्षपद की प्राप्ति भी हो सकती है।

प्र०—मन्दिरों में अधिष्ठायक देवों के होते हुए भी मन्दिरों में चोरियें क्यों होती हैं ?

उ०—यह तो स्थापना है पर प्रभु वीर के पास एक करोड़ देवता होने पर भी समवसरण मे दो साधुओं को गोशाला ने कैसे जला दिया था, भला भवितव्यता भी कोई टाल सकता है ? अपने घर मे ही देखो ३५ गुणवाले सूत्र चोर चुराके क्यों ले जाते हैं ?

प्र०—कई लोग ऐसी टेरें गाया करते हैं कि—

"पाछा क्यों आये मुक्ति जाय के जिनराज प्रभुजी।"

क्या आप इसका समाधान कर सकेंगे ?

उ०—टेर का समाधान टेर से करना ही न्याययुक्त है।

"पाछा इम आया, निन्हव प्रगट्या है आरे पांच में। पा०
न हम गये न हम आये, घट घट ज्ञान हमारा।
जिनके नाम से रोटी मांगे, उनका नाम विसारा रे पा.।
नमोत्थुणं देकर मुझको, पिच्छा मनुष्य बनावे।
नय निक्षेप का भेद न जाने, मन माने जिऊ गावे रे०। पा०

हम लोग तो मूर्त्तियों को तीर्थंकरों का शास्त्राऽनुसार स्थापना निक्षेप मान के स्थापित करते हैं, पर ऐसा कहनेवाले खुद ही मोक्ष-प्राप्त सिद्धों को वापिस बुलाते हैं। देखिये, वे लोग हर वक्त चौवीस्तव करते हैं तो एक "नमोत्थुणं" अरिहन्तों को और दूसरा सिद्धो को देते हैं। सिद्धो के "नमोत्थुण" में "पुरिस सिहाणं, पुरिसवरपुडरीयाणं, पुरिसवरगन्धहत्थीणं" इत्यादि कहते हैं। पुरुषों में सिह और वर गन्धहस्ती समान तो जब ही होते हैं कि वे देहधारी हो। इस "नमोत्थुण" के पाठ से तो वे लोग सिद्धों को पीछा बुलाते हैं, फिर भी तुर्रा यह कि अपनी

अज्ञता का दोष दूसरों पर डालना। सज्जनों! जरा सूत्रों के रहस्य को तो समझो, ऐसे शब्दों से कितनी हँसी और कर्म-बन्धन होता है। हमारे सिद्ध मुक्ति पाकर वापिस नहीं आये हैं। पर मोक्ष-प्राप्त सिद्धों की प्रामाणिकता इन मूर्तियों द्वारा बताई गई है कि जो सिद्ध मुक्त हो गए हैं उनकी ये मूर्तिएँ हैं। पर मूर्ति नहीं मानने वाले अपने सिद्ध होने का क्या सबूत दे सकते हैं कि वे किस अवस्था में सिद्ध हुए हैं।

प्र०—यदि ये मूर्तिएँ अरिहंतों की हैं तो इन पर कच्चा पानी क्यों डालते हो ?

उ०—अरे भाई! आप इन पूज्य पुरुषों की जन्मादि क्रियाओं की भक्ति सूत्र पढ़ कर बतलाते हो कि अरिहन्तो का जन्म होता है तब इन्द्रादि देव मेरु पर लेजाके हजारों कलशो द्वारा प्रभु का स्नात्र करते हैं। वे इन्द्रादि देव सम्यग्दृष्टि, महाविवेकी, तीनज्ञानसंयुक्त, भगवान के परम भक्त और एकावतारी थे इत्यादि तब हम लोग यह सब करके बतलाते हैं इसमें अनुचित क्या है यह दोनो के अभिप्राय रूप रूपान्तर मूर्ति पूजा का ही द्योतक है और पूज्य पुरुषों की पूजा संसार मात्र कर रहा है।

प्र०—कई लोग कहते हैं कि—

मुक्ति नहीं मिलसी प्रतिमा पूजियों, क्यों झोड़ मचावो ॥

इसका उत्तर आप क्या फरमाते हो ?

उ०—जैसा प्रश्न वैसा ही उत्तर लीजिये—

प्रतिमा पूजा बिन मुक्ति नहीं मिले, क्यों कष्ट उठाओ।
प्रभु पूजा से दर्शन शुद्धि, दर्शन मोक्ष का धाम ॥

विन दर्शन व्रतों को वेचो, वटे न पुण छदाम रे क्यों० ।
मनुष्य भव में या देवभव में, पूजा करनी पड़सी ॥
यदि नरक में जाना चाहे, वे ही पूजा से वचसीरे क्या० ।

समझ गये न । क्या और कुछ पूछना है ।

प्र०—जिन प्रतिमा को पूजकर कोई मुक्ति को गया है ?

उ०—सिद्धों में ऐसा कोई जीव हो नहीं है जो विना जिन प्रतिमा-पूजन के मोक्ष को गया हो, चाहे वे मनुष्य के भव मे या चाहे देवताओ के भव मे हो परन्तु वे मोक्षार्थ मूर्त्तिपूजक अवश्य ही है। पर कृपया आप यह वतलावे कि कोई श्रावक दान देकर या शील पालकर मोक्ष गया है ? नही। इतना ही क्यो मोक्ष तो तेरहवॉ गुणस्थान वृति संयोग केवली की भी नही। वह भी चौदहवे गुणस्थान अयोग केवली होता है तब मोक्ष होती है तब श्रावक तो पाँचवें गुणस्थान में है उस की तो मोक्ष हो ही कैसे। यदि यह कहो कि दानशील मोक्ष का कारण है तो उससे ही पहिले मूर्त्तिपूजा भी मोक्ष का अवश्य कारण हैं बल्कि मूर्त्ति-पूजा व्रतों के पूर्व समकित की करनी है इसके विना श्रावक की कोई भी क्रिया किसी हिसाब में नहीं है, समझे न भाई साहिब।

प्र०—जब तो जो मोक्ष का अभिलाषी (मुमुक्षु) हो उसे जरूर मूर्त्ति-पूजन करना ही चाहिये ?

उ०—इसमे क्या सन्देह है ? क्योकि आज जो मूर्त्ति नही पूजते हैं अथवा नही मानते हैं, उन्हे भी यहाँ पर नही तो देवताओ में जा कर तो जरूर सर्वप्रथम मूर्त्ति पूजन करना ही पड़ेगा, हाँ! यदि मूर्त्ति-द्वेष के पाप के कारण उन्हे नरक या तिर्यग्-योनि

का नसीब हुआ हो तो भले ही वे थोड़े काल के लिये मूर्त्ति पूजा से बच सकते हैं, अन्यथा मूर्त्ति-पूजन जरूर करना ही होगा

प्र०—देवताओं में जाकर मूर्त्ति-पूजन करना पड़ेगा ही, इसका आपके पास क्या प्रमाण है ?

उ०—देवताओं का कुल जैन है और वे उत्पन्न होते ही यहही विचार करते हैं कि मुझे पहले क्या करना और पीछे क्या करना और पहले व पीछे क्या करने से हित,सुख कल्याण और मोक्ष का कारण होगा इसके उत्तर में यह ही कहा है कि पहले पीछे मूर्ति का पूजन करना ही मोक्ष का कारण है देखो राजप्रश्नी सूत्र और जीवाभिगम सूत्र का मूल पाठ[1] ।

प्र०—कई मेरे मित्र इस प्रकार कहते हैं ?

परचो नहीं पूरे पारसनाथजी सब झूंठी वातें । प०

उ०—उत्तर में यह कहा जा सकता है कि—

परचो पूरे है पार्श्वनाथजी मुक्ति के दाता । प०
विन परचे किसको नहीं पूजे, यह है लोक व्यवहार ॥
परचो न माने गावे ध्यावे, वे हो असल गॅवार हो मुक्ति ।
प्रत्येक परचो पार्श्वनाथ को, जीव असंख्य तारा ॥
श्रद्धा भक्ति इष्ट जिन्हों के, भव भव सुख अपारा हो मु० ।

यह ठीक है क्योंकि परचा का अर्थ लाभ पहुँचाना है अर्थात मनोकामना सिद्ध करना, जो भव्यात्मा प्रभु पार्श्वनाथ की सेवा, पूजा, भक्ति करते हैं उन्हे पार्श्वनाथजी अवश्य परचा दिया करते हैं, (उसे लाभ पहुँचाया करते हैं) उसकी मनोकामना सिद्ध

१ सूत्र का मूल पाठ देखो मू० पू० का इ० पृष्ट ६१ ।

करते हैं, भक्तों की प्रधान मनोकामना मोक्ष की होती है और सब से बढ़ कर लाभ भी यही है, यदि पार्श्वनाथ परचो नहीं देवे तो फिर उनकी माला क्यो फेरते हो ? स्तवन क्यो गाते हो ? तथा लोगस्स मे हरवक्त उनका नाम क्यो लेते हो ? अभिलाषा तो लाभ की ही है न ? ।

प्र०—सूत्रों में चार निक्षेप बतलाए, जिसमें एक भाव निक्षेप ही वन्दनीय है ! तो स्थापना निक्षेप को वन्दन करने में क्या फायदा है ?

उ०—यदि ऐसा ही है तो फिर नाम क्यो लेते हो ? अक्षरोंमें क्यो स्थापना करते हो, अरिहन्त मोक्ष जाने के बाद सिद्ध होते हैं, वे भी तो अरिहन्तों के द्रव्य निक्षेप हैं, उनको नमस्कार क्यों करते हो ? विचारे भोले लोगों को भ्रम में डालने के लिए ही कहते हो कि एक भाव निक्षेप ही वन्दनीय है, यदि ऐसा ही है तो उपरोक्त तीन निक्षेपो को मानने की क्या जरूरत है, परन्तु करो क्या ? न मानो तो तुम्हारा काम ही न चले, इसीसे लाचार हो तुम्हे मानना ही पड़ता है । शास्त्रो मे कहा है कि जिसका भाव निक्षेप वन्दनीय है उसके चारों निक्षेप वन्दनीय है । और जिस का भाव निक्षेप अवन्दनीय है उसके चारो निक्षेप भी अवन्दनीय है । एक आनन्द श्रावक का ही उदाहरण लीजिए, उसने अरिहन्तो को तो वन्दनीय माना, और अन्यतीर्थियों के वन्दन का त्याग किया । यदि अरिहन्तों का भाव निक्षेप वन्दनीय और तीन निक्षेप अवंदनीय है तो अन्यतीर्थियो का भाव निक्षेप अवन्दनीय और शेष तीन निक्षेप वन्दनीय ठहरते हैं, पर ऐसा नहीं होता, देखिये—

अरिहन्तों के चार निक्षेप	अन्यतीर्थियों के चार निक्षेप
(१) नाम निक्षेप—अरिहन्ता का नाम वन्दनीय।	(१) नाम निक्षेप—अन्यतीर्थियों का नाम अवन्दनीय।
(२) स्थापना-निक्षेप—अरिहन्तों की मूर्ति या अरिहन्त ऐसे अक्षर लिखना वन्दनीय।	(२) स्थापना निक्षेप—अन्य तीर्थियोंकी मूर्ति अवन्दनीय।
(३) द्रव्यनिक्षेप भावअरिहंतो का, भूत, भविष्यकाल के अरिहन्त वन्दनीय।	(३) द्रव्यनिक्षेप—भावनिक्षेप का भूतभविष्यकाल के अन्यतीर्थी अवंदनीय।
(४) भावनिक्षेप—समवसरण स्थित अरिहन्त वन्दनीय	(४) भावनिक्षेप—वर्तमान के अन्यतीर्थी अवदनीय।

यह सीधा न्याय है कि स्वतीर्थियो के जितने निक्षेप वन्दनीय है, उतने ही अन्यतीर्थियो के अवन्दनीय है अर्थात् स्वतीर्थियों के चारो निक्षेप वन्दनीय हैं और अन्यतीर्थियो के चारो निक्षेप अवन्दनीय है।

प्र—सात नय मे मूर्तिपूजा किस नय मे है ?

उ—सात नय मे सिद्धो को नमोत्थुणं कहते हो वह किस नय मे हैं ?

प्र—आपही बतलाइये ?

उ—मूर्तिपूजा और सिद्धों को नमोत्थुणं दिया जाता है वह नैगम और व्यवहार नय का मत हैं क्योकि नैगम और व्यवहार नय के मत वाले निक्षेप चार मानते हैं और भी

नैगमनय के तीन भेद हैं (१) अंश (२) आरोप (३) विकल्प। दूसरे आरोप, के पुनः तीन भेद हैं। भूतकाल मे हो गया उसका आरोप भविष्य में होने वालों का आरोप, वर्तमान का आरोप। मूर्ति और सिद्धों को नमोत्थुणं अरिहन्ताणं पुरिस सिंहाणं "तन्नाणं तारियाणं" इत्यादि पाठ बोले जाते हैं यह वर्तमान सिद्धो में नहीं है पर भूतकाल का आरोप करके ही कहा जाता है और पद्मनाभादि तीर्थंकर भविष्य में होने वाले हैं उनका स्थानायांगादि जैनागमों मे व्याख्यान है वह भविष्य का आरोप है इसी कारण भरत चक्रवर्ती ने अष्टापद पर २३ भावि तीर्थंकरो की मूर्तियें बनाई एवं उदयपुर में पद्मनाभादि भावि तीर्थंकरो की मूर्तियां विद्यमान हैं

प्र०—मूर्ति जड़ है उसको पूजने से क्या लाभ ?

उ०—जड़ मे इतनी शक्ति है कि चैतन्य को हानि लाभ पहुंचा सकता है। चित्र लिखित स्त्री जड़ होने पर भी, चैतन्य का चित्तचंचल कर देती है। जड़ कर्म चैतन्य को शुभाऽशुभ फल देते हैं। जड़ भाग, चैतन्य को भान (होश) भुला देती है। जड़सूत्र चैतन्य को सद्बोध कराते हैं, जड़ मूर्ति चैतन्य के मलीन मन को निर्मल बना देती है। मित्रो! आजकल का जड़ मैसमरेजम और साइन्स कैसे २ चमत्कार दिखा रहे हैं, फिर यहा जड़ के बारे में कोई शका न करके केवल मूर्ति को ही जड़ मान उससे कुछ लाभ न मानना अपनी जड़ बुद्धि का द्योतक नही तो और क्या है?

प्र०—पाँच महाव्रत की पचीस भावना और श्रावक के ९९ अतिचार बतलाये हैं। पर मूर्ति की भावना या अतिचार को कहीं भी नहीं कहा, इसका कारण क्या है ?

उ०—दर्शन की प्रस्तुत भावना में, शत्रुंजय, गिरनार, अष्टापदादि तीर्थों की यात्रा करना आचारांगसूत्र* भद्रबाहु स्वामि कृत नियुक्ति में बतलायाहै और मूर्ति के अतिचार रूप ८४ आशातना चैत्यवन्दन भाष्यादि में बतलाई है, यदि मूर्त्ति पूजा ही इष्ट नहीं होती तो तीर्थयात्रा और ८४ आशातना क्यों बतलाते ?

प्र०—तीन ज्ञान (मति श्रुति और अवधि-ज्ञान) संयुक्त तीर्थङ्कर गृहवास में थे, उस समय भी किसी व्रतधारी साधु श्रावक ने वन्दन नही किया, तो अब जड़ मूर्ति को कैसे वंदन करें ?

उ०—तीर्थंकर तो जिस दिन से तीर्थंकर नाम कर्म बांधा उसी दिनसे वदनीय हैं जब तीर्थंकर गर्भमें आये थे, तब सम्यक्त्व धारी, तीनज्ञानसयुक्त शक्रेंद्र ने "नमोत्थुणं" देकर वंदन किया। ऋषभदेव भगवान् के शासन के साधु या श्रावक जब चौवीस्तव (लोगस्स) कहते थे, तब अजितादि २३ द्रव्य तीर्थंकरो को नमस्कार एवं वंदना करते थे, "नमोत्थुणं" के अन्त में पाठ है कि.—

जेअ अइया सिद्धा, जेअ भविस्संतिणागये काले।
संपइअ वट्टमाणा, सव्वे तिविहेण वन्दामि ॥

इसमें कहा गया है कि जो तीर्थंकर होगये हैं, और जो होने वाले हैं और जो वर्तमान मे विद्यमान हैं, इन सबको मन वचन, काया से नमस्कार करता हूँ। फिर भी आप तेरह पंथियों से तो अच्छे ही हो, क्योंकि तेरह पन्थी तो भगवान को चूका-बतलातेहैं, आप अवन्दनीय बतलाते हैं, कदाच आप शास्त्र में

---

* इसी खण्ड के पृष्ठ ११० से पाठ देखो

व्यक्तिगत नामोल्लेख के लिए ही कहते हो तो समझना चाहिये कि भगवान के दीक्षा लेने के बाद भी किसी साधु श्रावक का उन्हें वन्दना करने का उल्लेख नहीं मिलता है तो क्या आप भी भगवान को दीक्षा की अवस्था में अवन्दनीय ही मानते हैं ? क्योंकि आपकी दृष्टि से साधु श्रावक जितना भी गुण उस समय (दीक्षाऽवस्था मे) भगवान मे न होगा ? मित्रो ! अज्ञानता की भी कुछ हद हुआ करती है ।

प्र०—मूर्ति वन्दनीय है तो उसमे गुणस्थान कितना पावें ।

उ०—जितना सिद्धो मे पावें. क्योंकि मूर्ति भी तो सिद्धों की है । एवं जीवो के भेद योगादि भी जितने सिद्धो में है उतने ही मूर्त्ति में समझे ।

प्र०—श्रावक के १२ व्रत हैं, मूर्ति पूजा किस व्रत में है ?

उ०—मूर्ति पूजा, मूल सम्यक्त्व में है जिस भूमि पर १२ व्रत रूपी महल खड़ा है वह भूमि समकित है । आप बतलाइये, सम संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा आस्ता ये १२ व्रतो में से किस व्रत में है, यदि कहो कि १२ व्रतो मे तो नही है पर ये तो सम्यक्त्व के लक्षण हैं तो मूर्तिपूजा भी समकित को निर्मल करनेवाली व्रतो की माता है । मूर्तिपूजा का फल यावत् मोक्ष बतलाया है तब व्रतो का फल उत्कृष्ट बारहवां देवलोक (स्वर्ग) ही बताया है और समकित बिना व्रतों की कीमत भी नहीं है । जैनमूर्ति नही माननेवाले लोग मांसमदिरादि भक्षक, भैरूं भवानी यक्षादिदेव और पीरपैगम्बर आदि देवों को वन्दन पूजन कर शिर झुकाते हैं, यही उनकी अधिकता है ।

प्र०—यह तो हमारा संसार खाता है ?

उ०—क्या संसार खाता समझ मिथ्यात्व सेवन करने पर कर्म नहीं बंधता है ? अवश्य बंधता है फिर भी मैं पूछता हूँ कि आपको यह किसने समझाया कि संसार खाता में मिथ्यात्व सेवन की भी तुम्हे छूट है हाँ कई मायाचारी व्यापारी इन्कमटेक्स की चोरी करने के लिये इस प्रकार दो खाते रखते होंगे। जैसे एक सरकार को दिखाने को दूसरा निज हिसाब को। पर जब इस बात का ज्ञान सरकार को होता है तब उस दो खाते वाले का क्या हाल होता है कभी आपका ही यह हाल तो न होगा जरा खयाल करिये।

प्र०—पत्थर की गाय की पूजा करने पर क्या वह दूध दे सकती है ? यदि नहीं तो फिर पाषाण की मूर्त्ति कैसे मोक्ष दे सकती है ?

उ०—हां। जैसे मूर्त्ति मोक्ष का कारण है वैसे ही पत्थर की गाय भी दूध का कारण हो सकती है, जैसे "किसी मनुष्य ने पत्थर की गाय देखी उससे उसको असली गाय का भान जरूर होगया कि गाय इस शकल की होती है फिर वह एक समय जंगल में भूखा प्यासा भटक रहा था और उसने जंगल में एक चरती हुई गाय देखी, वह झट उस पूर्व दृष्ट ज्ञान से उसका दूध निकाल अपनी भूँख, प्यास, को बुझा सकता है, क्या यह पत्थर की गाय का प्रभाव नहीं है ?। मित्रो आखिर तो नकली से ही असली का ज्ञान होता है जैसे छठे गुणस्थान प्रमादावस्था नकली साधु है पर आगे चलकर वह ही तेरहवें गुणस्थान पहुँच सकता है।

प्र०—क्या पत्थर का सिंह प्राणियों को मार सकता है

उ०—हाँ पत्थर का सिंह भी मार सकता है ?। इतना ही

नहीं पर पत्थर का सिंह देखने वाला अपनी जान भी बचा सकता है। यों समझिये कि यदि किसी ने पत्थर के सिंह से वास्तविक सिंह का ज्ञान प्राप्त कियां हो और वह फिर जगल में चला जाय और वहाँ उसे असली सिंह मिल जाय तो वह शीघ्र वृक्षादि पर चढ़ अपने प्राण बचा सकता है, अन्यथा नहीं बचा सकता। देखा पत्थर का प्रभाव ?। इस पत्थर उपासना से आप भी तो नहीं बचे है देखिये आपके साधु हर्षचंदजी की गीरीग्राम में पाषाणमय मूर्त्ति और ताराचंदजी की सादड़ी में पाषाणमय मूर्त्ति हैं वे क्यों बनाई गई हैं कारण तो यही होगा कि वे आपके उपकारी हैं उनकी मूर्त्तियों के दर्शन और पूजाभक्ति से आपका हृदय निर्मल और कृतज्ञ बनता होगा या कोई अन्य कारण हैं यदि पूर्वोक्त कारण ही है तो उनसे भी महान् उपकारी तीर्थंकरों की मूर्त्तियों मानने पूजने मे आपको शर्म या लज्जा क्यों आती है ?

प्र०—एक विधवा औरत अपने मृत पति का फोटू पास में रखके प्रार्थना करे कि स्वामिन् ! मुझे सहवास का आनन्द दो तो क्या फोटू आनन्द दे सकता है ?

उ०—इसका उत्तर जरा विचारणीय है, जैसे विधवा अपने मृत पति का फोटू अपने पास रख उससे भौतिक आनन्द की आकांक्षा रखती है परन्तु उसे कोई आनन्द नहीं मिलता, कारण भौतिक आनन्द देने में भौतिक देह के अस्तित्व की आवश्यकता है और वह देह इस समय है नहीं। उसका अधिष्ठाता उसका प्राण-वायु और वह शरीर इस समय है नहीं फिर उसे आनन्द कहाँ से मिले ?

अस्तु ! आपका तो मूर्त्ति से द्वेष मालूम होता है इसी से

आप ऐसा प्रश्न करते हैं नहीं तो माला तो आप भी हमेशा फेरते हो और इससे आत्म-कल्याण की भावना रखते हो, ऐसे विधवा भी यदि हाथ में माला ले अपने पति के नाम को रटे तो क्या उस स्मरण मात्र से उसका पति उस विधवा की इच्छाएँ पूर्ण कर सकता है ? कदापि नहीं। तब माला लेना और फेरना भी व्यर्थ हुआ। सज्जनों नाम लेने में तो एक नाम निक्षेप ही है पर मूर्त्ति में नाम और स्थापन दोनो निक्षेप विद्यमान हैं, इसलिये नाम रटने की अपेक्षा मूर्त्ति की उपासना अधिक फलदायक है, क्योंकि मूर्त्ति में स्थापना के साथ नाम भी आ जाता है। जैसे आप किसी को यूरोप की भौगोलिक स्थिति मुँहजबानी समझाते हैं परन्तु समझाने वाले के हृदय मे उस वक्त यूरोप का हूबहू चित्र चित्त में नहीं खिंच सकेगा जैसा कि आप यूरोप का लिखित मानचित्र (नक़शा) उसके सामने रख उसे यूरोप की भौगोलिक स्थिति का परिचय करा सकेंगे। इससे सिद्ध होता है कि केवल नाम के रटने से मूर्ति को देख कर ही नाम का रटना विशेष लाभदायक है।

प्र०—जब आप मूर्ति को पूजते हो तब मूर्ति के बनाने वाले को क्यों नहीं पूजते ?

उ०—आप अपने, पूज्यजी को वन्दना करते हो, परन्तु उसके गृहस्थावस्था के माता पिता जिन्होंने उनका शरीर गढ़ा है वन्दना क्यों नहीं करते हो ? पूज्यजी से तो उनको पैदा करने वाले आपके मतानुसार अधिक ही होंगे। क्यों ठीक है न।

प्र०—मूर्ति सिलावट के यहां रहती है तब तक आप उसे नहीं पूजते और मन्दिर मे प्रतिष्ठित होने के बाद उसे पूजते हो इसका क्या हेतु है ?

उ०—आप वैरागी को दीक्षा देते हैं दीक्षा लेने के पूर्व तो उसे कोई वन्दना नहीं करता और दीक्षा लेने के बाद उसी वक्त वन्दना करने लग जाते हो तो क्या दीक्षा आकाश मे घूमती थी, जो एकदम वैरागी के शरीर मे घुस गई कि वह वन्दनीक बन गया ?

प्र०—उनको (वैरागी को) तो सामायिक का पाठ सुनाया जाता है इससे वे वन्दनीय हो जाते हैं।

उ०—इसी तरह मूर्ति की भी मंत्रो द्वारा प्राण प्रतिष्ठा की जाती है जिससे वह भी वन्दनीय हो जाती है।

प्र०—सिलावट के घर पर रही, नई मूर्ति की आप आशातना नहीं टालते और मन्दिर में आने पर उसकी आशातना टालते हो इसका क्या कारण है ?

उ०—गृहस्थो के मकान पर जो लकड़ा का पाट पड़ा रहता है उस पर आप भोजन करते है, बैठते हैं, एवं अवसर पर जूता भी रख देते हैं परन्तु जब वही पाट साधु अपने सोने के लिए ले गए हो तो आप उसकी आशातना टालते हो। यदि अनुपयोग आशातना हो भी गई हो, तो प्रायश्चित लेते हो। इसका क्या रहस्य है ?। जो कारण तुम्हारे यहाँ है वह हमारे भी समझ लीजिए। मूर्ति की प्राणप्रतिष्ठा होने से उसमे दैवी गुणो का प्रादुर्भाव होता है।

प्र०—पाषाण मूर्ति तो एकेन्द्रिय होती है उसकी, पाँचेन्द्रिय मनुष्य पूजन करके क्या लाभ उठा सकते हैं ?

उ०—ऐसा कोई मनुष्य नहीं है कि वह पत्थर की उपासना करता हो कि हे पाषाण ! मुझे संसार सागर से पार लगाइए,

किन्तु वे तो मूर्ति में प्रभुगुण आरोपण कर एकाग्रचित्त से उसी प्रभु की उपासना व प्रार्थना करते हैं। "नमोत्थुणं" कहकर परमात्मा के गुणों का स्मरण करते हैं। पर सूत्रों के पृष्ट भी जड़ हैं, आप उन जड़ पदार्थ से क्या ज्ञान हासिल कर सकते हैं ? । यदि कर सकते हैं तो यह भी स्वतः समझ लीजिए।

प्र०—मन्दिर तो बारहवर्षी दुष्काल मे बने हैं, अतएव यह प्रवृत्ति नई है।

उ०—बारहवर्षी दुष्काल कब पड़ा था आपको यह मालूम है ?

प्र०—सुना जाता है कि आज से १००० वर्ष पहले बारह-वर्षी काल पड़ा था।

उ०—सुना हुआ ही कहते हो या स्वयं शोध खोज करके कहते हो। महरबान ! ज़रा सुनें और सोचें, देखिये पहला बारह वर्षी काल चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु स्वामी के समय पड़ा था, जिसे आज २३०० वर्ष के करीब होते हैं। और दूसरा बारहवर्षी काल दशपूर्वधर वज्रस्वामी के समय मे पड़ा, इसे करीब १९०० वर्ष होते हैं। आपके मताऽनुसार बारहवर्षी दुकाल में ही मन्दिर बने यह मान लिया जाय तो पूर्वधर श्रुत केवलियों के शासन मे मन्दिर बने और उसका अनुकरण २३०० वर्षों तक धर्मधुरंधर आचार्यों ने किया और करते है तो फिर लौकाशाह को कितना ज्ञान था कि, उन्होंने मंदिर का खण्डन किया और उन्होंने पूर्व आचार्यों का अपमान किया। मित्रो मंदिरो की प्राचीनता सूत्रों में तो हैं ही। पर आज विद्वान लोग इतिहास के अन्वेषण से मन्दिरों के अस्तित्व को प्रभु महावीर के समय विद्यमान होना

बताते है। देखिये (१) उड़ीसा प्रांत की हस्तीगुफा का शिलालेख जिसमें महामेघवाहन, चक्रवर्ती, राजा खारवेल, जिसने "अपने पूर्वजों के समय मगध के राजा नंद, भगवान् ऋषभदेव की जो मूर्ति ले गए थे उसे वापिस ला आचार्यसुस्थीसूरि से प्रतिष्ठा कराई। यह मूर्ति राजा श्रेणिक ने बनाई थी। (२) विशाला नगरी की खुदाई से जो मूर्तियों के खण्डहर निकले हैं, उन्हे शिल्पशास्त्रियों ने २२०० वर्ष के प्राचीन स्वीकार किये हैं। और (३) मथुरा के कंकाली टीला को अंग्रेजों ने खुदवाया, उसमें जैन बौद्ध और हिंदू मंदिर मूर्तियों के प्रचुरता से भग्नाऽवशेष प्राप्त हुए हैं, उनपर शिलाक्षरन्यास भी अंकित हैं, जिनका समय विक्रम पूर्व दो तीन शताब्दी का है। आबू के पास मुण्डस्थल नामका तीर्थ है वहाँ का शिलालेख प्रगट करता है कि वहां महावीर अपने छद्मस्थपने के सातवें वर्ष पधारे थे उसी समय वहाँ पर राजा नन्दीवर्धन ने मंदिर बनाया (५) कच्छ भद्रेश्वर में वीरात् २३ वर्ष बाद का मदिर है जिसका जीर्णोद्धार दानवीर जगडुशाह ने कराया। (६) ओशियों और कोरण्टा के मंदिर वीरात् ७० वष बाद के हैं जो आज भी विद्यमान हैं। क्या इस ऐतिहासिक युग में कोई व्यक्ति यह कह सकता है कि मंदिर बनाने की प्रारंभिकता को केवल १००० वर्ष ही हुए हैं? कदापि नहीं। यदि आपको इनसे भी विशेष प्रमाण देखने की इच्छा हो तो, देखो मेरी लिखी "मूर्ति पूजा का प्राचीन इतिहास" नामक पुस्तक।

प्र०—यह भी सुना जाता है कि मंदिर मार्गियों ने मंदिरों में

---

* विस्तार देखो प्रकरण पांचवाँ।

धामधूम, और आरंभ बहुत बढा दिया, इस हालत में हम लोगों ने मंदिरों को बिलकुल छोड़ दिया ?

उ०—शिर पर यदि बाल बढ़ जाय तो क्या बालों के बदले शिर को ही उड़ा देना योग्य है ? यदि नहीं तो फिर मन्दिरों में आरम्भ बढ़ गया तो आरम्भ और धाम-धूम नहीं करने का उपदेश देना था, पर मन्दिर मूर्तियों का ही इनके बदले निषेध करना तो बालों के बदले शिर काटना ही है फिर भी जब शीतकाल आता है तब सभी जन विशेष वस्त्र धारण करते हैं। इस प्रकार जब आडम्बर का काल आया तब धामधूम (विशेष भक्ति) बढ़ गई तो क्या बुरा हुआ ? और यह अनुचित ही था तो इसे उपदेशो द्वारा दूर करना था नकि मन्दिरो को छोड़ना। धामधूम का जमाने ने केवल मन्दिरों पर ही नहीं परन्तु सब वस्तु पर समान भाव से प्रभाव डाला है। आप स्वयं सोचें कि आरम्भसे डरने वाले लोगों के पूज्यजी आदि स्वयं बड़े बड़े शहरों में चतुर्मास करते हैं, तो उनके दर्शनार्थी हजारों भावुक आते हैं। उनके लिये चन्दा कर चाका खोला जाता है। रसोईये प्रायः विधर्मी ही होते हैं, नीलण, फूलण और कीड़ों वाले छांणे (कण्डे) और लकड़िये जलाते हैं। पर्यूषणों में खास धर्माऽऽराधन के दिनो मे बड़ी २ भट्टिये जलाई जाती हैं। दो दो तीन तीन मण चावल पकाते हैं। जिनका गरमा गरम (अत्युष्ण) जल भूमि पर डाला जाता है जिससे असंख्य प्राणी मरते हैं बताइये क्या आपका यही परम पुनीत अहिंसा धर्म है ? हमारे यहां मन्दिरों में तो एकाध कलश ठंडा जल, और एकाध धूपबत्ती काम मे ली जाती हैं उसे आरम्भ २ के नाम पुकारते हो और घर का पता ही नहीं। यह अनूठा न्याय

को किसने सिखाया ? साधु हमेशा गुप्त तप और पारणा करते हैं पर आज तो अहिंसा के पैगम्बर तपस्या के प्रारम्भ में ही पत्रों द्वारा जाहिर करते हैं कि अमुक स्वामीजी ने इतने उपवास किये अमुक दिन पारणा होगा इस सुअवसर पर सकुटुम्ब पधार कर शासन शोभा बढावें। इस पारणा पर सैंकड़ों हजारो भावुक एकत्र हो बड़ा आरंभसारंभ कर स्वामीजीका माल लूट जाते हैं। इसका नाम धामधूम है या भक्ति की ओट में आरम्भ है ? ऐसे अनेक कार्य हैं कि जिनमे मूर्तिपूजको से कई गुणा धामधूम और आरंभ होता है जरा आंख उठा के देखो आप पर भी जमाने ने कैसा प्रभाव डाला है ?

प्र०—इसको तो हम संसारखाता समझते हैं ?

उ०—क्या दर्शनार्थी लोग बारात या मुकाण ओसर (मरणान्ते, समवेदना सूचक मिलन)पर आए हैं कि जिसे आप संसार खाता बतलाते हैं। हम तो आपसे यह पूछते है कि यदि पूज्यजी का चतुर्मास न होता तो यह आरंभ होता या नहीं ? यदि नहीं होता तो अब इसमे पूज्यजी निमित्त कारण हुए या नही ? आप अपने स्वधर्मी भाइयो का स्वागत करते हो, इसमें पुण्य मानते हो या पाप ?। यदि पाप मानते हो तो इसका पश्चात्ताप कर कहना चाहिये कि आज हम पाप में डूब गये, फिर तो तेरहपन्थी और आपकी श्रद्धा मे कोई भेद ही नहीं है और पुण्य समझते हो तो मन्दिरों की सेवा पूजा और आपके इस कृत्य मे कोई फरक नहीं है। फिर गुड़ खाना और गुलगुलो से परहेज रखना यह आपकी कोरी प्रवञ्चना (माया-कपटता) नहीं तो और क्या है ?। हमने जो यह चतुर्मास का जिक्र किया है, यह तो मात्र एक उदाहरण

है नहीं तो आडम्बर, आरम्भ, और धामधूम से आप भी बिल्कुल बेदाग नही बच सके हो किन्तु उससे सराबोर ही हो। देखिये जिस स्वामिवात्सल्य और प्रभावना की आपके समाज में एक दिन तीव्र निन्दा की जाती थी; उनको आज प्रोत्साहित करते हो; और जिन मन्दिर मूर्तियों के बनाने मे पाप समझते होआज आप भी वे आलीशान स्थानक, और पौषधशाला बनाने मे, साधुओं के फोटू उतारने में पुस्तक छपवाने मे आरंभ के होते हुए भी पुण्य एवं सत्कार्य समझने लगे हो। और पूर्वोक्त कार्यों मे द्रव्य देने वालो को लंबे चौड़े विशेषणो से भाग्यशाली और पुण्योपार्जन करने वाले कहते हो जिन्हे कि (सुकृत कार्य मे द्रव्य व्यय करने वालो को) तुम स्वयं पाप कार्य कहते थे, जैसे कि आज तेरह पन्थी बता रहे हैं परन्तु सज्जनो इस आडम्बर से तेरहपन्थी भी नही बच सके हैं, इनके पूज्यजी के चातुर्मास मे कितना आरंभ होता है यह सब जानते हैं। माघ शुक्ल ७ को जहां कही पूज्यजी होते हैं वहाँ हजारों आदमी आते हैं। आरंभ करते हैं हजारों रुपये रेलवे किराया के देते हैं। उन पैसो से पञ्चेन्द्रिय जीवो तक की हिंसा होती है। क्या स्वामी भीखमजी ने किसी भक्त को नियम दिलाया था कि, साल मे एक बार पूज्यजी का दर्शन अवश्य करना ? जो तेरहपन्थी आज कर रहे हैं। अभी संवाद मिला है कि गंगापुर में तेरहपन्थी पूज्य कालूरामजी का देहान्त हुआ उस समय हजारो रुपये खर्च किए इतना ही क्यों पर उस पूज्यजी के मृत शरीर (यानी मिट्टी) की सोना चादी के फूलो से पूजा की और उनके दाह स्थान पर चौतरा बनाया क्या यह मूर्तिपूजा का रूपान्तर नहीं है। ? तेरहपन्थी लोग अपने स्वधर्मी भाइयों को,

भोजन करवाने में महा पाप समझते हैं क्योंकि वह भोजन करने के बाद आरंभादि करेगा यह सब पाप भोजन करानेवाले को लग जाता है जब पूज्यजी के मृत शरीर के ऊपर हजारों रुपयों की उछाल की वे कई अनार्य व मुसलमानों के हाथ आये वे बकरा मारेंगे, उनका पाप पूज्यजी को ही लगेगा या उछाल करने वालों को। फिर भी इस आरम्भ और महापाप के कार्य में भी अपने धर्म की उन्नति समझना क्या बतलाता है इसको जरा सोचें समझें। कहने का तात्पर्य यह है कि आरम्भ आडम्बर तो समयाऽनुसार आज सर्वत्र बढ रहा है फिर मन्दिर मूर्तियों पर ही कटाक्ष क्यो ? पहिले घर की आग बुझा लो बाद में दूसरों की बुझाना उचित है। मन्दिरो में तो सेवा, पूजा, भक्ति, वरघोड़ा आदि सदैव से होते ही आए हैं। पर मन्दिर नही मानने वाले और रूखी दया दया की पुकार करनेवालों मे मन्दिरो से भी कई गुणा विशेष आरभ आडम्बर बढ़ गया है, और न जाने भविष्य में फिर कितना बढ़ेगा, क्या यह जमाने का प्रभाव नहीं है ?

प्र०—यह तो ठीक परन्तु यदि लौंकाशाह का कहना सत्य नहीं होता तो उसका "मत" कैसे चल गया ? ।

उ०—भद्रिक जनता मे मत का चल पड़ना कौन बड़ी बात है। केवल मत चल जाने से ही उनकी सत्यता नही समझी जा सकती। क्योकि यदि मत चलनेका प्रमाण सत्यता ही है तो दया, दान की जड़ काटने वाले तेरह पंथियों को भी सच्चा मान लो कारण मत तो उनका भी चल गया। हिन्दू धर्म मे आज ७०० मत (पन्थ) हैं, जिसमें एक कुण्डापन्थियों का भी मत है क्या यह

भी सच्चा है ? क्या मत चलने से ही उनकी सत्यता जानी जाती है ? कदापि नहीं। जितने अलग अलग मत निकले हैं इनमें अधिकांश अज्ञानियों के ही निकाले हुए हैं न कि विद्वानों के। क्योंकि विद्वान् कभी अलग मत नहीं निकालते। जब हम लौंकाशाह की ओर देखते हैं तो पता चलता है कि लौंकाशाह न तो विद्वान् थे और न उनमें इतनी योग्यता ही थी। आज पर्यन्त भी लौंकाशाह का कोई भी ग्रन्थ, ढाल, चौपाई, स्तवन, या मूर्त्तिखण्डन-विषयक साहित्य ढूंढने से भी उपलब्ध नहीं हुआ है। कई एक लोग कहा करते हैं कि लौंकाशाह ने सूत्रों की दो दो प्रतिएं लिख कर, एक एक यतिजी को दी, और एक एक अपने पास रक्खी। इस प्रकार बत्तीस सूत्र लिखे, और इन्हीं सूत्रों से यह मत चलाया, पर इसमें कोई प्रमाण नहीं मिलता, कारण हजारों वर्ष के पुराणे ग्रन्थ मिलते हैं, तब लौंकाशाह को तो केवल ४५० वर्ष ही बीते हैं। उन्होंने ३२ सूत्र यतिजी को दिए और ३२ अपने पास रक्खे, परन्तु उसमें का आज एक पन्ना भी प्राप्त नहीं होता। तो केवल इसे कल्पना के सिवाय और क्या कहा जा सकता है ? लौंकाशाह ने यदि कारणविशेष से अपमानित हो, नया मत निकाला भी परन्तु उसकी नींव बहुत कमजोर थी, जिससे उसके १०० वर्ष के बाद ही पूज्य मेघजी स्वामी ने ५०० पाँचसौ साधुओं के * साथ जगत्पूज्य आचार्य हीरविजयसूरि के चरणों में आकर जैन-दीक्षा स्वीकार की, बाद में लौंकों के श्रीपूज्य या साधु भी अपने उपाश्रयों में मूर्त्तियों की स्थापना कर सेवा, भक्ति, एवं पूजा करने लग गए, वह पद्धति आज तक भी चालू है। जोधपुर, बीकानेर,

फलोदी आदि स्थानों मे जहां लौंको के उपाश्रय हैं, वहां मूर्त्तिएं अवश्य हैं। बाद विक्रम सम्वत् १७०८ में लौंका के यति लवजी ने, मुंहपर दिन भर मुंहपत्ती बाध कर ढूंढिया पन्थ चलाया, जिसे आज हम स्थानकवासी कहते हैं, पर इसके अन्दर से भी सैकड़ों साधु सूत्रो का संशोधन कर, असत्य को त्याग कर संवेग दीक्षा ले मूर्ति के उपासक बने, जिनमें स्वामी बूटेरायजी, आत्मारामजी, मूलचन्दजी, वृद्धिचन्द्रजी, आदि विशेष प्रख्यात हैं। आज भी कई लिखे पढ़े स्थानकवासी साधु यद्यपि अपने मत को तो नहीं छोड़ सकते पर मूर्त्ति के विषय में तटस्थ भाव रखते हैं, और जमाने को लक्ष्य में रख, (संवेगी तथा स्थानकवासी) एक पाट पर बैठ व्याख्यान देते हैं। इस हालत मे भी स्वच्छन्द, अल्पज्ञ और निरंकुशों की समाज में कमी नही जो मौके बेमौके खण्डनाऽऽत्मक साहित्य प्रकट कर शान्त समाज में फूट का गरल (विष) वमन कर बैठते हैं, और शांत समाज में क्लेश फैलाते हैं, इतना ही नही पर देखा जाय तो जैन जाति को पतन के गर्त्त में गिराने का भी श्रेय इन्ही को ही है।

प्र०—कई लोग जब खण्डन करते हैं तब दूसरे उसका मण्डन करते हैं, यों तो दोनों समान ही हुए ?

उ०—जो लोग खण्डन करते हैं उनमे न तो शास्त्रीय प्रमाण हैं और न इतिहास के प्रमाण हैं, केवल मनगढ़न्त कुयुक्तियाँ लगाकर भद्रिक लोगोंको भ्रम में डाले, उसे सद्धर्म से पतित बनाते हैं, ऐसी दशा में हमारा कर्त्तव्य है कि हम शास्त्र, इतिहास, एवं युक्ति द्वारा सत्य वस्तुका दिग्दर्शन करवाके, पतनोन्मुखी भद्र जनता को गर्त्त में गिरने से बचावें। आप ही सोचिये जब खण्डन

होता है तभी उसके मण्डन की जरूरत रहती है फिर दोनों समान कैसे हैं ?

प्र०—यदि मन्दिर, मूर्त्ति, शास्त्र एवं इतिहास प्रमाणों से सिद्ध है तो फिर स्थानकवासी खण्डन क्यों करते हैं ? क्या इतने बड़े समुदाय में कोई आत्मार्थी नहीं है कि जो उत्सूत्र भाषण कर वज्रपाप का भागी बनता है ?

उ०—यह निश्चयात्मक नहीं कहा जा सकता है कि किसी समुदाय में आत्मार्थी है या नहीं। पर इस सवाल का उत्तर आपही दीजिये कि दया दान में धर्म्म व पुण्य, शास्त्र, इतिहास और प्रत्यक्ष प्रमाणों से सिद्ध हैं पर तेरहपन्थी लोग इसमें पाप होने की प्ररूपणा करते हैं क्या इतने समुदाय में कोई भी आत्मार्थी नहीं है कि खुले मैदान में उत्सूत्र प्ररूपते हैं जैसे आप तेरहपन्थियों को समझते हैं वैसे ही हम आपको समझते हैं आपने मूर्त्ति नहीं मानी, तेरहपन्थियों ने दया दान नहीं माना, पर उत्सूत्र रूपी पापके भागी दोनों समान ही हैं और स्थानकवासी एवं तेरह पन्थियोंमें जो आत्मार्थी हैं वे शास्त्रोंद्वारा सत्य धर्म की शोध करके असत्यका त्यागकर सत्यको स्वीकार कर ही लेते हैं ऐसे अनेक उदाहरण विद्यमान हैं कि स्थानकवासी तेरहपन्थी सैकड़ो साधु संवेग दीक्षा धारणकर मूर्ति उपासक बन गये और बनते जा रहे हैं।

प्र०—स्थानकवासी और तेरहपन्थियों को आपने समान कैसे कह दिया कारण तेरहपन्थियोंका मत तो निर्दय एवं निकृष्ट है कि वे जीव बचाने में या उनके साधुओंके सिवाय किसीको

भी दान देने में पाप बतलाते हैं इनका मत तो वि० सं० १८१५ में भीखमजी स्वामी ने निकाला है।

उ०—जैसे तेरहपन्थियों ने दया-दानमे पाप बतलाया वैसे स्थानकवासियो ने शास्त्रोक्तमूर्तिपूजाहोने पर भी उसकी पूजा मे पाप बतलाया जैसे, तेरहपन्थी समाजको वि० संवत् १८१५ में भीखमजी ने निकाला वैसे ही स्थानकवासी मत को भी वि० संवत् १७०८ मे लवजीस्वामीने निकाला। बतलाइये उत्सूत्र प्ररूपणा में स्थानकवासी और तेरहपन्थियो मे क्या असमानता है ? हाँ! वर्तमान में दया-दान के विषय में हम और आप (स्थानकवासी) एक ही हैं।

प्र०—जब आप मूर्तिपूजा अनादि बतलातेहो तब दूसरे लोग उनका खण्डन क्यो करते है ? ।

उ०—जो विद्वान् शास्त्रज्ञ हैं वे न तो मूर्ति का खण्डन करते थे और न करते हैं। बल्कि जिनमूर्तिपूजक आचार्यों ने बहुत से राजा, महाराजा व क्षत्रियादि अजैनो को जैन-ओसवालादि बनाये, उनका महान् उपकार समझते हैं और जो अल्पज्ञ या जैनशास्त्रो के अज्ञाता हैं वे अपनी नामवरी के लिए या भद्रिक जनता को अपने जाल में फँसाए रखने को यदि मूर्ति का खण्डन करते हैं तो उनका समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है ? कुछ नहीं। उनके कहने मात्र से मूर्ति माननेवालो पर तो क्या पर नही-मानने वालों पर भी असर नही होता है। वे अपने ग्राम के सिवाय बाहर तीर्थों पर जाते हैं वहाँ नि.शंक सेवा पूजा करते हैं और उनको बड़ा भारी आनन्द भी आता है। फिर भी उन लोगो के खण्डन से हमको कोई नुकसान नही, पर एक। किस्म से लाभ ही हुआ है

ज्यो ज्यो वे कुयुक्तियो और असभ्यता पूर्वक हलके शब्दो मे मूर्ति की निन्दा करते है त्यों त्यो मूर्तिपूजको की मूर्ति पर श्रद्धा दृढ़ एवं मजबूत होती जा रही है। इतना ही नहीं पर किसी जमाने में सदुपदेश के अभाव से भद्रिक लोग मूर्तिपूजा से दूर रहते थे वे भी अब समझबूझ कर मूर्ति उपासक बन रहे हैं जैसे—आचार्य विजयानन्दसूरि (आत्मारामजी) का जोधपुर में चतुर्मास हुआ उस समय मूर्तिपूजक केवल १०० घर ही थे पर आज ६००—७०० घर मूर्तिपूजको के विद्यमान हैं। इसी प्रकार तीवरी गॉव में एक घर था आज ५० घर हैं, पीपाड़ में नाम मात्र के मूर्तिपूजक समझे जाते थे आज बराबर का समुदाय बन गया, बीलाड़ा में एक घर था आज ४० घर हैं, खरिया में सवेगी साधुओ को पावं पानी भी नही मिलता था आज बराबरी का समुदाय दृष्टिगोचर हो रहा है इसी भांति जैतारण का भी वर्तमान हैं। रूण मे एक भी घर नही था आज सबका सब ग्राम मूर्तिपूजक है, खजवाना में एक घर था आज ५० घरो में २५ घर मूर्तिपूजने वाले हैं कुचेरा में ६० घर हैं। बड़े-बड़े शहर तथा नगरों में तो और भी विशेष जागृति हुई है और मेवाड़ मालवादि में भी छोटे-बड़े ग्रामों में मन्दिर मूर्तियो की सेवा-पूजा करने वाले सर्वत्र पाये जाते हैं जहां मन्दिर नहीं थे वहाँ मन्दिर बन गये, जहाँ मन्दिर जीर्ण होगये थे वहाँ उनका जीर्णोद्धार हो गया। जो लोग जैन सामायिक प्रतिक्रमणादि विधि से सर्वथा अज्ञात थे वे भी आपनी विधि विधान से सब क्रिया करने में तत्पर हैं। मेहरबानो यह आपकी खण्डन प्रवृत्ति से ही जागृति हुई है।

आत्म-बन्धुओं! जमाना बुद्धिवाद का है जनता स्वयं अनु-

अब से समझने लग गई कि हमारे पूर्वजों के बने बनाये मन्दिर हमारे कल्याण के कारण हैं वहाँ जाने पर परमेश्वर का नाम याद आता है। ध्यान-स्थित शान्त मूर्ति देख प्रभु का स्मरण हो आता है जिससे हमारी चित्त-वृत्ति निर्मल होती है वहाँ कुछ द्रव्य चढ़ाने से पुण्य बढ़ता है पुण्य से सर्व प्रकार से सुखी हो सुखपूर्वक मोक्षमार्ग साध सकते हैं! अब तो लोग अपने पैरो पर खड़े हैं। कई अज्ञ साधु अपने व्याख्यान में जैनमंदिर मूर्तियों के खण्डन विषयक तथा मन्दिर न जाने का उपदेश करते हैं तो समझदार गृहस्थ लोग कह उठते हैं कि महाराज पहिले भैरूं भवानी पीर पैगम्बर कि जहाँ मांस मदिरादि का बलिदान होता है त्याग करवाइये। आपको झुक-झुक के वन्दन करनेवालियों के गले में रहे मिथ्यात्वी देवों के फूलों को छुड़वाइये। चौरी, व्यभिचार, विश्वासघात, धोखावाजी आदि जो महान् कर्म वन्ध के हेतु हैं इनको छुड़वाइये। क्या पूर्वोक्त अनर्थ के मूल कार्यों से भी जैन मन्दिर में जाकर नवकार व नमोत्थुणं देने मे अधिक पाप है कि आप पूर्वोक्त अधर्म कार्यों की उपेक्षा कर जैन मन्दिर मूर्तियाँ एवं तीर्थ यात्रा का त्याग करवाते हो। महात्मन्! जैनमन्दिर मूर्तियों की सेवा भक्ति छोड़ने से ही हम लोग अन्य देवी देवताओ को मानना व पूजना सीखे हैं। वरन् नहीं तो गुजरातादि के जैन लोग सिवाय जैन मंदिरों के कहीं भी नहीं जाते हैं। उपदेशको से आज कई अर्सों से मंदिर नही मानने का उपदेश मिलता है पर हमारे पर इस उपदेश का थोड़ा ही असर नहीं होता है कारण हम जैन हैं हमारा जैनमंदिरो विना काम नही चलता है। जैसे—जन्मे तो मन्दिर, व्याहें तो मंदिर, मरें तो मन्दिर, अट्ठाई

आदि तप करें तो मन्दिर, आपद् समय अधिष्ठायक देव को प्रसन्न करें तो मंदिर, संघ पूजा करें तो मंदिर, संघ पूजा देवें तो मंदिर, दीपमालकादि पर्व दिनों में मंदिर, पर्यूषणो मे मदिर तीर्थ-यात्रा में मन्दिर, इत्यादि मन्दिर बिना हमारा काम नहीं चलता है। भला वैष्णवो के रेवाड़ी, मुसलमानों के ताजिया, तो क्या जैनों के कुछ नहीं है। जैनियों के पूर्वज इतने कमजोर थे कि दुनियां की धर्म घोड़ से वे पीछे हैं? नहीं जब इतिहास देखते हैं तो यह स्पष्ट पाया जाता है कि उन लोगो ने खास कर जैनियों का ही अनुकरण किया है शास्त्रीय प्रमाण से देखा जाय तो सम्राट् कोणिक और दर्शनभद्र ने भगवान वन्दन के समय वर-घोड़ा चढ़ाया था वह ठाठ मानो एक इन्द्र की सवारी ही थी। इस हालत में जैनियों के खासाजी (वरघोड़ा) होना अनुचित है ? नहीं किन्तु अवश्य होना ही चाहिये। यदि जैनों के वरघोड़ा न हो तो बतलाइये हम और हमारे बाल-बच्चे किस महोत्सव में जावें ?। महाराज ! जिन लोगों ने जैनो को जैनमन्दिर छुड़वाया है उन्होने इतना मिथ्यात्व बढ़ाया है कि आज जैनियों के घरों में जितने व्रत वरतोलिये होते हैं वे सब मिथ्यात्वियो के ही हैं। हिन्दू देवी देवता को तो क्या ? पर मुसलमानो के पीर पैगम्बर और मसजिदादि की मान्यता पूजन से भी जैन बच नही सके हैं, क्या यह दुख की बात नहीं है ? क्या यह आपकी कृपा (?) का ही फल नहीं है ?। जहाँ संगठन और एकता का आन्दोलन होरहा हो वहां आप हमको किस कोटि में रखना चाहते हैं ?

प्र०—भला ! मूर्ति नहीं मानने वाले तो अन्य देवी देवताओं

के यहां जाते हैं पर मूर्त्ति मानने वाले क्यों जाते हैं।

उ०—जैन लोग जैन देवी देवताओं के सिवाय किसी अन्य देव देवियों की मान्यता व पूजा नहीं करते थे विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी तक मारवाड़ के तमाम जैनों का एक ही मूर्त्ति मानने का धर्म था वहां तक जैन अपनी प्रतिज्ञा पर अडिग थे बाद मूर्त्ति मानने नही मानने का भेद पड़ा। कई अज्ञ लोगों ने जैन मंदिरो को छोड़ा उस हालत में वे अन्य देव देवियों को जाकर शिर झुकाने लगे। और दोनों के जाति-व्यवहार एक (शामिल) होने से मूर्त्ति मानने वालो की लड़कियों मूर्त्ति नहीं मानने वालों को व्याही और मूर्त्ति नहीं मानने वालों की बेटियों, मूर्त्ति मानने वालों को दी। इस हालत में जैनियों के घरों में आई हुई स्थानकवासियों की बेटियों अपने पीहर के संस्कारों के कारण अन्य देव देवियों को मानने लगी इससे यह प्रवृत्ति उभयपक्ष में चल पड़ी तथापि जो पक्के जैन हैं वे तो आज भी अपनी प्रतिज्ञा पर डटे हुये हैं जो अपवाद हैं वह भी स्थानकवासियो की प्रवृत्ति का ही फल है तेरहपंथी तो इनसे भी नीचे गिरे हुए हैं।

प्र०—हमारे कई साधु तो कहते हैं कि मूर्त्ति नहीं मानना लौंकाशाह से चला है। तब कई कहते हैं कि हमतो महावीर की वंश परम्परा से चले आते हैं इसके विषय में आपकी क्या मान्यता है ?

उ०—जैनमूर्त्ति नहीं मानना यह मत लौंकाशाह से चला यह वास्तव में ठीक ही है। इस मान्यता को हाल ही में स्था० मुनि शोभागचंदजी ने जैन प्रकाश पत्र में "धर्मप्राण लौंकाशाह नाम की लेखमाला में भली भाँति सिद्ध कर दिया है" कि भग-

वान महावीर के बाद २००० वर्षों से जैन मूर्त्ति नहीं मानने वाला सबसे पहले लौंकाशाह ही हुआ पर जो लोग कहते हैं कि हम महावीर की वंश परम्परा से चले आते हैं और कल्पित नामो की पट्टावलियां भी बनाई हैं, पर वे इस ऐतिहासिक युग में मिथ्या ठहरती हैं कारण महावीर के बाद २००० वर्षों में केवली, चतुर्दश पूर्वधर, और श्रुतकेवली सैकड़ों धर्म धुरंधर महान् प्रभाविक आचार्य हुए। वे सब मूर्त्ति उपासक ही थे यदि उनके समय मे मूर्त्ति नहीं मानने वाले होते तो वे मूर्त्ति का विरोध करते पर ऐसे साहित्य की गन्ध तक भी नहीं पाई जाती है जैसे दिगम्बर श्वेताम्बर अलग हुए तो उसी समय उनके खण्डन मण्डन के ग्रन्थ बनगये पर मूर्त्ति मानने, नहीं मानने के विषय में वि० सं० १५०८ पहिले कोई भी चर्चा नहीं पाई जाती, इसी से यह कहना ठीक है कि जैन मूर्ति के उत्थापक सबसे पहिले लौंकाशाह ही हैं। यदि वीर परम्परा से आने का दावा करते हो तो लौंकाशाह के पूर्व का प्रमाण बतलाना चाहिये कारण जैनाचार्यों ने हजारो लाखों मंदिर मूर्तियों की प्रतिष्टा करवाई हजारो लाखों ग्रन्थों की रचना की, अनेक राजा महाराजाओं को जैन धर्म मे दीक्षित किये, ओसवालादि जातिएँ बनाईं इत्यादि। भला! एकाध प्रमाण तो वे ही बतलावें कि लौंकाशाह पूर्व हमारे साधुओ ने अमुक ग्रन्थ बनाया या उपदेश देकर अमुक स्थानक बनाया या किसी अजैनों को जैन बनाया। कारण जिस समय जैनाचार्य पूर्वधर थे उस समय मूर्ति नहीं मानने वाले सबके सब अज्ञानी तो नहीं होंगे कि उन्होने कोई ग्रन्थ व ढाल चौपाई कवित्त छन्द का एक पद भी नहीं रचा हो? बन्धुओ! अब जमाना यह नहीं

है कि चार दीवारों के बीच भोली भाली बहिनों के सामने कल्पित बात पर आप अपने को सच्चा समझलें। आज जमाना तो अपनी मान्यता का प्रामाणिक प्रमाणों द्वारा मैदान में सत्य बतलाने का है। क्या कोई व्यक्ति यह बतला सकता है कि लौंकाशाह पूर्व इस संसार में जैनमूर्त्ति नहीं मानने वाला कोई व्यक्ति था ? कदापि नहीं !

विशेष खुलासा देखो ऐतिहासिक नोंध की ऐतिहासिकता, नामक पुस्तक।

प्र०—भगवान् के फरमाये हुये सूत्र कितने हैं।

उ०—भगवान् ने सूत्र नहीं बनाये उन्होंने तो अर्थ रूपी देशना दी जिनको गणधरों ने द्वादशांगी अर्थात् १२ अंगों की रचना-संकलना की और इन १२ अंगो में सब लोकालोक का ज्ञान आजाता है।

प्र०—फिर यह क्यों कहा जाता है कि ३२ सूत्र भगवान् के फरमाये हुए हैं।

उ०—ऐसा किसी सूत्र में लिखा है ? या भोलों को भ्रम में डालने का धोखा है। क्योंकि यह कहीं पर नहीं लिखा है कि जैनों में ३२ सूत्रों को भगवान् ने कहा उनकी ही मान्यता है यदि ३२ सूत्रों को माना जाय तो इसमें नन्दी सूत्र भी शामिल है और नन्दीसूत्र में ७३ सूत्र और १४००० प्रकरण मानने का भी उल्लेख है। यदि ७३ सूत्रादि नही मानें तो ३२ सूत्र को भी नही माना जा सकता है फिर यह क्यों कहा जाय कि हम ३२ सूत्र मानते हैं स्थानायांग सूत्र में चार पन्नति सूत्र कहे हैं उसमें तीन को मानना और एक द्वीपसागरपन्नति सूत्र को नही मानना कहां का न्याय

है ? अब बत्तीस सूत्रों का हाल भी सुन लीजिये। ३२ सूत्रो मे ११ अंग तो गणधर कृत हैं पर शेष २१ सूत्र तो स्थविरो के बनाये हुये हैं। जब श्यामाचार्य कृत प्रज्ञापना सूत्रो को मानना और भद्रबाहु कृत निर्युक्ति को नहीं मानना यह अज्ञानता नही तो और क्या है ? यदि यही इरादा हो कि मूर्त्ति नहीं मानने के कारण ही ३२ सूत्र माने गये हैं तो ३२ सूत्रो के मूलपाठ मे मूर्त्ति विषयक बहुत उल्लेख हैं फिर अथाह ज्ञान का समुद्र छोड़ कर केवल ३२ सूत्रो को मानने का अर्थ क्या हुआ ? यदि ३२ सूत्र ही मानते हो तो मूलपाठ मानते हो या पञ्चाङ्गी सहित ?

प्र०—हम ३२ सूत्र मूलपाठ मानते हैं और मिलती हुई टीका वगैरह भी मानते हैं ?

उ०—मिलती का क्या अर्थ होता है ? जब एक वस्तु के सामने दूसरी वस्तु रक्खी जाती है तब मिलती, नहीं मिलती कही जा सकती हैं सो तो आपके पास कुछ है नहीं, फिर किससे मिलाके मानते हो ? सज्जनो ! आप जानते हो वृक्ष का मूल धूल में रहता है और शाखा प्रतिशाखा पत्र फल मे रस मिलता है इसी भाँति मूल सूत्र सूची मात्र है पर उनका भावार्थ पञ्चाङ्गी द्वारा ही समझा जाता है यदि आपका यही दुराग्रह है कि हम तो ३२ सूत्र मूल ही मानते हैं तो बतलाइये कि आपके माने हुए ३२ सूत्रों के मूल में

(१) स्याद्वाद "जो जैनियो का मूल सिद्धान्त है," का स्वरूप किस मूल सूत्र में है ?

(२) जैनयो की सप्तभंगी का अन्य समाज में बड़ा ही महत्व है जिसका वर्णन किस मूल सूत्र में है ?

(३) जिस चौबीसतीर्थंकरो को आप परमपूजनीय मानते हो उनका विस्तार पूर्वक जीवन किस मूल सूत्र मे है ?

(४) इस भांति चक्रवर्ती बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेवादि का जीवन किस मूल सूत्र मे है ?

(५) सामायिक प्रतिक्रमण व्रतोच्चारण अन्तिम आलोचना मृतसाधु के पीछे करने योग्य क्रियादि का विधि विधान किस मूल सूत्र में है ?

(६) बत्तीस मूल सूत्रो के मूल पाठ मे एक दूसरे से परस्पर विरोध के अनेक पाठ हैं। उसका समाधान किस मूल सूत्रो से कर सकोगे ?

(७) ऐसी सैंकड़ो बाते हैं कि ३२ सूत्रो के मूलपाठ से जिनका निर्णय हो ही नहीं सकता है देखो हमारी लिखी प्रश्नमाला नामक किताब। पञ्चाङ्गी और पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों के बिना न तो स्थानकवासियों का काम चलता है और न तेरहपन्थियो का। स्था० पू० जवाहरलालजी ने 'सद्धर्ममण्डन' नामक ग्रन्थ तेरहपन्थियों के खण्डन में बनाया है जिसमें टीका चूर्णि भाष्य को प्रमाणिक मान अपनी पुष्टि मे अनेक स्थानो मे प्रमाण दिया है। इसी भांति तेरहपंथियो ने अपने भ्रमविध्वंसन नामक ग्रंथ मे स्थानकवासियो का मतखंडन के विषय मे अनेक स्थानों पर टीका चूर्णि भाष्य को प्रमाणिक मान प्रमाण दिया है पर यह कितनी अज्ञानता एवं कृतघ्नता है कि जिन ग्रन्थों से अपना इष्ट सिद्ध करना और काम पड़ने पर उन्हीं ग्रन्थों का अनादर करना इसके सिवाय वज्रपाप हो क्या होता है ?

प्र०—आप भी तो ४५ आगम मानते हो ?

उ०—हम ४५ आगम के अलावा जितने सूत्र और पूर्वाचार्य रचित ग्रन्थादि हैं; सब मानते हैं परयह कभी आपने सुना है कि हमारे किसी विद्वान् ने यह कहा है कि अमुक ग्रंथ को हम नहीं मानते। अब ४५ आगम मानने का तात्पर्य भी सुन लीजिये। जैन साधु आगम पढ़ते हैं तब उनको योगद्वाहन (तपश्चर्या) करना पड़ता है। मजबूत संहनन वाले सब आगमों के योगद्वाहन कर सकते थे पर इस समय ऐसे संहनन नहीं है कि लगातार वर्षों तक तपश्चर्या कर सकें इस लिये योगद्वाहन ४५ आगम का ही रखा है पर इससे यह नहीं कहा जा सकती कि जैन ४५ आगम के अलावा शेष सूत्र ग्रन्थ नहीं मानते हैं।

प्र०—क्या ३२ सूत्रों में मूर्तिपूजा करने का उल्लेख है ?

उ०—यह तो हमने पहले से ही कह दिया था कि ऐसा कोई सूत्र नहीं है कि जिसमें मूर्ति का उल्लेख न हो। कदाचित् आपको किसी ने भ्रम डाल दिया हो कि ३२ सूत्रों में मूर्ति का बयान नहीं है तो सुन लीजिये।

(१) श्री आचारांग सूत्र दूसरा श्रुतस्कन्ध पन्द्रहवे अध्ययन में सम्यक्त्व की प्रशस्त भावना में शत्रुंजय गिरनारादि तीर्थों की यात्रा करना लिखा है (भद्रबाहु स्वामिकृत निर्युक्ति)

(२) श्री सूत्रकृतांग सूत्र दूसरा श्रुतस्कन्ध छटे अध्ययन में अभयकुमार ने आर्द्रकुमार के लिये जिनप्रतिमा भेजी जिसके दर्शन से उसको जाति स्मरण ज्ञान हुआ। (शी० टी०)

इन ३२ सूत्रों के मूर्त्तिपूजा विषयक पाठ देखो मेरा लिखा 'मूर्तिपूजा का प्राचीन इतिहास'।

(३) श्री स्थापनायांग सूत्र चतुर्थ स्थानक में नन्दीश्वर द्वीप में ५२ मन्दिरों का अधिकार है।

(४) श्री समवायांग सूत्र के सतरहवें समवाय मे जंघाचारण विद्याचारण मुनियों के यात्रा वर्णन का उल्लेख है।

(५) श्री भगवती सूत्र शतक३ उ० १ के चमरेन्द्रके अधिकार में मूर्ति का शरणा कहा है।

(६) श्री ज्ञात सूत्र अध्याय ८ में श्री अरिहन्तों की भक्ति करने से तीर्थंकर गोत्र बन्धता है तथा अध्याय १६ में द्रौपदी महासती ने १७ भेद से पूजा की है।

(७) श्री उपासक दशांग सूत्र में आनन्दाधिकार में जैन मूर्ति का उल्लेख है।

(८-९) श्री अन्तगढ़ और अनुत्तरोवाई सूत्र में द्वारिकादि नगरियो के अधिकार में उत्पातिक सूत्र के सदृश जैन मन्दिरों का उल्लेख है।

(१०) प्रश्न व्याकरण सूत्र तीसरे संवरद्वारमें जिन प्रतिमा की वयावच्च (रक्षण) कर्म निर्ज्जरा के हेतु करना बतलाया है।

(११) विपाक सूत्र में सुबाहु आदि ने तुंगिया नगरी के श्रावकों के समान जिनप्रतिमा पूजी है।

(१२) उत्पातिक सूत्र में चम्पा नगरी के मुहल्ले २ जैनमंदिर तथा अंबड़ श्रावक ने प्रतिमा का वन्दन करने की प्रतिज्ञा ली थी।

(१३) राजप्रश्नी सूत्र में सूरियाभदेव ने सत्रह प्रकार से जिन प्रतिमाओं की पूजा की है।

(१४) जीवाभिगम सूत्र में विजयदेव ने जिनप्रतिमा की पूजी की है ।

(१५) प्रज्ञापना सूत्र में ठवणा सच्च कहा है ।

(१६) जम्बुद्वीप प्रज्ञापति सूत्र में २६९ शाश्वत पर्वतों पर ९१ मन्दिर तथा जम्बुकदेव ने प्रतिमा पूजी । प्रभु आदीश्वर के निर्वाण के बाद उनकी चिता पर इन्द्र महाराज ने रत्नों के स्थूभ (चैत्य) बनाये ।

(१७) चन्द्र प्रज्ञापति सूत्र में चन्द्र विमानमें जिन प्रतिमा ।

(१८) सूर्य प्रज्ञापति सूत्र में सूर्य विमान में जिन प्रतिमा ।

(१९-२३) पांच निरयावलिका सूत्र में नगरादिअधिकार में जिन प्रतिमा ।

(२४) व्यवहारसूत्र उद्देशापहला आलोचनाधिकारे जिन प्रतिमा ।

(२५) दशश्रुत स्कन्ध सूत्र, राजगृह नगराधिकारे जिन प्रतिमा ।

(२६) निशीथ सूत्र जिन प्रतिमा के सामने प्रायश्चित लेना कहा ।

(२७) वृहत्कल्प सूत्र नगरियों के अधिकार में जिन चैत्य है ।

(२८) उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १० अष्टापद के मन्दिर, अध्याय १८ वां उदाइराजा की राणी प्रभावती के गृह मन्दिर का अधिकार, अध्ययन २९ में चैत्यवन्दन का फल यावत् मोक्ष बतलाया है ।

(२९) दशवैकालिक सूत्र जिन प्रतिमा के दर्शन से शय्यंभव भट्टको प्रतिबोध हुआ ।

(३०) नन्दीसूत्र में विशल नगरो में जिनचैत्य को महा प्रभाविक कहा है ।

(३१) अनुयोगद्वार सूत्र में चार निक्षेप का अधिकार में स्थापना निक्षेप में अरिहन्तो की मूर्ति अरिहन्तों की स्थापना कही है ।

(३२) आवश्यक सूत्र मे अरिहन्त चेइआणिवा तथा कित्तिय वंदिय महिया जिसमे कित्तिय वंदिय तो भाव पूजा और महिया द्रव्य पूजा कहा है ।

इन ३२ सूत्रो के अलावा भी सूत्रों में तथा पूर्वचार्यों के ग्रंथों में जिन प्रतिमा का विस्तृत वर्णन है पर आप लोग ३२ सूत्र ही मानते हैं इसलिये यहां ३२ सूत्रों मे ही जिन प्रतिमा का संक्षिप्त से उल्लेख किया है ।

प्र०—इसमें कई सूत्रो के आपने जो नाम लिखे हैं वहाँ मूलपाठ में नहीं पर टीका निर्युक्ति मे है वास्ते हम लोग नहीं मानते हैं ?

उ०—यह ही तो आपकी अज्ञानता है कि स्थविरों के रचे उपांगादि सूत्रो को मानना और पूर्वधरो की रची निर्युक्ति टीका नहीं मानना । भला पहले दूसरे सूत्रो के अलावा ३० सूत्रो के मूल पाठ में मूर्तिपूजा का उल्लेख है, वे तो आपको मान्य हैं ? यदि है तो उसको तो आप मान लीजिये कि आपका कल्याण हो ।

प्र०—आप मुंहपत्ती हाथ में रखते हो इसमें खुले मुँह

बोलने से वायुकाय के जीवों की हिंसा का पाप तो लगता ही होगा ?

उ०— मुँहपत्ती बोलते समय मुँह के पास रखने के लिये है न कि दिन भर मुँह पर बाँधने के लिये। छद्मस्थों का उपयोग न रहने से उड़ता हुआ मक्षिकादि जीव मुंह मे न आ पड़े। किसी से वार्तालाप करते थूक न उछल पड़े इसलिये मुंहपत्ती रखना बतलाया है न कि वायुकाय के जीवों की रक्षा के हेतु। यदि ऐसा हो तो तीर्थंकर कुछ भी वस्त्र नहीं रखते हैं और वे घन्टो तक देशना दिया करते हैं। आप यह भी नही कह सक्ते कि तीर्थंकरो का अतिशय है। कारण ३४ अतिशय में यह अतिशय नही है कि तीर्थंकर खुले मुंह बोले और उनसे वायुकाय के जीवों की हिंसा न हो कारण तीर्थंकर व्याख्यान देते हैं उस समय भी समय-समय वेदनीकर्म का वन्ध होता है इसका कारण वायुकाय की हिंसा ही है। मेहरवानों! मुह पर मुंहपत्ती तो क्या पर एक लोहा का पत्र भी चिपका दिया जाय तो भी बोलते समय वायुकाय के जीवों का बचाव नही हो सकता है क्योकि जहाँ थोड़ा ही छिद्र है वहाँ वायुकाय के असंख्य जीव है। मुँह तो बहुत लम्बा चौड़ा है पर आंखो के पलकों के बीच भी वायुकाय के जीव भरे हैं और एकबाल चलने पर असंख्य जीवो की हिंसा होती है। इस हिंसा को छद्मस्थ तो क्या पर केवली भी रोक नहीं सकते हैं। इतना जरूरी है कि जहाँ तक बन पड़े यत्न करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। पर दिनभर मुँहपर मुँहपत्ती बन्धने से कितना नुकसान हुआ—अव्वल तो जैन मुनियो के पवित्र वेशको कलंकित किया, दूसरा दिनभर मुंहपत्ती बन्धने से असंख्य त्रस जीवों की उत्पत्ति

होती है तीसरा स्पष्ट बोला भी नहीं जाता है चतुर्थ गन्धी वायुके कारण बीमारी होती है पञ्चम लोगों में धर्म को निंदाका कारण है इतना होने पर भी लाभ कुछ नहीं; एवं दिनभर मुँहपत्ती बांधना, शास्त्राज्ञा के विरुद्ध है।

प्र०—हमने कई पुस्तकों में देखा है कि बाहुबल ब्रह्मी सुन्दरी पांच 'डव और भगवान् ऋषभदेव और महावीर के मुंहपर भी मुंहपत्ती बन्धी हुई है क्या यह असत्य है ?

उ०—मैं तो क्या पर इस बात को खास स्थानकवासी समाज भी गलत मानते हैं और सख्त विरोध करते हैं। ऐसे मनकल्पित चित्र बनाने से सत्यता नहीं कही जाती है। आज पुराणे चित्र इतने उपलब्ध हैं कि जिनके अन्दर अनेक आचार्यों के चित्र हैं वे सब हाथ में मुंहपत्ती रखते थे। ओसियो के मन्दिर के रंग मण्डप में एक जैनाचार्य की पाषाणमय मूर्त्ति है वे सामने स्थापना और हाथ में मुँहपत्ती रख व्याख्यान दे रहे हैं। यदि यह मूर्त्ति श्रीरत्नप्रभसूरि के समय की है तो उसको आज २३९२ वर्ष हुए हैं ऐसे अनेक प्रमाण मिल सकते हैं† पर मुँह पर मुँहपत्ती बन्धने वाले वि० सं० १७०८ के पूर्व का एक भी प्रमाण दे नहीं सकते कि इस समय के पूर्व जैन साधु मुंहपत्ती मुंहपर बान्धते थे। हम तो आज भी यह दावे के साथ कहते हैं कि कोई भी स्थानकवासी तेरहपन्थी अपनी मान्यता को साबित करनेको ऐसा प्रमाण जनता के सामने रखे कि वि० सं० १७०८ पूर्व किसी जैन मुनि ने मुह पर मुंहपत्ती बांधी थी ? दूसरा यह है कि एक प्रथा से

† देखो मेरी लिखी "क्या जैन तीर्थंकर डोराडाल मुंह पर मुंहपत्ती बान्धते थे" नामक किताब।

दूसरी प्रथा चलती है तब उसका खण्डन मण्डन भी उसी समय से चल पड़ता है पर हम अढ़ाई हजार वर्षों का इतिहास एवं साहित्य देखते हैं कि किसी स्थान पर यह नहीं पाया जाता है कि मुंहपत्ती हाथ में रखने का खण्डन मण्डन हो। किन्तु मुंहपत्ती मुंहपर बाँधने की चर्चा केवल वि० सं० १७०८ से ही शुरू होती है इससे सिद्ध होता है कि मुंहपत्ती बान्धने की प्रथा वि० सं० १७०८ में लवजी स्वामी से ही प्रारंभ हुई है।

प्र०—फिर क्या पुस्तको में झूंठे ही छपा दिये हैं?

उ०—मताग्रह में मनुष्य क्या नहीं करता है। पुस्तको में किस किस आधार से छपाई, क्या कोई इसकी प्राचीन मूल कापी बतला सकता है? आप छापने की क्या बात पूछते हैं कई लोगों ने श्रीकृष्ण के चित्र में बतलाया है कि गोपियें स्नान करती थीं उस समय श्रीकृष्ण उनके वस्त्र उठाके ले गये फिर उन्होंने नग्न गोपियों को अपने पास बुलाया। क्या कोई विद्वान इस बात को सत्य मान सकता है? क्या श्रीकृष्ण ऐसे थे? क्या ऐसा चित्र प्रामाणिक माना जासकता है? नहीं कदापि नहीं। इसी भाँति किसी ने अपने दुराग्रह के वशीभूत हो मन कल्पित चित्र बनाके छपवा दिये हों तो क्या वह सत्य हो सकता है? कदापि नहीं। हम तो हाथ में मुंहपत्ती रखने वाले हैं परन्तु पहले मुंहपर बांधने वालो को तो पूछो कि वे उन चित्रों का क्यो विरोध करते हैं। सब से निकट का प्रमाण तो यह है कि लौंकाशाहकी परम्परा के यति आज पर्यन्त मुँहपत्ती हाथ में रखते हैं और मुंहपर बाँधने का घोर विरोध करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि लोंकाशाह के बाद मुंहपर दिनभर मुँहपत्ती बांधने की प्रथा शुरू हुई है अर्थात् हाथ में मुंह-

पत्ती रखना यह परम्परा महावीर की है और मुंह पर बांधना यह वि० सं० १७०८ लवजी स्वामि की चलाई नूतन प्रथा है।

प्र०—आप सामायिकादि क्रिया की आदि में मुँहपत्ती का प्रतिलेखन करते हो वह शायद दिन को तो जीवों को देखने के लिये करते होंगे, पर रात्रिमें भी मुँहपत्ती का प्रतिलेखन क्यों करते हो क्या रात्रि में भी जीव देखते हो ?

उ०—मुँहपत्ती का प्रतिलेखन केवल जीवों को देखने के लिये ही नहीं है पर इसमें बड़ा ही रहस्य है। सामायिकादि प्रत्येक क्रिया करने के पहिले आत्मशुद्धि की आवश्यकता है और मुँहपत्ती प्रतिलेखन द्वारा पहले आत्मशुद्धि की जाती है। मुँहपत्ती प्रतिलेखन केवल कपड़े को इधर उधर करना ही नहीं है पर उसके अन्दर निम्नलिखित चिन्तवन करना पड़ता है जैसे मुँहपत्ती के पुड़ खोलते समय कहा जाता है कि (१) सूत्र-अर्थ सच्चा श्रद्धं हूं (२) सम्यक्त्व मोहनीय (३) मिथ्यात्व मोहनीय (४) मिश्र मोहनीयपरिहरूँ (परित्याग करूँ) बाद दृष्टिप्रतिलेखन समय (५) कामराग, (६) स्नेहराग (७) दृष्टिराग परिहरूँ, बाद (८) सुदेव (९) सुगुरु (१०) सुधर्म आदरूँ, बाद (११) कुदेव (१२) कुगुरु (१३) कुधर्म परिहरूँ। बाद (१४) ज्ञान (१५) दर्शन (१६) चारित्र आदरूँ (१७) ज्ञान विराधना (१८) दर्शन विराधना (१९) चारित्र विराधना परिहरूँ (२०) मनोगुप्ति (२१) वचनगुप्ति (२२) काय गुप्ति आदरूँ (२३) मनोदण्ड (२४) वचनदण्ड (२५) कायदण्ड परिहरूँ एवं २५ बोलों द्वारा मुँहपत्ती का प्रतिलेखन करके बाद शरीर का प्रतिलेखन किया जाता है जैसे-मुँहपत्ती को मस्तक पर

लगा के कहना कृष्णलेश्या नीललेश्या, कापोतलेश्या परिहरूँ। मुँहपर मुँहपती लगाके ऋद्धिगारव, रसगारव सातागारव, परिहरूँ। हृदयपर लगा के मायाशल्य, निदानशल्य, मिथ्यादर्शनशल्य, परिहरूँ। जीमणेखान्धे पर क्रोध-मान डावेखान्धेपर माया, लोभ परिहरूँ। डावा हाथकी वाँह पर हास्य, रति, अरति, एवं जीमणे हाथ की वाँह पर, शोक, भय, जुगप्सा, परिहरूँ। डावे पैर पर पृथ्वी, अप, तेउ, एवं जीमणे पग पर, वायु, वनस्पति, और त्रस काय की विराधना परिहरूँ। इस प्रकार २५ बोलों का चिन्तवन मुँहपत्ती और २५ बोलों का चिन्तवन शरीर के, कुल ५० बोलों का चिन्तवन करने से मुँहपत्ती का प्रतिलेखन होता है और सामायिक लेना, पारना, गुरुवन्दनकरना, प्रतिक्रमणकरना, पच्चखानलेना, पारणा, चैत्यवन्दन संस्तारा पौरुषी आलोचनादि सब क्रियाओं की आदि में पूर्वोक्त ५० बोलों का चिन्तवन द्वारा मुँहपत्ती का प्रतिलेखन करना शास्त्रकारों ने वतलाया है।

प्र०—हमने तो यह विधान आज ही सुना है और यह है भी उत्तम ?

उ०—आपने अभी जैनों का घर देखा ही क्या है ? ऐसी २ तो अनेक क्रियाएं हैं कि जिससे आत्म-कल्याण का सुगमता पूर्वक साधन हो सकता है। जैनों मे जितनी क्रिया हैं वह सब उपयोग पूर्वक विवेक के साथ करने की है।

प्र०—आप क्रिया के समय ठवणी पर क्या रखते हो ?

उ०—आचार्य महाराज की स्थापना।

प्र०—यह क्यों ?

उ०—विना स्थापना, क्रिया करना अशुद्ध है। कारण प्रत्येक

क्रिया में गुरु आदेश (आज्ञा) लेना चाहिए। यह बिना स्थापना आज्ञा किसकी लेवें। इसीसे स्थापना की आवश्यकता है।

प्र०—हमारे तो सब साधु या श्रावक पूज्यजी या बड़े साधुओं की आज्ञा लेते हैं?

उ०—पर पूज्यजी किसकी आज्ञा लेते हैं?

प्र०—श्री सीमंधर स्वामी की आज्ञा लेते हैं।

उ०—श्री सीमंधर स्वामी कहां पर हैं?

उ०—महाविदेह क्षेत्र मे तीर्थंकर हैं।

प्र०—भरतक्षेत्र में तो इस समय शासन महावीर के पट्टधर सौधर्म गणधरका चल रहा है इस हालत में सीमंधर स्वामी की आज्ञा कैसे ले सकते हो?

उ०—वे तीर्थंकर हैं उनकी आज्ञा लेना क्या अनुचित है?

प्र०—वे तीर्थंकर महाविदेह क्षेत्र के हैं एवं हमारे वन्दनीय पूजनीय अवश्य हैं, पर भरतक्षेत्र में उनकी आज्ञा नहीं ली जाती है।

उ०—क्या कारण?

प्र०—उनके शासन का आचार व्यवहार भरतक्षेत्र से भिन्न है जैसे भरत में इस समय पांच महाव्रत हैं वहां चार ही हैं। वहां दोष लगे तो प्रतिक्रमण करे। पर यहां अवश्य किया जाता है इत्यादि। भला! आप सीमंधर स्वामी की आज्ञा लेते हो तो वे यहां मौजूद नहीं है।

उ०—ईशान कोन में श्रीसीमंधरस्वामी की कल्पना कर आज्ञा मांग लेते हैं।

प्र०—कल्पना करना यह भी स्थापना ही है फिर भरतक्षेत्र के

भावाचार्य सौधर्म गणधर की स्थापना कर आज्ञा लेना कौनसा अनुचित है? कारण इस समय साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका जो धर्म क्रिया करते हैं वे सब सौधर्मगणधर के आज्ञा-वर्ती होने से सौधर्मगणधर की ही आज्ञा ले सकते हैं। जिनके अभाव जैसे जिन प्रतिमा है वैसे आचार्य के अभाव स्थापनाचार्य है और श्री समवायांगजी सूत्र के बारहवां समवाय में आचार्य की स्थापना करना कहाभी है। इसलिये सामायिक प्रतिक्रमणादि जितनी क्रिया की जाँय वे सब स्थापनाजी के आदेश से ही होना शुद्ध है? यदि स्थापनाचार्य न हो तो वन्दना के समय में प्रवेश करना निकलना तथा 'अहो कायं काय संपासं' यह पाठ कहना भी व्यर्थ होजाता है अतएव स्थापना रखना खास जरूरी बात है समझे न?

प्र०—पांच पदों में मूर्ति किस पद में है?

उ०—अरिहन्तों की मूर्ती अरिहन्तपद में और सिद्धों की सिद्धपद में है।

प्र०—चार शरणों में मूर्त्ति किस शरणा में है?

उ०—मूर्त्ति अरिहन्त और सिद्धों के शरणा में है।

प्र०—सूत्रों में अरिहन्त का शरणा कहा है पर मूर्त्ति का शरणा नहीं कहा है?

उ०—कहा तो है पर आपको नहीं दीखता है। भगवती सूत्र श० ३ उ० १ में अरिहन्त, अरिहन्तों की मूर्त्ति और भवितात्मा साधु का शरणा लेना कहा है और आशातना के अधिकार में पुनः अरिहन्त और अनगार एवं दो ही कही। इससे सिद्ध हुआ कि जो अरिहन्तों की मूर्त्ति की आशातना है वह ही अरिहन्तों

की आशातना है। आप भी भैरूं की स्थापना को पीठ देकर नहीं बैठते हो कारण उसमे भैरूं की आशातना समझते हो।

प्र०—भगवान ने तो दान, शील, तप, एवं भाव, यह चार प्रकार का धर्म बतलाया है। मूर्तिपूजा मे कौनसा धर्म है?

उ०—मूर्त्तिपूजा में पूर्वोक्त चारों प्रकार का धर्म है जैसे—

(१) पूजा में अक्षतादि द्रव्य अर्पण किये जाते हैं यह शुभक्षेत्र में दान हुआ।

(२) पूजा के समय, इन्द्रियों का दमन, विषय विकार की शान्ति, यह शीलधर्म हुआ।

(३) पूजा मे नवकारसी पोरुसी के प्रत्याख्यान यह तपधर्म हुआ।

(४) पूजा में वीतराग देव की भावना गुणस्मरण यह भाव धर्म। एवं पूजा मे चारो प्रकार का धर्म होता है।

प्र०—पूजा में तो हम धमाधम देखते हैं?

उ०—कोई अज्ञानी सामायिक करके या दया पाल के धमाधम करता हो तो क्या सामायिक व दया दोषित और त्यागने योग्य है या धमाधम करने वाले का अज्ञान है? दया पालने मे एकाध व्यक्ति को धमाधम करता देख यह शुद्ध भावों से दया पालने वालों को ही दोषित ठहराना क्या अन्धवाद नहीं है? इसी प्रकार यदि किसी स्थान या किसी व्यक्ति का धामधूम करना देख विद्वान पूजाको बुरा नहीं समझता है। आप लोगोंने अभी पूजा के रहस्यको नहीं समझा है तब आपको मालूम ही क्या कि कैसे और किसकी पूजा होती है।

प्र०—आपही बतलावें कि पूजामें पेटी तबला और ताल के सिवाय आप करते ही क्या हैं।

उ०—पेटी तबला और तालादि तो संगीतके साधन हैं जैसे सुरियाभदेवने प्रभु महावीर के सामने नाटक किया था, उस समय ४९ जाति के वाजित्र थे।

प्र०—आप बाजे बजाते हो उसमें क्या गाते हो इसकी मालूम नहीं पड़ती है।

उ०—तबही तो आप प्रभुपुजाकी निंदा कर कर्म बन्धन करते हो। कभी पूजा में आकर सुनो कि हम क्या करते है। जैसे स्नान पूजा में तीर्थंकरों के जन्म महोत्सव गाते हैं जैसे गणधरोंने जीवाभिगम सूत्र में गाया था। नौपदजी की पूजा में अरिहन्त सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का वर्णन[1] आता है और हम लोग बड़े ही आनन्द से उनके गुण गाते हैं। इसी प्रकार बीसस्थानकजी की पूजा में तीर्थंकर नाम बन्धने के बीस स्थानक के गुण[2] हैं नीनाणवे प्रकार की पूजा[3] में तीर्थशत्रुञ्जय पर अनेक मुनियों ने मोक्ष प्राप्त की उनके गुण, चौसठ प्रकार की पूजा[4] में आठ कर्मों से मुक्त होने की प्रार्थना, बारह व्रत की पूजा[5] में भगवान् ने श्रावक के बारह व्रतों का

१ श्री स्थानायांग सूत्र में।

२ श्री ज्ञातासूत्र ८ वाँ अध्यायन।

३ श्री अन्तगढ दशांग और ज्ञातासूत्र में।

४ श्री पन्नवणासूत्र तथा कर्मग्रन्थादि में।

५ श्री उपाशकदशांगसूत्र।

स्वरूप बतलाया है सत्रह भेदी पूजा[1] में तीर्थङ्करों की भक्ति। पैंतालीस आगमों का पूजा[2] में आगमाराधना इत्यादि पूजा करते हैं कभी पूजा की किताब[3] को उठाकर ध्यान पूर्वक पढ़े तो आपको ज्ञात हो जाय कि हम पूजा किसकी और किस प्रकार करते हैं।

प्र०—तप संयम से कर्मों का क्षय होना बतलाया है। पर मूर्तिपूजा से कौन से कर्मों का क्षय होता है वहां तो उल्टे कर्म बन्धते हैं ?

उ०—मूर्तिपूजा तप संयम से रहित नहीं है जैसे तप संयम से कर्मों का क्षय होता है वैसे ही मूर्तिपूजा से भी कर्मों का नाश होता है। ज़रा पक्षपात के चश्मे को उतार कर देखिये—मूर्तिपूजा में किस किस क्रिया से कौन से २ कर्मों का क्षय होता है।

(१) चैत्यवन्दनादि भगवान के गुण स्तुति करने से ज्ञानाऽऽवरणीय कर्म का क्षय।

(२) भगवान् के दर्शन करने से दर्शनावरणीय कर्म का नाश।

(३) प्राण भूत जीव सत्व को करुणा से असाता वेदनी का क्षय।

(४) अरिहन्तों के गुणों का या सिद्धों के गुणो का स्मरण करने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति और मोहनीय कर्म का क्षय होता है।

(५) प्रभु पूजा में तल्लीन और शुभाऽऽध्यवसाय से उमी

---

१ श्री राज प्रश्नी सूत्र

२ श्री समवायांगसूत्र तथा श्री नंदीसूत्र में।

३ विविध पूजा संग्रहादि पुस्तकें मुद्रित हो चुकी हैं उनको मंगवा कर एक बार अवश्य पढ़िये।

भव में मोक्ष प्राप्ति होती है। यदि ऐसा न हो तो शुभ गति का आयुष्य बन्ध कर क्रमशः (भवान्तर) मोक्ष की प्राप्ति अवश्य होती है।

(६) मूर्त्ति पूजा में अरिहन्तादि का नाम लेने से अशुभ नाम कर्म का नाश।

(७) अरिहन्तादि को वन्दन या पूजन करने से नीच गौत्र कर्म का क्षय।

(८) मूर्तिपूजा में शक्ति का सदुपयोग और द्रव्यादि का अर्पण करना अन्तराय कर्म को दूर कर देता है।

मेहरवान ! परमात्मा की पूजा करने से क्रमशः आठ कर्मों की देश व सर्व से निर्ज्जरा होती है मूर्त्ति पूजा का आनन्द तो जो लोग पूर्ण भाव-भक्ति और श्रद्धा पूर्वक करते हैं वे ही जानते हैं। जिनके सामने आज ४५० वर्षों से विरोध चल रहा है, अनेक कुयुक्तिएँ लगाई जा रही हैं पर जिनका आत्मा जिनपूजा में रंग गया है उनका एक प्रदेश भी चलायमान नहीं होता है। समझे न।

प्र०—यह समझ में नहीं आता है कि अष्टमी, चतुर्दशी जैसी पर्व तिथियों मे श्रावक लोग हरी वनस्पति खाने का त्याग करते हैं जब भगवान् को वे फल-फूल कैसे चढ़ा सकते हैं ?

उ०—यह तो आपके समझ में आ सकता है कि अष्टमी चतुर्दशी के उपवास (खाने का त्याग) करने वाले घर पर आये हुए साधुओ को भिक्षा दे सकते हैं और उनको पुण्य भी होता है। जब आप खाने का त्याग करने पर भी दूसरों को खिलाने में पुण्य समझते हैं तो श्रावकों को पुष्पादि से पूजा करने में

प्र०—साधुओं को तो फाशुक अचित आहार देने में पुण्य है पर भगवान् को तो पुष्पादि सचित पदार्थ चढ़ाया जाता है और उसमे हिंसा अवश्य होती है ?

उ०—पर वह अचित आहार बनातो सचित से ही है न। फिर आपका सब ठीक और हमारा खराब क्या यह समदृष्टिपना है। यह तो आपके दिल में एक तरह का भ्रम डाल दिया है जहाँ तहाँ हिंसा का पाठ पढ़ा दिया है पर इसका मतलब आपको नहीं समझाया है। हिंसा तीन प्रकार की होती है (१) अनुबन्ध हिंसा (२) हेतु हिंसा (३) स्वरूप हिंसा। इसका मतलब यह है कि हिंसा नहीं करने पर भी मिथ्यात्व सेवन करना उत्सूत्र भाषण करना इत्यादि वीतरागाज्ञा विराधक जैसे जमाली प्रमुख मिथ्यासेवी दया पालने पर भी उसका तप संयम भी अनुबन्ध हिंसा है (२) गृहस्थ लोग गृह कार्य मे हिंसा करते हैं वह हेतु हिंसा है (३) जिनाज्ञा सहित धर्म क्रिया करने में जो हिंसा होती है उसे स्वरूप हिंसा कहते हैं जैसे नदी के पानी में एक साध्वी बही जा रही है साधु उसे देखकर पानी के अन्दर जाकर उस साध्वी को निकाल लावे इसमें यद्यपि अनंत जीवों की हिंसा होती है पर वह स्वरूप हिंसा होने से उसका फल कटु नहीं, पर शुभ ही लगता है— इसी प्रकार गुरु वन्दन, देव पूजा, स्वाधर्मी भाइयों की भक्ति आदि धर्म कृत्य करते समय छः काया से किसी भी जीवों की विराधना हो उसको स्वरूप अहिंसा कहते हैं। सचित और अचित का विचार अधिकारी और पात्र पर निर्भर है भगवान् की मौजूदगी में साधु को अचित आहार पानी दिया जाता था तब

भगवान् के समवसरन मे एक योजन का मण्डल मे ढींचण प्रमाण फूलो के ढेर लगते थे। क्या यहां पर भी आप सचित अचित का सवाल उठा सकते हो ? कदापि नहीं।

प्र०—पानी से साध्वी को निकालना या गुरुवन्दन करने मे तो भगवान की आज्ञा है ?

उ०—तो मूर्तिपूजा करना कौनसी हमारे घर की बात है वहाँ भी तो भगवान की ही आज्ञा है।

प्र०—भगवान् ने कब कहा कि तुम हमारी पूजन करना।

उ०—साधुओ ने कब कहा कि तुम हमको वन्दन करना ?

प्र०—साधुओ को वन्दन करना तो सूत्रों मे कहां है।

उ०—मूर्त्तिपूजा करना भी तो सूत्रो में ही कहा है।

प्र०—बतलाइये किस सूत्र में कहा है कि मूर्त्तिपूजा से मोक्ष होती है ?

उ०—आप भी बतलाइये कि साधुओं को वन्दन करने से मोक्ष की प्राप्ति का किस सूत्र मे प्रतिपादन किया है।

प्र०—उववाई सूत्र में साधुओ को वन्दना करने का फल यावत् मोक्ष बतलाया है। जैसे कि—

(१) हियाए—हित का कारण
(२) सुहाए—सुख का कारण
(३) खमाए—कल्याण का कारण
(४) निस्सेसाए—मोक्ष प्राप्ति का कारण
(५) अनुगमिताए—भवोभव में साथ

साधु वन्दन का फल तो मोक्ष बताया है पर मूर्तिपूजा का

फल किसी सूत्र में मोक्ष का कारण बतलाया हो तो आप भी मूलसूत्र पाठ बतलावें।

प्र०—सूत्र पाठ तो हम बतला ही देंगे पर आप जरा हृदय में विचार तो करें कि साधु को वन्दन करना मोक्ष का कारण है तब परमेश्वर की मूर्त्तिपूजा मे तो नमोत्थुणादि पाठों से तीर्थङ्करों को वन्दन किया जाता है क्या साधुओं को वन्दन जितना ही लाभ तीर्थङ्करों के वन्दन पूजन में नहीं है ? धन्य है आपकी बुद्धि को।

प्र०—हो या न हो यदि सूत्रों में पाठ हो तो बतलाइये।

उ०—सूत्र श्री रायपसणीजी में मूर्त्तिपूजा का फल इस प्रकार बतलाया है कि—

(१) हियाए—हित का कारण
(२) सुहाए—सुख का कारण
(३) रकमाए—कल्याण का कारण
(४) निस्सेसाए—मोक्ष का कारण
(५) अनुगमिताए—भवोभव साथ में

इसी प्रकार आचारांग सूत्र में संयम-पालने का फल भी पूर्वोक्त पाँचों पाठ से यावत् मोक्ष प्राप्त होना बतलाया है इसपर साधारण बुद्धिवाला भी विचार कर सकता है कि वन्दन पूजन और संयम का फल यावत् मोक्ष होना सूत्रो में बतलाया है जिसमें वन्दन और संयम को मानना और पूजा को नहीं मानना सिवाय अभिनिवेश के और क्या हो सकता है ?

प्र०—यह तो केवल फल बतलाया पर किसी श्रावक ने प्रतिमा पूजी हो तो ३२ सूत्रों का मूलपाठ बतलाओ ?

उ०—ज्ञाता सूत्र के १६ वें अध्ययन में महासती द्रौपदी ने सतरह प्रकार से पूजा की ऐसा मूलपाठ है।

प्र०—द्रौपदी की पूजा हम प्रमाणिक नहीं मानते हैं ?

उ०—क्या कारण है ?

प्र०—द्रौपदी उस समय मिथ्यत्वावस्था में थी।

उ०—मिथ्यात्वावस्था में थी तब उसने घरदेरासर की पूजा कर फिर नगर देरासर की पूजा क्यों की और नमोत्थुणं के पाठ से स्तुति कर यह क्यों कहा कि 'तन्नाणं तारयाणं' क्या मिथ्यात्वी भी इस प्रकार जिनप्रतिमा की १७ भेदी पूजा कर नमोत्थुणं द्वारा यह प्रार्थना कर सकते हैं कि हे प्रभो! आप तरे और मुझ-ने तारो ?

प्र०—यह तो लग्न प्रसंग मे की, पर बाद में पूजा का अधि-कार नहीं आया ?

उ०—लग्न जैसे रंगराग के समय भी अपने इष्ट को नहीं भूली तो दूसरे दिनों के लिये तो कहना ही क्या था। धर्मी पुरुषों की परीक्षा ऐसे समय ही होती है। द्रौपदी ने नारद को असंयमी समझके वन्दन नहींकी, पद्मोत्तरके वहाँ रह कर छट्ठतप किया यह सब प्रमाण द्रौपदी को परम धर्मी सम्यग्दृष्टि जाहिर करता है खैर इस चर्चा को रहने दीजिये परन्तु द्रौपदी को आज करीबन ८७००० वर्ष हुए। द्रौपदी के समय जैनमन्दिर और जिनप्रतिमा तो विद्यमान थीं और वे मन्दिर मूर्त्तिएं जैनियों ने अपने आत्म कल्याणार्थ ही बनाई इससे सिद्ध हुआ कि जैनों में मूर्त्ति का मानना प्राचीन समय से ही चला आया है। द्रौपदी के अधिकार

में सुरियाभदेव का उदाहरण दिया है और राजप्रश्नी सूत्र में सुरियाभदेव ने विस्तारपूर्वक पूजा की है।

प्र०—सुरियाभ तो देवता था उसने जीत आचार से प्रतिमा पूजी उसमें हम धर्म नहीं समझते हैं?

उ०—जिसमें केवली-गणधर धर्म समझे और आप कहते हो कि हम धर्म नहीं समझते तो आप पर आधार ही क्या है कि आप धर्म नहीं समझे इससे कोई भी धर्म नहीं समझे। पर मैं पूछता हूँ कि सुरियाभदेव में गुणस्थान कौनसा है?

उ०—सम्यग्दृष्टि देवताओं में चौथा गुणस्थान है।

प्र०—केवली में कौनसा गुणस्थान?

उ०—तेरहवाँ चौदहवाँ गुण स्थान।

प्र०—चौथा गुणस्थान और तेरहवाँ गुणस्थान की श्रद्धा एक है या भिन्न २?

उ०—श्रद्धा तो एक ही है।

प्र०—जब चौथा गुणस्थान वाला प्रभु पूजा कर धर्म माने तब तेरहवाँ गुणस्थान वाला भी धर्म माने फिर आप कहते हो कि हम नहीं मानते क्या ये उत्सूत्र और अधर्म नहीं है? हम पूछते हैं कि इन्द्रो ने भगवान् का मेरु पर्वत पर अभिषेक महोत्सव किया, हजारो कलश पाणी ढोला, सुरियाभादि देवताओं ने पूजा की। इससे उनके भवभ्रमण बढ़े या कम हुए? पुण्य हुआ या पाप हुआ? यदि भवभ्रमण बढ़ा और पाप हुआ हो तो भगवान ने उनको पूर्वोक्त कार्यों के लिये मना क्यों नहीं किया क्योकि उन विचारोंने जो किया वह भगवानके निमित्त से ही किया था फिर भी वे सब एकावतारी कैसे हुए; वे भव और पाप कहाँ

पर भोग लिया ? यदि भव घटिया एवं पुण्य बढ़ा हो तो आपका कहना मिथ्या हुआ।

प्र०—यह तो हम नहीं कह सकते कि भगवान् का महोत्सवादि करने से भव भ्रमण बढ़ता है ?

उ०—फिर तो निशं:क सिद्ध हुआ कि प्रभुपूजा पक्षालादि स्नात्र करने से भव घटते हैं और क्रमशः मोक्ष की प्राप्ति होती है।

प्र०—यदि धामधूम करने में धर्म होता तो सूरियाभदेव ने नाटक करने की भगवान् से आज्ञा मांगी उस समय आज्ञा न देकर मौन क्यों रखी ?

उ०—नाटक करने में यदि पाप ही होता तो भगवान् ने मनाई क्यों नहीं की। इससे यह निश्चय होता है कि आज्ञा नहीं दी वह तो भाषा समिति का रक्षण है पर इन्कार भी तो नहीं किया। कारण इससे देवताओ की भक्ति का भंग भी था। वास्तव में सूत्र मे भक्तिपूर्वक नाटक का पाठ होने से इसमें भक्तिधर्म का एक अंग है इसलिये भगवान् ने मौन रक्खी, पर मौन स्वीकृत ही समझना चाहिये। यह तो आप सोचिये कि चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीवों के व्रत नियम तप संयम तो उदय हैं नही और वे तीर्थङ्कर नाम कर्मोपार्जन कर सक्ते हैं तो इसका कारण सिवाय परमेश्वर की भक्ति के और क्या हो सकता है ?

प्र०—कहा जाता है कि भगवान् महावीर के निर्वाण समय उनकी राशी पर दो हजार वर्षों की स्थितिवाला भस्मगृह आने से श्रमण संघ की उदय २ पूजा नहीं होगी, वि० सं० १५३० में

भस्मगृह उतरा उसी समय लौंकाशाह ने धर्म का उदय किया; क्या यह बात सत्य है ?

उ०—बतलाइये, लौंकाशाह ने धर्म का क्या उदय किया ? धर्म के उदय के कारण जैनमन्दिर, मूर्त्तियां और शास्त्र थे उनका तो लौंकाशाह ने सबसे पहले नाश (खण्डन) किया, इस हालत में तो लौंकाशाह को धर्मनाशक कहना भी अनुचित नहीं है। दूसरे, आचार्य रत्नप्रभसूरि से जैनों में शुद्धि की मशीन जोर से चली आती थी। वि० सं० १५२५ तक तो अजैनों को जैन बनाये जा रहे थे, बाद लौंकाशाह के उत्पात के कारण वह मशीन बन्द हो गई जैनों का संघ संगठन, न्यातिशक्ति बड़ी मजबूत थी पर लौंकाशाह के कदाग्रह के कारण ग्रामोग्राम फूट, कुसम्प और धड़ाबन्धी के कारण वे शक्तियां छिन्न-भिन्न हो गई। जैनों की वीरता, उदारता, परोपकारता और अहिंसा की विश्व में एक बड़ी भारी छाप थी। लौंकाशाह की मलीन क्रिया एवं संकुचित विचारों से और कायरता बढ़ाने वाली रूक्ष दया ने जैनों का तप तेज फीका कर दिया, लौंकाशाह के समय जैनों की संख्या ७०००००० सात करोड़ की थी वह घर की फूट कुसम्प के कारण आज बारह तेरह लक्ष की रह गई। जो जातियां हमारे आधीन में रहती थीं वह ही आज हर प्रकार से हमें दबा रही हैं। यह सब लौंकाशाह के उत्पात का ही कारण है। बतलाइये लौंकाशाह ने मुसलमान संस्कृति का अनुकरण कर जैनो को अपना इष्ट छुड़ाने के सिवाय क्या उद्योत किया ? क्या पूर्वाचार्यों के अनुसार किसी राजा महाराजा को प्रतिबोध कर जैनी बनाया था ? क्या कोई तत्त्वज्ञान विषयक मौलिक ग्रन्थ बना के किसी विषय पर प्रकाश डाला

या जिसको आप उदय मानते हैं। वास्तव में महावीर की राशी पर भस्मगृह आया और उसकी २००० वर्षों की स्थिति होने के कारण श्रमण संघ की उदय व पूजा प्रतिष्ठा नहीं हुई तथापि समय समय के बीच शासन का उदय होता ही रहा जैसे—

(१) आचार्य रत्नप्रभसूरि आदि ने लाखो अजैनों को जैन बनाके शासन की महान् प्रभावना की।

(२) आचार्य भद्रबाहु ने राजा चन्द्रगुप्त को जैन बनाके भारत के बाहर अनार्य देशों में जैन-धर्म का झण्डा फहराया।

(३) आचार्य सुहस्तीसूरि ने सम्राट् सम्प्रति को जैन बनाके भारत और अनार्य देशो में जैन धर्म का प्रचार करवाया। तथा मन्दिरों से मेदनी मण्डित करवाई।

(४) आचार्य सुस्थीसूरि ने महामेघवाहन महाराजा खार-वेल को जैन-धर्मी बना के जैनधर्म की भूरि-भूरि प्रभावना करवाई।

(५) आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने राजा विक्रम को जैन बनाके जैन धर्म का प्रचार किया।

(६) आचार्य बप्पभट्ट सूरि ने कन्नौज के राजा आम आदि को जैन बनाये।

(७) आचार्य शीलगुणसूरि ने पाटण का राजा वनराज को जैन बना के जैन-धर्म का प्रचार एवं प्रभावना की।

(८) कलिकाल सर्वज्ञ भगवान् हेमचन्द्रसूरि ने राजा कुमा-रपाल को प्रतिबोध कर जैन बना के अट्ठारा देश में अहिंसा का प्रचार किया।

(९) इसी प्रकार आचार्य भद्रबाहु सिद्धसेनदिवाकर मल्ल-

वादिसूरि, वृद्धवादीसूरि, देवऋद्धिखमासणा, जिनभद्रगणि, हरिभद्रसूरी, उद्योतनसूरि, नेमिचन्दसूरि, अभयदेवसूरि, आर्यरक्षितसूरि, स्कंदलाचार्य, पादलीप्तसूरि, यक्षदेवसूरि, कक्कसूरि, देवगुप्तसूरि, सिद्धसूरि, सर्वदेवसूरि, यशोदेवसूरि, यशोभद्रसूरि, विजयहीरसूरि, आदि सैकड़ो आचार्यों ने हजारो लाखों ग्रन्थो की रचना की, एवं शासन सेवा कर शासन को स्थिर रखा और हजारो लाखों मन्दिर मूर्तियों की प्रतिष्ठा करवा के धर्म का गौरव बढ़ाया। इन आचार्यों के उपासक बड़े २ राजा महाराजा श्रेष्ठवर्य्य एवं साहुकार हुए कि जिन्होने तन मन और धन से शासन की प्रभावना की इत्यादि। जब वि० सं० १५३० मे भस्मगृह उतरा तो उसी समय श्रीसंघ की राशी पर धूमकेतु नामक विग्रह उत्पादक गृह आ बैठा जिसके प्रभाव से ही लौंकाशाह जैसा निन्हव पैदा हुआ और उसने जैन-धर्म के अन्दर कुसम्प और अशान्ति पैदा कर सर्वनाश करने का दुःसाहस किया पर शासन के स्थंभाचार्यो के सामने उनका कुछ भी नही चला। जहाँ जैन साधुओ का विहार कम था, वहाँ के अज्ञ लोगो को अपने जाल मे फँसा के सद्धर्म से पतित बनाने के सिवाय लौंका० और उनके अनुयायिओ ने कुछ भी नही किया और इष्ट-भ्रष्ट आदमी कुछ कर भी तो नही सकते हैं।

प्र०—प्रतिक्रमण के छः आवश्यक सबके एक होने पर भी आपका प्रतिक्रमण बड़ा और हमारा प्रतिक्रमण इतना छोटा क्यो है ?

उ०—आपका प्रतिक्रमण शास्त्रानुसार नही पर मन-कल्पित है।

प्र०—ऐसे तो हम भी कह सकते हैं कि आपका प्रतिक्रमण मन-कल्पित है, पर क्या आप कुछ प्रमाण से सावित कर सकते हो ?

उ०—आप ही अन्तरदृष्टि से सोचें कि प्रतिक्रमण अतिचार की आलोचना है। पर आप तो अतिचार के स्थान हमेशा व्रतोच्चारण करते हो, जैसे आप कहते हो कि—

"पहला थुल प्रणातिपात त्रस जीव बेन्द्रिय तेन्द्रिय चौरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय जाणी पीच्छी उदेरी संकुटी विना अपराध त्रसजीव हणणे का पच्चक्खाण जाव जीवाए दुविहं तिविहेणं नकरेमि नकरावेमि मणसा वायसा कायसा + +

अब इस पर जरा विचार करें कि दोय करण, तीन योग अर्थात् तवीस का अंक और चालीसवाँ भाँगा से आपके समाज का प्रत्येक श्रावक पच्चक्खाण करता है, उस पर भी तुर्रा यह कि इस पच्चक्खाण में जावजीव का पाठ बोलने पर भी हमेशा पच्चक्खाण करना यह पच्चक्खाण क्या एक बच्चों का खेल है? क्या दो करण तीन योग से जावजीव व्रत कोई भी श्रावक इस समय पाल सकता है जो दो घड़ी की सामायिकमें भी दोकरण तीन योग स्थिर नहीं रहता है तो जावजीव दोकरण तीनयोग कैसे पले? यदि नहीं पले तो हमेशा यह बात कहना पागल की पुकार और गेहली का गीत ही हुआ। आगे सातवां व्रत में २६ बोलों के नाम लेकर जिन्दगी भर में २६ द्रव्य रखते हो? क्या कोई श्रावक ने आजपर्यन्त यह विचार किया है कि हमने २६ द्रव्यों का नियम जावजीव तक किया है तो आज तक कितने द्रव्य लगे यदि नहीं तो यह कल्पित एवं पोप क्रिया के सिवाय और क्या है? मित्रो! वास्तव में आपका प्रतिक्रमण आवश्यक सूत्र-अनुसार नहीं पर आनन्द श्रावक ने महावीरप्रभु के पास व्रतोच्चारण किया और उन्होंने अपनी जिन्दगी में जो व्रत लिया एवं जा

द्रव्य रखा उसका उल्लेख उपाशकदशांगसूत्र में है उस पाठ को प्रतिक्रमण में घुसेड़ दिया जो बिल्कुल असंगत है। कारण आनन्द ने तो एक दिन व्रत लिये, बाद उनके अतिचारो का प्रतिक्रमण किया था पर अज्ञानी लोगो ने तो उन व्रतोच्चारण का पाठ हमेशा कहना शुरू कर दिया कि जिसका कुछ मतलब ही नहीं और न उस पाठ का प्रतिक्रमण के साथ कुछ भी सम्बन्ध है। इस कारण आपका प्रतिक्रमण शास्त्रानुसार नही पर मन-कल्पित नाम मात्र का छोटा प्रतिक्रमण है। इतना ही क्यों पर आपके जो आवश्यक सूत्र है उसमें न तो श्रावक के सामायिक, पौसह और प्रतिक्रमण हैं न साधुओं का पूरा प्रतिक्रमण है। इतना ही क्यों पर आपके आवश्यक में तो साधु-श्रावक के पच्चक्खानों का भी सिलसिलेवार विधान नहीं है। इससे स्पष्ट है कि आपके प्रतिक्रमण नहीं पर एक कल्पति ढ़ांचा है और इसका कारण मात्र इतना ही कि सौधर्माचार्य्य के प्रतिक्रमण मे अरिहन्त चैत्य का विधान आता है उसको नहीं मानना ही है। जैनियों में राइ, देवसी, पक्खी, चौमासी और संवत्सरी एवं पांच प्रतिक्रमण हैं तब आप केवल कल्पित कलेवर से ही काम चलाते हैं। जैनियों में राइ देवसी प्रतिक्रमण में ४ लोगस्स, पाक्षी मे १२, चौमासी में २०, और सवत्सरी मे ४० लोगस्स के काउस्सग्ग शास्त्रानुसार करते हैं, तब आपके कई समुदाय मे तो इसी भांति, पर कई में संवत्सरी के प्रायश्चित्त में भी हमेशा की मुवाफिक ४ लोगस्स और कई टोलों में १६ लोगस्स का काउस्सग्ग करते हैं। यदि शास्त्रानुसार प्रतिक्रमण होता तो यह भेद क्यो ? अभी अजमेर के साधू सम्मेलन में तो ४-१६-४० लोगस्स को किनारे रख, २० लोगस्स मुकर्रिर किया है। जहाँ मन

कल्पना से काम चलाना हो वहाँ शास्त्र की दरकार ही क्यों रखी जाती है समझे न भाई साहिब। मैं तो कहता हूँ कि अब भी आप निर्णय कर सौधर्माचार्य की परम्परा की क्रिया कर स्व-पर का कल्याण करें।

प्र०—क्या साधुओं के व्याख्यान में श्रावक सामायिक कर सकता है?

उ०—साधुओं के व्याख्यान में श्रावकों को इतर काल की सामायिक करना शास्त्रीय विधान नहीं है। कई लोगों के सामायिक का नियम होता है कि वह अन्य टाइम खर्च नहीं करके दाल के साथ ढोकलो पका लेता है किन्तु व्याख्यान में सामायिक करना एक वेगार निकालना है, बुगलाभक्ति एवं धार्मिकपना का ढोंग बतलाना है। साथ मे उपदेशको की अल्पज्ञता भी है क्योंकि शास्त्रकारों का स्पष्ट फरमान है कि एक समय में दो काम (उपयोग) होही नहीं सकता, कारण सामायिक का अर्थ है समभाव से आत्मचिन्तवन करना और व्याख्यान का अर्थ है विनय के साथ उपयोग पूर्वक गुरु के सन्मुख बैठ शास्त्रों का श्रवण कर उनको ठीक समझना। यदि सामायिक में उपयोग है तो व्याख्यान एवं सूत्र और गुरु की आशातना के कारण विराधक होगा, और व्याख्यान में उपयोग रहेगा तो सामायिक का विराधक है अर्थात् सामायिक करना निरर्थक है। यदि सामायिक का अर्थ आश्रवद्वारों को रोकना ही है तो आश्रवद्वार व्याख्यान के उपयोग से रुक जाता है फिर सामायिक का अधिक क्या फल हुआ? यदि फल नहीं है तो अर्थशून्य क्रिया करना विलापात के सिवाय और क्या है? मेहरबान! सामायिक ऐसी साधारण वस्तु नहीं है कि

हरेक व्यक्ति हरेक टाइम मे घड़ी रख, कपड़ा खोल कर बैठ जावे, धूल पड़ती जाय और सामायिक आती जाय, पर उसको पूछा जाय कि सामायिक क्या वस्तु है ? जैसे किसी अनधिकारी को अधिकार पद दे देने से उस पद का महत्व मिट्टी में मिल जाता है इसी भाति आज अज्ञ लोगों ने सामायिक का महात्म्य कम कर दिया है। हमारे कथन का यह अर्थ नहीं है कि सामायिक करना बुरा है ? सामायिक अवश्य करनी चाहिये पर पहले सामायिक के भावार्थ को समझना चाहिये कि सामायिक का क्या अर्थ है, कितनी योग्यता वाला सामायिक करने का अधिकारी है, उनका आचरण कैसा होना चाहिये। ज्ञान शून्य दिनभर सामायिकें करने की बजाय ज्ञान संयुक्त एक सामायिक करना ही महान् लाभ का कारण हो सकता है। समझे न—

प्र०—"श्री आचाराङ्ग सूत्र में लिखा है कि—छः काया के जीवो की हिंसा करने वालो को भवाऽन्तर मे अहित और अबोध का कारण होता है ?"

उ०—आपने इस पाठ और अर्थ को ठीक नही देखा है, यहाँ तो खास मिथ्यात्वियों के लिये कहा है। यदि आप अपने पर लें तो आपका ऐसा कोई श्रावक या साधु नहीं है, कि छः काया की हिंसा से बच सका हो। क्योकि गृहस्थ लोग घर, हाट कराने में छः काया की हिंसा करते हैं। साधु के आहार-विहारादि की क्रिया में वायु-काय की हिंसा अवश्य होती है। आपके मताऽनुसार तो उनको भी अहित और अबोध (मिथ्यात्व) का कारण होता ही होगा, परन्तु वस्तुतः ऐसा नही है। यह उल्लेख मिथ्या दृष्टियों की अपेक्षा है, उनकी मिथ्या श्रद्धा और अशुभ परिणाम

के कारण अहित-अबोध का कारण बतलाया है नहीं तो आनन्द कामदेव गृह कार्य में आरम्भ करते हुए भी एकावतारी हुए हैं। समझे न ?

प्र०—प्रश्न व्याकरण सूत्र में जीव हिंसा करने वालों को मन्दबुद्धिया और दक्षिण नरक मे जाने वाला बतलाया है ?

उ०—जब आपके साधु श्रावक की तो नरक के सिवाय गति ही नहीं है। क्योंकि आपके प्रत्येक कार्य में जीवहिंसा तो होती ही है, चाहे त्रस जीवो की हो, चाहे स्थावर जीवो की; जहाँ चलनादि क्रियाएँ होती हैं वहाँ जीव हिंसा अवश्य हुआ करती है। भगवती सूत्र मे श्रावक को तीन क्रिया—आरम्भ, परिग्रह, और माया तथा साधु को दो क्रिया आरम्भ और माया की बताई है। आपके मताऽनुसार आरम्भ करने वाला दक्षिण की नरक में जाना चाहिये। बलिहारी है आपके ज्ञान की ? मित्रों ! किसी विद्वान् से सूत्रों के अर्थ-रहस्य को समझो। फिर प्रश्न करो। वास्तव में प्रश्न व्याकरण सूत्र मे आश्रव द्वार का वर्णन है। क्रूरकर्मी, निध्वंस परिणामी, मिथ्यादृष्टि अनार्य लोग, एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक प्राणियों की हिंसा कर घर, हाट, देवल, छत्री, चूल्हा, चक्की, ऊखल, मूशल आदि बनाते हैं, वह अपने अशुभ परिणामो से दक्षिण के नरक मे जाते हैं। यदि यह पाठ अनार्य मिथ्यादृष्टि के लिए न हो तो आनन्द कामदेव जैसे श्रावको के भी घर हाटादि कार्यों में हिंसा होती थी, अत: उन्हे भी दक्षिण नरक में जाना चाहिये था पर नहीं, वे स्वर्ग में गये और अब एक भव कर मोक्ष में जायँगे। यदि आपकी भावना है कि आरंभ करने वाला दक्षिण की नरक में ही जाता है तो आप भले ही

पधारें पर एक बात आप से पूछ लेते हैं कि यदि आप जैसे नवकार मंत्र गिनने वाले भी दक्षिण की नरक में पधारेंगे तो बिचारे क्रूर कर्मी कसाई कहाँ जावेंगे ?

प्र०—हम तो संसार के लिये आरंभादि हिंसा करते हैं और आचारांगसूत्र, प्रश्नव्याकरणसूत्र में पूर्वोक्त पाठ धर्मार्थ हिंसा करने का है।

उ०—भले। आपतो संसार के लिए कह कर छूट जाते हो पर केवली भगवान् तो धर्म के लिये ही हलते चलते व्याख्यान देते हैं और साधु भी धर्म के लिए ही सब क्रिया करते हैं और केवली या साधु पूर्वोक्त क्रिया करते हैं उसमें हिंसा अवश्य होती है भले वे कहा जावेगा। क्या आप अपनी भाति उनको भी दक्षिण की नरक में नहीं भेज दें और अहित-अबोध का कारण तो न बतला दें ? सत्य है अज्ञानी लोग क्या अनर्थ नहीं करते हैं। क्या अब भी आप इन दोनों सूत्रों के पाठो को अनार्य मिथ्या-दृष्टि क्रूरकर्मी और निध्वंस परिणामी के लिए मान लेंगे।

प्र०—उपासक दशांग सूत्र में आनन्द कामदेव के व्रतों का अधिकार है पर मूर्त्ति का पूजन कहीं भी नहीं लिखा है ?

उ०—लिखा तो है परन्तु आपको दीखता नहीं। आनन्द ने भगवान् वीर के सामने प्रतिज्ञा ❀ की है कि आज पीछे मैं अन्य तीर्थी और उनकी प्रतिमा तथा जिनप्रतिमा को अन्यतीर्थी ग्रहण कर अपना देव मान लिया हो तो उस प्रतिमा को भी मैं नमस्कार नही करूँगा। इससे सिद्ध है कि आनन्दादि श्रावकों ने

❀ देखो मूर्तिपूजा का प्राचीन इतिहास—प्रकरण तीसरा।

जिन प्रतिमा को वन्दन, पूजन, मोक्ष का कारण समझ के ही किया था। और उत्पातिक सूत्र में अंवड़श्रावक जोर देकर कहता है कि आज पीछे मुझे अरिहन्त और अरिहन्तो की प्रतिमा का वन्दन करना ही कल्पता है।

प्र०—ज्ञाता सूत्र में २० बीस बोलो का सेवन करना, तीर्थंकर गोत्र बाँधना बतलाया है, पर मूर्त्तिपूजा से तीर्थंकर गोत्रवन्ध नहीं कहा है ?

उ०—कहा तो है, पर आपको समझाने वाला कोई नहीं मिला। ज्ञाता सूत्र के २० बोलों में पहिला बोल अरिहन्तों की भक्ति और दूसरा बोल सिद्धो की भक्ति करने से, तीर्थङ्कर गोत्रोपार्जन करना स्पष्ट लिखा है, अरिहन्त सिद्ध आज विद्यमान नहीं हैं पर यही भक्ति मन्दिरो में मूर्त्तियों द्वारा की जाती है। महाराजा श्रेणिक अरिहन्तो की भक्ति के निमित्त हमेशा १०८ सोने के जौ (यव) बनाके मूर्त्ति के सामने स्वस्तिक किया करता था, और भक्ति में तल्लीन रहने के कारण ही उसने तीर्थङ्कर गोत्र बाँधा। कारण दूसरे तप, संयम, व्रत तो उनके उदय ही नहीं हुए थे, यदि कोई कहे कि श्रेणिक ने जीव दया पाली उससे तीर्थङ्कर गोत्र बँधा, पर यह बात गलत है, कारण जीवदया से साता वेदनीकर्म का बन्ध होना भगवती सूत्र श० ८ उ० ५ में बतलाया है, इसलिए श्रेणिक ने अरिहन्तों एवं सिद्धो की भक्ति करके ही तीर्थङ्कर गोत्रोपार्जन किया था।

प्र०—उत्तराध्ययन के २९ वें अध्यायन में ७३ बोलों का फल पूछा है, पर मूर्त्तिपूजा का फल नहीं पूछा ?

उ०—चैत्यवन्दन (मूर्त्ति-पूजा) का फल पूछा तो है, परन्तु

दुःख है कि आपने उसका देखा नहीं, ७३ बोलों में १४ वाँ बोल "थई थुई मंगलेण" अर्थात् तीर्थङ्करों को स्तुति रूप चैत्यवन्दन करने का फल पूछा, उत्तर मे भगवान् ने कहा कि तीर्थङ्करों की स्तुति करने से ज्ञान-दर्शन चारित्र की आराधना होती है, जिससे उसी भव में मोक्ष या तीन भव से तो ज्यादा कर ही नहीं सकते हैं।

प्र०—जम्बूद्वीप पन्नति सूत्र मे २६९ पर्वत शाश्वत कहा है उसमें शत्रुञ्जय का नाम नहीं आया, जिसे आप शाश्वत बताते हैं ?

उ०—शत्रुञ्जय पर तो आप फिर पधारें पर पहिले २६९ शाश्वत पर्वतो पर ही ९१ जिनमन्दिर शाश्वत होना लिखा है, इस मूलपाठ को तो आप भी मानते हो ? अब रही शत्रुञ्जय की बात सो आपके ज्ञातासूत्र पाँचवें अध्ययन में थावच्चपुत्र मुनि ने १००० साधुओं के साथ शत्रुञ्जय तीर्थ पर मुक्ति प्राप्त की, तथा सुखदेव मुनि ने १००० मुनियों के साथ वहाँ निर्वाण पद प्राप्त किया। शैलक मुनि, ५०० मुनियों के साथ वहाँ मोक्ष हुए और भी पंडव, जाली, मयाली आदि असंख्य जीवो ने उसी पवित्र तीर्थ पर जन्म मरण मिटाया, इसे तो आप भी सादर स्वीकार करते हो, जैसे इस चौवीसी में असंख्य जीव इस तीर्थ पर मुक्त हुए, वैसे गत चौवीसी में भी मुक्त हुए, ऐसी हालत मे इसे सदा के लिए पवित्र और तीर्थ रूप मान लिया जाय तो न्याय संगत ही है।

प्र०—भगवती सूत्र में पंचम आरा के अन्त में इस भारत-

वर्ष में गंगा, सिंधु और वैताड़ पर्वत के सिवाय, शत्रुञ्जय आदि सब पदार्थों का नष्ट होना लिखा है ?

उ०—जम्बूद्वीप पन्नति सूत्र में भरत चक्रवर्ती छः खण्ड साधने को जाते हैं तब ऋषभकूट पर पहिले के चक्रवर्ती का नाम देख, क्रोध के साथ उस नाम को नेस्तनाबूद कर देते हैं और अपना नाम लिखते हैं। अब बतलाइये भरत चक्रवर्ती के पूर्व अठारा कोड़ाकोड़ सागरोपम में चक्रवर्ती हुए, उन्होंने ऋषभकूट पर अपना नाम लिखा था, इससे यह सिद्ध हुआ कि ऋषभकूट शाश्वत है, पर सूत्रों में इसका नाम शाश्वत रहना नहीं बतलाया है, यह मौख्य और गौणता सूत्रों की शैली है इसी तरह शत्रुञ्जय को भी समझ लीजिये।

प्र०—भगवती सूत्र में कृत्रिम पदार्थ की स्थिति संख्यात काल की लिखी है, तो अष्टापद पर भरत के बनाये मन्दिरों की यात्रा गौतम स्वामी ने कैसे की ? क्योंकि भरत और गौतम के बीच तो असंख्य काल का अन्तर है।

उ०—जम्बूद्वीप पन्नति सूत्र में छ' आरों का वर्णन है, पहिले आरा के वर्णन में बावड़ियें बतलाई हैं। पहिले आरा के पूर्व, नौ कोड़ाकोड़ सागरोपम तो युगलिया रहे, उन्होंने तो वे बावड़ियें बनाई नहीं और उन बावड़ियों को शाश्वती सूत्रों में भी कहीं नहीं तो फिर वे बावड़ियें असंख्य काल कैसे रहीं। यदि यह कहा जाय कि देवताओं की सहायता से असख्य काल रह सकती हैं तो अष्टापद के मन्दिर भी देवताओं की सहायता से असख्य वर्ष रह गए हों तो क्या आश्चर्य है ?

प्र०—यदि जैन-मूर्ति नहीं मानने वालों का मत झूठा है तो

आज लौकाशाह के मत को पाँच लाख मनुष्य कैसे मान रहे हैं ?

उ०—जन संख्या अधिक होने से ही किसी मत की सत्यता नहीं कही जाती है। यदि ऐसा ही है तो मुसलमान धर्म को भी आपको सत्य मानना पड़ेगा, क्योंकि उसको तीस करोड़ मनुष्य मानते हैं। दूसरा आप अपनी संख्या पाँच लाख की कहते हैं यह भी दुनियाँ को धोखा देना ही है, कारण कुल १३ तेरह लाख के करीबन जैनी हैं, जिसमें दिगम्बर कहते हैं कि हम छः लाख हैं, तेरह पन्थी कहते हैं कि हम २ लाख हैं और आप कहते हो कि हम ५ लाख हैं, इस प्रकार ६-२ और ५ कुलतेरह लाख तो तुम ही हो गये तो फिर श्वेताम्बर मूर्त्ति-पूजक समाज का तो नाम ही न रहा। धन्य है आपकी सत्यता को।

जैन श्वेताम्बर मूर्त्ति-पूजक समुदाय के भारत भर में ४०००० मन्दिर हैं, यदि एक मन्दिर के कम से कम १५-१५ उपासक ही गिने जाँय तो भी मूर्त्ति-पूजक जैनों की संख्या ६ लाख होने में कोई सन्देह नहीं रहता है। वास्तव मे विचार किया जाय तो भारत में ४ लाख दिगम्बर, ६ लाख श्वेताम्बर मूर्त्तिपूजक और ३ लाख स्थानकवासी और तेहरपन्थो जैनी होना सम्भव है। कारण गोड़वाड़ और सिरोही राज्य में एक लाख जैनों में ५०० मनुष्य शायद् स्थानकवासी हैं, गुजरात प्रान्त में प्राय. जैन मूर्ति पूजक ही हैं, केवल अहमदाबाद में ४०००० मूर्त्तिपूजक जैन हैं, इसी प्रकार बम्बई में भी ४०००० मूर्त्तिपूजक जैन हैं। और भी भावनगर, जामनगर, सूरत, भरूच, बड़ोदा, पाटण, मैहसाणा आदि बड़े २ नगरों में प्रायः श्वेताम्बर मूर्त्तिपूजकों की ही बस्ती है।

मूर्तिपूजक जैन भारत के चारों ओर फैले हुए हैं। स्थानकवासियों की ऐसी शायद ही कोई बस्ती हो जहाँ मूर्तिपूजकों का बिलकुल अस्तित्व न हो। यह छोटे ग्रामों की नहीं पर बड़े नगरों की बात है। इस हालत में मूर्त्तिपूजक हम श्वेताम्बरियों का नितांत अस्तित्व मिटा आप अपने को ५ लाख समझना यह भ्रम नहीं तो और क्या है?

०—भगवान् ने तो जगह २ पर अहिंसा धर्म का उपदेश दिया है और आप हिंसा में धर्म क्यों बताते हो।

उ०—गजब २ यह किसने कहा? क्या आप किसी धोखेबाज के फन्दे में तो नहीं फँस गए हो, जो ऐसी बिना सिर पैर की बातें करते हो? हम क्या कोई अनजान जैन भी हिंसा में धर्म नहीं मानता है? जैन धर्म का तो "अहिंसा परमो धर्मः" यही महा वाक्य है, हिंसा में धर्म माननेवाले को जैन, मिथ्यात्वी समझते हैं। यदि जैन हिंसा में ही धर्म मानते तो अधिकाधिक हिंसा करते फिर एकेन्द्रिय की हिंसा ही क्यों करें? पंचेन्द्रिय की हिंसा करें जिससे धर्म भी अधिकाऽधिक हो। वाह महाशय! वाह! क्या किसी मूर्त्तिपूजक ने यह कहीं लिखा या कहा है कि हिंसा करने में धर्म होता है?

प्र०—मूर्त्तिपूजकों के मुँह से तो नहीं सुना और न उनके लेख में पढ़ा, पर कई लोग ऐसी बातें कहते जरूर हैं?

उ०—कई लोगों के कहने से जैनों पर व्यर्थ दोषारोपण करना यह कितना भारी अन्याय है? जैन श्वेताम्बर मूर्त्तिपूजक अहिंसा धर्म के कैसे प्रचारक हैं यह किसी से छिपा नहीं है। आर्य सुहस्ती सूरि के उपदेशों से सम्राट् सम्प्रति ने भारत

और भारत के बाहिर अनार्य देशों में भी अहिंसा धर्म का प्रचार किया था, आचार्य रत्नप्रभसूरि ने हिंसक मनुष्यों को अहिंसक बनाया, जो ओसवाल नाम से आज भी प्रसिद्ध हैं। आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने अट्ठारह देशों में अहिंसा का झंडा फहराया। उनके अहिंसा उपदेश को श्रवण कर भक्त लोगो ने तालाब, नदियें, कुआ, आदि पर जल छानने के वस्त्र बाँध दिये थे, ऊँट बकरी आदि वन के एवं नगर के पशुओं को भी छना हुआ जल पिलाया जाता था। आचार्य विजयहीरसूरि ने बादशाह अकबर को उपदेश देकर एक वर्ष में छः मास तक हिंसा बन्द करवाई। बहुत से राजाओं के राज्यों में अकते (व्रत विशेष) पलाये गये। इस प्रकार के अहिंसा के उपदेश देने वाले महापुरुषों को क्या आप हिंसा-धर्म के समर्थक कहते हैं ? बलिहारी है आपकी बुद्धि की, आपके विना ऐसे निःसार आक्षेप अन्य कौन करे ? कारण जैनेतर लोग तो जैनों को कट्टर अहिंसा धर्मी मानते हैं और आप उन्हे हिंसा-धर्मी कहते हो। यही आपकी कृतज्ञता (!) का परिचय है कि जिन महानुभावों ने आपके पूर्वजों को माँस मदिरादि का सेवन छुड़ाया उन्हे आप हिंसाधर्मी कहते हो। क्या दया-दया के रटनेवाले अपने जन्म से आज पर्यन्त पूर्वोक्त कार्यों का एक अंश मात्र भी अहिंसा का प्रचार करना बतला सकते हैं ? या दूसरो की व्यर्थ की निन्दा करना ही अहिंसा समझ रक्खी है ?

प्र०—ऐसा तो नहीं; पर आप मूर्त्तिपूजा मे हिंसा करके धर्म मानते हो, इसीसे हम ऐसा कहते हैं ?

उ०—सिद्धान्तों में मूर्त्तिपूजा की जो विधि बताई है, उसी

विधि से भक्त जन पूजा करते हैं। इसमें जल चन्दनादि द्रव्यों को देख के ही आप हिंसा २ की रट लगाते हो तो यह आपकी भूल है। यह तो पाँचवें गुणस्थान की क्रिया है पर छट्टे से १३ वें गुणस्थान तक भी ऐसी क्रिया नहीं है कि जिसमें जीव-हिंसा न हो खुद, केवली हलन चलन की क्रिया करते हैं, उसमें भी तो जीव-हिंसा अवश्य होती है, इसी कारण से उनके दो समय का वेदनीकर्म का बंधन होता है। यदि साधु, श्रावक की क्रिया में हिंसा होती ही नहीं तो वे समय २ पर सात कर्म क्यों बाँधते हैं ? इसका तो जरा विचार करो। जैसे पूजा की विधि मे आप हिसा मानते हो तो आपके गुरु-वंदन में आप हिंसा क्यों नहीं मानते हो ? उसमें भी तो असंख्य वायुकाय के जीव मरते हैं। साधु व्याख्यान देते समय हाथ ऊँचा नीचा करे, उसमें भी अनगणित वायुकाय के जीव मरते हैं। इसी तरह आँख का एक बाल चलता है तो उसमें भी अनेक वायुकाय के जीव मरते हैं। यदि आप यह कहो कि वंदना करने का, व्याख्यान देने का, परिणाम शुभ होता है; इससे उस हिंसा का फल नहीं होता, वो हमारी मूर्त्तिपूजा से फिर कौनसा अशुभ परिणाम या फल होता है, जो सारा पाप इसी के सिर मढ़ा जाय ? महाशय ! जरा समदर्शी बनो ताकि हमारे आपके परस्पर नाहक का कोई मत-भेद न रहे।

प्र०—पूजा यत्नों से नहीं की जाती है।

उ०—प्रभु पूजा सामायिक-पौसह प्रतिक्रमण गुरुवन्दनादि प्रत्येक क्रिया यत्नों से सोपयोग करनी चाहिये। पर अयत्ना देख उसे एक दम छोड़ ही नहीं देना चाहिये। जैसेः—श्रावक को

सामायिक ३२ दोष वर्ज के करना कहा है। यदि किसी ने ३१ दोष टाले, किसी ने २९ दोष टाले, इसका अर्थ यह कदापि नहीं होता कि एक दोष न टालने से सामायिक को ही छोड़ देना चाहिए। इसी प्रकार कई देश, काल ऐसे ही होते हैं कि, अनिच्छया जान-बूझ के दोष का सेवन करना पड़ता है। जैसे साधुओं को पेशाव, टट्टी ग्राम व नगर में नहीं परठना, ऐसा शास्त्रों में आदेश है, पर वे देशकाल को देख, जानबूझ कर इस दोष का सेवन करते हैं, ऐसे २ एक नहीं पर अनेकों उदाहरण विद्यमान हैं।

प्र०—सूत्रों में १२ कुल की भिक्षा लेना कहा है तब आप लोग एक जैन कुल की ही भिक्षा क्यों करते हो?

उ०—जैन कुल की भिक्षा लेना तो मना नहीं है न, जो १२ कुल की भिक्षा लेना लिखा है पर उस समय वे सब कुल प्रायः जैन धर्म पालन करते थे। उनका आचार, व्यवहार शुद्ध था और जैन मुनियों को बड़े ही आदर से भिक्षा दिया करते थे पर आज वे कई लोग जैन नहीं रहे, जिन के यहाँ ऋतुधर्म पालन नहीं होता हो, वासीविद्वल से परहेज नहीं, सुवासुतक (जन्म-मरण) का ख्याल नहीं, चार महा विगई आदि अभक्ष पदार्थों का त्याग नहीं, साधु को देख निंदा या दुगंच्छा करते हों अनादर से भिक्षा देते हों जिस कुल में भिक्षार्थ जाने से जैनधर्म व जैनसाधुओं की निन्दा होती हो ऐसे कुल में भिक्षा को जाना शास्त्रों में मना किया है देखो "दशवैकालिक सूत्र पाचवाँ अध्ययन पहला उद्देशा की सत-रहवीं गाथा" तथा पूर्वोक्त कुल में भिक्षार्थ जाने से चतुर्मासिक प्रायश्चित होना भी निशीथ सूत्र में बतलाया है।

प्र०—सूत्रों में २१ प्रकार का पाणी लेना कहा है, आप केवल

उष्ण जल ही लेते हो तो क्या इसमें आधाकर्मी का दोष नहीं लगता होगा ?

उत्तर—२१ प्रकार का पानी लेना हम इन्कार नहीं करते हैं पर शास्त्रों में बतलाया वैसा पानी मिले तो लेना कोई दोष नहीं है, पर चूल्हो के पास अनेक प्रकार के पाणी एकत्र हो वैसा पानी लेना शास्त्रों में कहा भी नहीं कहा है कारण विस्पर्श होने से उसमे असंख्य त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं और अन्न संयुक्त पाणी में निगोदें जीव भी पैदा होते हैं और धोवण का काल भी थोड़ा है। वर्ण गन्ध रस स्पर्श पलटने से उसमें असख्य जीव, पैदा होना आचारांग सूत्र में कहा है इसलिये जहां फाशुक धोवन न मिले वहा गरम पानी लेना मना नहीं है। अब रही आधाकर्मी की बात उसको भी सुन लीजिये कि न तो केवल गरम पानो लेने से आधा कर्मी दोष लगता है और न धोवण लेने से दोष से बच भी सकता है कारण बड़े-बड़े नगरो में गरम पाणी निर्दोष मिलता है तब छोटे गांवडों में धोवण भी दोषित मिलता हैं। गरम पानी पीने वालो को तो कहां-कहा स्थावर जीवों का ही अपवाद से किंचित् दोष लगता है पर धोवण वालो को स्थावर जीवों के अलावे धोवण को काल के उपरान्त रखने से त्रसजीवों का भी पाप लगता है। कई लोग तो राख का, छाछ का, आटा का और साकर का पानी लेकर पीते हैं वे तो ऐसा पानी लाते हैं कि मानो प्रत्यक्ष में कच्चा पानी का ही सेवन करते हैं। हाँ, कपटाई और माया मृषावाद का पाप विशेष में सेवन करते हैं। बन्धुओं! गामडों में जैन लोगों की बस्ती बहुत कम हो जाने से विहार के समय अपवाद में ऐसे दोष सबको

लगते हैं उसकी आलोचना करे और शुद्ध फाशुक आहार पानी की गवेषण करेगा वह ही आराधक होगा। शेष हलवाइयों की दुकानों पर वक्त वे वक्त फिरते रहना मानो एक जैनधर्म की निन्दा करवा के मिथ्यात्व का पोषण करना है। समझे न—

प्र०—मन्दिरों के लिये तो आपका कहना ठीक है, पर हम देखते हैं कि आपके संवेगी साधुओं के आचार में बड़ी शिथिलता है?

उ०—हमारे साधुओं में आपने क्या आचार-शिथिलता देखी और आपके साधुओं में क्या उत्कृष्टता समझी, क्योंकि जमाने की हवा किसी एक समुदाय के लिये नहीं होती है, वह सबके लिये समान रूप में ही है। फिर भी आपको यह भ्रम-रोग हुआ हो तो कृपया बतलाइये—कि उसका इलाज भी तैयार है?

प्र०—आपके साधू विहार करते हैं, तब ऊँटगाड़ी और आदमी साथ में रखते हैं और उनकी बनाई रसोई से आहार-पानी ले लेते हैं?

उ०—हमारे साधुओं के साथ भक्ति करने कराने वाले रहते हैं, जैसे कि तीर्थंकरों की सेवा में करोड़ों देव रहते थे, फिर जिनका पुण्य और अतिशय। पर आप बतलाइये कि आपके पूज्य फूलचन्दजी स्वामी श्री सम्मेतशिखर की यात्रार्थ और कलकत्ते की ओर पधारे। वहाँ रास्ता मे बहुत से ग्राम मांसाहारी लोगों के आते हैं। मेरे खयाल से स्वामीजी ने उन मांसाहारी घरों का अन्न-जल तो नहीं लिया होगा। इस हालत मे उनको आदमी रखना ही पड़ा और उन आदमियों की बनाई रसोई भी लेनी पड़ी। इसी भांति स्वामी घासीलालजी करॉंची पधारे, तब

भी साथ में आदमी थे और उदार गृहस्थों ने रास्ते में गौचरी के लिये रुपये बँधाये थे। इस प्रकार दक्षिण विहारी साधुओं का हाल है और इस अपवाद से तेरहपन्थी साधु भी बच नहीं सके। उनके पूज्यजी के पीछे गाड़े और आदमी रहकर भोजन बनाके पूज्यजी के पात्र-पोषण करते हैं। यदि आप इसको अपवाद मानेंगे तो फिर दूसरों की व्यर्थ निन्दा क्यों ? संवेगियो में तो चतुर्विध-सघ का जाना आना कदीमी से है, पर आपने तो यह नया ही मार्ग निकाला है, इस पर भी दूसरों की निन्दा करना आपने क्यों पसन्द की है ?

प्र०—आपके साधु हाथ में डण्डा क्यो रखते हैं ?

उ०—यों तो साधुओं को गमनाऽगमन समय डण्डा रखना शास्त्रकारों ने फरमाया ही है, पर डण्डा रखने में प्रत्यक्ष कितने फायदे हैं—शरीर-रक्षा, संयम-रक्षा, नदी वगैरह उतरते पानी का माप, ब्रह्मचर्य की रक्षा, जीव-दया, जङ्गल में अकस्मात साधू बीमार हो जाय तो झोली कर उठाने में भी काम आता है और पूर्वोक्त कारणो मे डण्डा रखना आप भी पसन्द करते हो, इतना ही क्यो आपके साधु रखते भी हैं।

प्र०—कई लोग कहते हैं कि धोवण पीना कठिन है, इसलिये सवेगी साधु गरम पानी पीते हैं ?

उ०—यह तो जिन्होंने अनुभव किया है वेही जानते हैं, क्योंकि धोवण से इन्द्रियो को पोषण मिलता है। तब गरम पानी से इन्द्रियों का दमन होता है। जो वर्तमान धोवण होता है, इसमें अपकाय के तो क्या, पर त्रसजीव भी रहते हैं, जिसको 'फुवारा' कहते हैं और उनको तालाब कुँआ के किनारे गीली

भूमि पर परठते हैं। वह भूमि बहुत दिनों की गीली होने से निगोद (नीलण फूलण) के अनन्त जीव संयुक्त होती है। उस धोवण के पानी एवं फुवारे परठने से एक ओर तो धोवण के स्पर्श से वे निगोद के अनन्त जीव मरते है, तब दूसरी ओर वे धोवण के त्रसजीव गायो आदि के खुरो से बुरी हालत मे मरते हैं। इस प्रकार वज्रपाप की गंठरी शिर पर उठाते हुए भी आप अपनेको उत्कृष्ट समझना इसमे सिवाय अज्ञानता एवं अन्ध परम्परा के और क्या हो सकता है इसके विषय मे एक खास अनुभव घटना आपके सामने रख देता हूँ। जो खास कर मनन करने काबिल है।

एक छोटा गामड़ा मे ग्रीष्मऋतु के समय एक ओर से तो संवेगी मुनियो का आना हुआ तब उसी दिन उसी ग्राम मे स्थानकवासी साधुओ का पधारना हुआ पर श्रावकों के घर थोड़े और विवेक का भी अभाव था सिर्फ एक विधवा बहन स्थानकवासी साधुओ के परिचय वाली थी कि उसने अपने घर पर जाकर थोड़ा धोवण बनाया और वे साधु जा कर धोवण लाया पर गरमी के समय इतना पानी से क्या होने वाला था। साधुग्राम में जाट माली दरोगा वगरह इतर जातियों के वहाँ से और अन्त में कुँभारो के वहाँ से मिट्टी का पानी ले आये पर संवेगी साधु तो भूखे प्यासे ही बैठे रहे। इतने में एक श्रावक आया और कहने लगा कि—

श्रावक—महाराज, आप भी गोचरी पधारो?

महाराज— श्रावक, मैं घरों में जाकर आया हूँ। किसी घर में गरम पानी नहीं मिला। फिर केवल गौचरी को ही क्या करें?

श्रावक—पधारो मेरे साथ दरोगों के वहाँ से आपको धोवण मिल जायगा।

महाराज—दरोगा माँस मदिरा तो नहीं खाते हैं न।

श्रावक—ये तो उन लोगों में प्रथा है।

महाराज—बस ? हम ऐसे घरोका आहार पानी नही लेते हैं।

श्रावक—हमारे महाराज तो वहां से धोवण चटनी, शाक और रोटी ले आये हैं फिर आप ही नही लेते हैं ऐसा क्या कारण है ?

महाराज—जिन घरों में मांस मदिरा खाते हो, वासी विद्रूल नही टालते हो, सुवा-सुतक और ऋतुधर्म का परहेज नहीं रखा जाता हो, ऐसे घरो से आहार पानी साधुओं को नही लेना चाहिये क्योंकि ऐसे अशुद्ध आहार पानी खाने पीने से वुद्धि विध्वंस और चित्तवृति मलीन हो जाती है इसलिये शास्त्रकारो ने ऐसे घरों का आहार पानी लेना मना किया है।

श्रावक—जब तो आपके लिये गरम पानी करना पड़ेगा पर इसमें आरंभ होगा ?

महाराज—मैं कब कहता हूँ कि तुम हमारे लिये गरम पानी करो।

श्रावक—तो क्या आप हमारे ग्राम में भूखे प्यासे रहेगे ?

महाराज—इसमें क्या, हम साधु हैं।

श्रावक—दूसरे महाराज तो हमारे यहाँ से धोवण ले गये।

महाराज—वह धोवण किसके लिये बनाया था ?

श्रावक—भद्रिकपना से सत्य कह दिया कि महाराज के लिये।

महाराज—इसमें आरम्भ हुआ, वह पाप किसको लगेगा।

श्रावक—पर आरम्भ नहीं करे तो क्या इस गरमी में साधु

प्यासा रहेगा। हम तो गृहस्थ हैं और आरम्भ में ही बैठे हैं धोवण बनाया तो इसमें हुआ क्या?

महाराज—नहीं। धोवण बनाने में तो कुछ नहीं परन्तु जो कुछ पाप और महापाप है तो गरम पानी बनाने में हैं।

श्रावक—नहीं महाराज हमारा ग्राम छोटा है कभी साधु आते हैं तो हम धोवण भी करते हैं और गरम पानी भी करते हैं पर थोड़े दिनों पहिले आरजियाजी आये थे वे बाईको गरम पानी करने के सोगन (त्याग) करवा दिया इसलिये बाई ने गरम पानी नहीं किया है।

महाराज—क्यों भाई! केवल गरम पानी का ही त्याग क्यों किया, क्या धोवण करने में पानी के जीव नहीं मरते? और उसका पाप नहीं लगताहै ?

श्रावक—धोवण बनाने में पानी के जीव तो मरते ही हैं।

महाराज—फिर आरजियों ने धोवण करने के त्याग क्यों नहीं कराये?

श्रावक—महाराज! हम तो गृहस्थ हैं।

महाराज—अच्छा भाई धर्म-लाभ।

उपरोक्त संवाद से आप समझ सकते हो कि कठिनाई धोवण पीने में है या गरम पानी पीने में। कदाचित् संवेगी साधुओ को गरम पानी मिल भी जाय तो उसको ठारने में कितना समय चाहिये? इस हालतमे भी यह कहदेना कि धोवण पीनेमें कठिनाई यह कितना अन्याय? और अपनी शिथिलता का दोष औरों पर डालना यह कैसी माया कपटाई।

प्र०—तब फिर कई लोग यह क्यों कहते हैं कि हमारी क्रिया

कठिन है जिन्होंसे नहीं पलती है वे लोग हमारे से निकल कर संवेगी बन जाते हैं।

उ०—यह केवल अपने भक्तों को आश्वशना देकर आंसू पूंछना ही है। भला, आपही सोचिये जिन्होने दश बीस और तीस-तीस वर्ष तक तो आपकी क्रिया पाली, आपकी समाज में उन्हों की बड़ी ही मान प्रतिष्ठा रही और आप लोग वाह-वाह करते थे जहाँ तक उन्होंने आपकी समुदायका त्याग नहीं किया, फिर आपकी समुदाय का त्याग करते ही वे कैसे शिथिलाचारी हो गये ? इसको आप सच्चे हृदय से सोच सकते हो। यदि एक दो व्यक्ति के लिये तो आप स्वेच्छा कल्पना कर सकते हो और भद्रिक जनता उसे मान भी ले पर सैंकड़ो साधु निकल जाना और जिस समुदाय में जावें वहाँ प्रतिष्ठा प्राप्त करना यह कोई साधारण बात नहीं हैं। अब हम आपका भ्रम निवारणार्थ कतिपय उदाहरण यहाँ उद्धृत कर बतलाते हैं।

संवेगी मुनियों की दिनचर्या	स्थानकवासी साधुओं की दिनचर्या
१—जितनी धर्म क्रिया करते हैं वह स्थापनाचार्य के सामने अदब के साथ करते हैं।	०००स्थापनाचार्य नहीं रखते हैं इसलिये सब क्रिया अविवस्थ ही करते हैं।
२—पिछली रात्रि में उठ कर इर्यावही पूर्वक कुसुमिणं दुसुमिणं० का काउस्सग्ग करते हैं।	०००इस क्रिया को जानते भी नहीं हैं जा खास जरूरी है। × ×
३—जगचिन्तामणिका चैत्य-	०००नहीं करते हैं।

वन्दन जो वीतराग का भाव स्तव करते हैं।	X X
४—भरहेसर की स्वद्याय जिसमे उत्तम पुरुषों के गुणस्तव है	०००नियमत स्वद्याय नही करते हैं।
५—विधिपूर्वक प्रतिक्रमण (राई)	विधि नही पर छोटा-सा प्रतिक्रमण करते हैं।
६—श्रीसीमंधरतीर्थंकरका तथा सिद्धाचल का चैत्यवन्दन।	०००नही है।
७—क्रमशः प्रतिलेखन जिसमे जितनेपदार्थोंकी प्रति लेखन की जाती हैं वह सब हेतु सहित करते हैं।	०००न तो क्रम है और न हेतु ही है जहां बैठे वहां कपड़े देख लेते हैं।
८—गुरुवन्दन-स्वद्याय और सज्झातरकाघर तथा सूक्ष्म कार्य तक का भी गुरु आदेश लिया जाता है।	विवस्था पूर्वक इसमे एक भी काम नही है। X X
९—मन्दिर जाकर चैत्यवन्दन करते हैं (तीर्थंकरो की भावस्तव-भक्ति)	०००मन्दिरों की निन्दा करते हैं। X X
१०—पौरसी भणाणी मुँहपत्ती का प्रतिलेखन।	०००समझते भी नही है।
११—पठन पाठन करना।	पठन पाठन करना। X X

१२—गोचरी-हाथ की कलाई पर झोली, गुप्त पात्र और जीव-दया निमित्त झोली पर पहिला रखते हैं।	झोली हाथ में लटकती, पात्रों की प्रसिद्धि, पहिला में तो समझते भी नहीं हैं।
१३—वासी विद्वल सुवा सुतक और ऋतुधर्म वाली के हाथ से या घरों से भिक्षा नहीं लेते हैं।	इन दोषो से कोई भी दोष हो गोचरी ले लेते हैं जो निषेध किया कुल के वहां भी जा कर भिक्षा ले लेते हैं।
१४—गौचरी से आकर आलोचन विधि पूर्वक करते हैं।	कार्य वही करते हैं पर विधि नहीं जानते हैं।
१५—जगचिन्तामणिका चैत्य-वन्दन कर मुँहपत्ति का प्रतिलेखन पूर्वक पच्चक्खांन पारते हैं।	इस क्रिया स तो अज्ञात ही हैं केवल थोड़ासा शब्दो से पच्चक्खांन पार लेते हैं।
१६—गौचरी करने के बाद बिना चैत्यवन्दन किये पानी तक भी नहीं पी सकते हैं।	०००इस बात को ये लोग समझते भी नहीं हैं क्रिया तो कहाँ रही।
१७—पठन पाठन।	पठन पाठन।
१८—विधिपूर्वक प्रतिलेखन स्वध्याय प्रत्याख्यान थंडिल शुद्धि।	प्रतिलेखन करते हैं पर विधि-पूर्वक नहीं, स्वध्याय का भी नियम नहीं, थांडिल शुद्धि से तो अज्ञात ही हैं।
१९—देववन्दन (तीर्थंकरों की स्तुति)	०००नहीं करते हैं।

२०—प्रतिक्रमण (देवसी) विधिपूर्वक।	विधि का क्रम नही है।
२१—चैत्यवन्दन (चउकषाय)	०००कुछ नही।
२२—संस्तारा पौरसी।	०००कुछ नही।
२३—पर्वादि तिथियों मे बड़े देववन्दन किये जाते हैं जिसमे दो दो तीन तीन घण्टे तक तीर्थंकरो को स्तुति वन्दन किये जाते है।	०००कुछ नही। × ×
२४—बड़ी दीक्षा के योगोद्वाहन में एक मास तक लगातार आबिल करते हैं।	०००कुछ नहीं। × ×
२५—कोई भी सूत्र पढ़ो उनके योगोद्वाहन करने पड़ते हैं जो श्रीभगवती सूत्र के लगातार छ. मास आबिल करने पडते है।	०००समझते भी नही हैं। × ×

उपरोक्त तालिका से आप समझ सकते हो कि स्थानकवासी साधुओ मे ऐसी कोई भी धर्म क्रिया नही कि जो वह शास्त्रानुसार हो और जिसको संवेगी साधु नही करता हो, पर संवेगियो के अंदर ऐसी बहुत सी धर्म क्रियाएँ शास्त्रानुसार हैं कि जिसको आद्यविधि स्थानकवासी समझते भी नहीं हैं तो करना तो रहा ही कहां। फिरभी यह कहना कि हमारी कठिन क्रिया न पलने से स्थानकवासी साधु, संवेगी हो जाते है, यह कितना अन्याय, यह

कितना मिथ्याभिमान ? परन्तु आज भी स्थानकवासी समाज में ऐसे कई मुमुक्षु आत्मा हैं कि वे अच्छी तरह से समझते हैं कि संवेगियों की श्रद्धा और क्रिया शास्त्रानुसार है परन्तु क्या करें अब संवेगी बने तो इतना बड़ा प्रतिक्रमण और दूसरी भी क्रिया करनी पड़े इत्यादि विचार से वे इच्छाके न होनेपर भी वाड़ाबन्धी मे अपने दिन निकाल रहे हैं। कभी तीर्थ और छोटे ग्रामो में जाते हैं तब वे तीर्थंकरों की शान्त मूर्ति के दर्शन कर उल्लासित होतेहैं।

प्र०—खैर। क्रिया आप के धर्म में ज्यादा है और हमारे साधु भी आपस में बातें करते हैं कि क्रिया का विधि विधान संवेगियों में अधिक है परन्तु यह तो आप को भी मानना पड़ता है कि तपस्या हमारे अन्दर ज्यादा है ?

उ०—आप के अन्दर बाल-तप है क्योंकि शास्त्र में तो तीनोपवास के बाद एकान्त गरम पानी पीने का विधान है तब आप के अन्दर मुँह से और पत्रिकाओ में छपवाते हो कि अमुक महाराज ने एक मास एवं दो तीन चार मास के उपवास किया है और उस तपस्या के अन्दर खाटा, मीठा, चरका धोवण ही नहीं पर अधविलोई छास तक भी पी जाते है। क्या यह समवायांग जी सूत्र समवाय ३० के अनुसार महामोहनीय कर्म बन्धका कारण नहीं है क्योंकि वहा स्पष्ट लिखा है कि तपस्वी नही और तपस्वी कहलावे तो महामाहेनीय (सित्तर कोड़ा कोड़ सागरोपम के) कर्म बन्धते हैं। तब संवेगियो के अन्दर एक उपवास से मास खामण दोमास तीनमास और चारमास की तपश्चर्या करने वाले भी सिवाय गरम पानी के कुछ भी नहीं पीते हैं साथ में आप की तपस्या तो केवल भूखा मरने की है क्योंकि आपके

गुरुजी आंबिल एकासना तक के पचाक्खान तक भी नहीं करा जानते हैं और न कोई तपस्या का उद्यापनादि प्रभाविक विधान ही करते हैं जब संवेगियों में तपस्या के शुद्ध प्रत्याख्यान और तपस्या के बाद पूजा प्रभावना स्वमिवात्सल्य उज्जमना करते हैं बाजा गाजा से मन्दिरो के दर्शन करते हैं। जिस चम्पाबाई की तपस्या का प्रभाव सम्राट् बादशाह अकबर पर हुआ था और उसने आचार्य श्री विजयहीरसूरिको आमन्त्रण पूर्वक बुलवा के भेट की एवं उपदेश सुना। फल स्वरूप में एक साल मे ६ मास तक भारत भर में हिन्सा बन्ध करवाने का फरमान लिख दिया इतना ही क्यों, पर आचार्य श्रीजगच्चन्द्रसूरि की घोर तपश्चर्या के कारण चित्तोड़ के महाराणा ने आप को 'तपाविरूद' दिया उनकी संतान मे तपस्या करना सेकडो वर्षों से आज पर्यन्त चला आ रहा है। फिर भी संवेगी समुदाय में विशेष लक्ष ज्ञानाभ्यास की ओर दिया जाता है क्योकि शास्त्रकारो का यही अभीष्ट है कि पहिले ज्ञान और बाद में क्रिया एव तपस्या ज्ञान के अभाव में तपस्या केवल काया कष्ट एवं नि.सार बतलाई है। प्रत्येक दीक्षित के पाठ मे यही आता है कि दीक्षा लेते ही सब से पहिला सामायिकादि ग्यारांग या चौदहपूर्व का ज्ञान पढ़ा और बाद मे चोथ छट्टमादि तपस्या की। जब आप अपनी समुदाय मे देखिये धोवण और छास के आधार पर मास मास की तपस्या करने वालो को बोलने का भी होंसला नही। यदि उनकी प्रतिक्रमण की परीक्षा ली जाय तो १०० मे पांच साधु साध्वियों के प्रतिक्रमण शायद शुद्ध मिलेंगे? तब संवेगी साधुओं मे आपको ऐसे सैंकड़ों साधु मिलेंगे जो उच्च कोटि के

विद्वान हैं और अनेक विषयों पर अनेकानेक ग्रन्थों को निर्माण कर साहित्य की सेवा करने वाले प्रसिद्ध हैं। और उन्हीं महापुरुषों का प्रभाव है कि आज संसार के साहित्य में जैन साहित्य का सर्वोपरी आसन समझा जा रहा है। इतना ही क्यों, पर आज तो पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वान उन धुरधरों के रचित साहित्य की मुक्त कण्ठ से भूरि भूरि प्रशंसा कर रहे हैं। समझे न मेहरबान, यहां तो "ज्ञान क्रिया से मोक्ष" को मोक्ष मार्ग माना जाता है।

प्र०—यह तो आप को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारे बनिस्बत आप के अन्दर आडम्बर विशेष बढ़ गया है ?

उ०—हमारे तो तीर्थंकरों के समय भी यथावश्यक्ता आडंबर था ही जैसे सूरियाभादि अनेक देवों ने भगवान् के समवसरण में नाटक किया। श्रेणिक उदाइ चटेक दर्शानभद्र कूणिकादि अनेक भूपतियों ने भगवान् का वन्दन निमित नगरो को सुशाभित करना, सड़कों को छटकाना, पुष्पों और धूपों से दिशाएें सुगन्धी मय बनाना, हस्ती अश्व रथ और पैदल की सजावट करना, इत्यादि शंक्ख पोक्खली का स्वामिवात्सल्य द्रौपदी की सोलह सत्रह भेदी पूजा, धर्मचक्र इन्द्रध्वज आशोकवृक्ष भामण्डलादि सब प्रकार की सामग्री से जिन शासन की प्रभावना करते ही आये हैं। पूर्व जमाने में समाज की सख्या और समृद्धि विशाल थी। उस हालत में वे विशेषाडंबर करते थे आज हमारे पास जो है उस प्रमाण में हम भी करते हैं परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि जिस आडम्बर की जो लोक निंदा करते थे पाप और महापाप बतलाते थे वे हमारे से भी कई गुणां आगे पहुच गये है। क्या

किसी सवेगी साधुओ के चतुर्मास में और विशेप पर्युषण जैसे आराध्य दिनोमें भट्टियें धधकती देखी या सुनी है जैसे स्थानकवासी साधुओ के चतुर्मास में देखी जा रही हैं। क्या किसी संवेगी साधुओ के तपस्या के पारणे में सैकडो लोग एकत्र होना देखा है जैसे स्थानकवासियो के यहां होता है। इसी प्रकार दीक्षा समय, ज्य के मृत समय, इतना ही क्यों, पर हलते-चलते पूज्यजी एक नगर में पधारते हैं वहां पाच सात दिनोंमें हजारों का धूआँ करवा देते हैं। तेरहपन्थियों के पाट महोत्सव के दिन हजारो भावुक एकत्र होते हैं और रेल्वे को हजारो रू० किराये के देते हैं। अब सोचिये पूज्यजी के दर्शन का पुन्य ज्यादाहै या रल्वे के पैसो से पांचेन्द्रिय प्राणियोकी हिंसा होगी उसका पाप ज्यादाहै फिर भी सवेगी समुदायतो बहुत प्राचीन वृद्धहै कि उनमें इतना आडम्बर नही रहा है पर हमारे स्थानकवासी और तेरहपन्थी अभी बालावस्था मे हैं इसलिये आडम्बर और आरम्भ मे संवेगियों से कई गुणे आगे बढ़े हुए हैं और न जाने भविष्य मे और कहाँ तक बढ़ेगा क्यों ठीक है न मेहरबान! फरमाइये और भी आपको कुछ पूछना है

प्र०—मूर्तिपूजा का आप इतना आग्रह क्यों करते हैं? क्या मूर्तिपूजा ने देश को कम नुकसान पहुँचाया है? पशु तो क्या पर नरबलि की प्रथा मूर्त्तियो द्वारा ही प्रचलित हुई है?

उ०—आप साधुओं का आग्रह क्यो करते हैं? कारण, क्या पशु और क्या मनुष्यो का बलिदान और क्या मांस-मदिरा का प्रचार यह सब साधुओ द्वारा ही हुआ है और आज भी हजारो साधु मांस भक्षण करते हैं।

प्र०—वे साधु हमारे जैन के एवं हमारी समुदाय के नहीं हैं?

उ०—तो क्या वे मूर्त्तियाँ हमारे जैन धर्म की हैं कि जिनके सामने पशु या नर वलि दी जाना वतलाते हो ?

प्र०—मैं कब कहता हूँ कि वे जैन मूर्त्तियाँ हैं ?

उ०—तो फिर आप नरवलि का उदाहरण मूर्त्ति के साथ क्यों जोड़ देते हो ? यदि आप का यही आग्रह है तो आपके साधुओं के साथ भी मांस भक्षण की तुलना क्यों नहीं करते हो ? क्योंकि दुनियाँ में कई साधु भी माँस भक्षण करते हैं। वास्तव में यह आपकी अज्ञानता है कि आप विना विचारे यद्वतद्व बोल उठते हैं, फिर आपके घर पर आ पड़ता है तब लज्जित होना पड़ता है। वस्तुतः जैनमूर्त्तियों और जैन साधुओ का सत्कार-पूजा सात्विक पदार्थों से ही हुआ करता है और उनके निमित्त कारण से शान्ति, वैराग्य और आत्म-विकास होता है। समझे न भाई ?

प्र०—क्योंजी, कई लोग यह कहते हैं कि मन्दिर मूर्त्तियों के कारण ही देश दरिद्रावस्था में आ पड़ा है, क्योकि मन्दिरों के निर्माण में करोड़ों, अरबों रुपये लगा दिये हैं और यह द्रव्य मुट्ठीभर अनार्य लुटेरों ने खूब लूटा। दूसरे, इन मन्दिरों के पुजारियो वगैरह के लिये और यात्रार्थ घूमने में कितना खर्चा वढ़ा दिया है, क्या यह देश का कम नुकशान है ?

उ०—आपके कथन से इतना तो स्वतः सिद्ध है कि मूर्त्ति-पूजक समाज अपने द्रव्य बल से बड़ा ही सम्पत्ति सम्पन्न था कि वह चलते-फिरते ही करोड़ों रुपये मन्दिर मूर्तियों के निमित्त व्यय कर डालते थे कि जिनको न तो लुटेरे लूट सकते और न चौर ही चुरा सकते। हाँ, अनार्य लोगों ने धर्मान्धता के कारण आर्य मन्दिरों पर आक्रमण अवश्य किया, पर उन आर्य वीरों ने

अपने धर्म की रक्षा के लिये प्राणो के रहते हुए उन मन्दिरों का रक्षण किया है। मूर्त्ति उत्थापक एवं मूर्त्ति भंजकों के हमलो से मन्दिर मूर्त्तिएँ कम नहीं हुये, पर बढ़ते ही गये इससे आप अनुमान लगा सकते है कि मन्दिर मूर्त्तियो के बनाने मे आर्यों की सम्पत्ति बढ़ी है या घटी। अब जरा मूर्त्ति नहीं मानने वालो की ओर भी देखिये। आज सैकड़ों वर्षों से जो लोग मूर्त्ति नहीं मानते है और मन्दिर मूर्त्तियो के लिए जिन्होने अपना द्रव्य व्यय नहीं किया है वे कितने धनाढ्य बन गये? शायद देश की दारिद्रता का कारण उन कंजूम-मक्खी-चूस मूँजियो की शूमताही तो नही है कि वे स्वयं कंजूम होते हुए भी दूसरे उदारवृत्ति वालो की निन्दा कर देश के पुण्य को हटा रहे हैं! फिर भी देश मे अभी मन्दिर मूर्त्तियों के उपासक लोग विस्तृत संख्या में विद्यमान हैं और उनके घरों से प्रतिदिन थोड़ा बहुत द्रव्य, शुभ कार्यों में निकलता ही रहता है, और उसी पुण्य से उदार तो क्या पर कंजूस भी पैसा पात्र हैं एवं देश थोड़ा बहुत हरा भरा नजर आता है। दूसरा तो क्या पर एक केवल श्वेताम्बर मूर्त्तिपूजक समुदाय के एक साल भर का साढ़े तीन करोड़ का खर्चा है, जो ३५० लखपति साल भर के धर्म कार्य में व्यय होते है अब हम थोड़ा आपसे भी पूछ लेते हैं कि हमारी तीर्थ-यात्रा और मन्दिर तो आपकी कांनी आँख मे खटक रहे हैं पर आपके यहाँ बड़े-बड़े स्थानक बँधाये जाते हैं, साधुओं की समाधियाँ, पादुकाएँ, और फोटू या चित्र बनाये जाते है, पूज्यजी के दर्शनार्थी हजारों भक्त आते-जाते हैं लाखो करोड़ो रु० रेल्वे को किराया के दिये जाते हैं इत्यादि। इसका अर्थ क्या होता है? क्या देश की दरिद्रता मे वृद्धि करने का तो इरादा नहीं है न!

वास्तव मे न तो पुण्य कार्यों में द्रव्य व्यय करने से देश दरिद्र होता है और न मूँजी बनने से देश समृद्ध बनता है। शुभ कार्यों मे लक्ष्मी का सदुपयोग करने से देश के पुण्य बढ़ते हैं और ऐसे कार्य करनेवालो का इहलोक और परलोक दोनो मे शीघ्रातिशीघ्र कल्याण होता है। समझे न भाई ?

प्र०—हम मूँजी रहने का कब कहते हैं ?

उ०—तो फिर उपरोक्त प्रश्न का मतलब ही क्या होता है ? मूँजीपन भी कहाँ तक ? कोई तो कहता है कि हमारे सिवाय किसी को अन्न दान भी नहीं देना। कोई कहता है कि हमारी समुदाय के सिवाय कोई साधु ही नहीं है। कोई कहता है कि मन्दिरों में द्रव्य क्यों चढ़ाते हो, तो कोई कहता है कि यात्रार्थ क्यों तीर्थों पर भटकते हो, इत्यादि। यह कृत्य उदारता का है या कंजूसों का ! जैन धर्म कितना उदार है, कैसी वात्सल्य भावना रखता है, कारण कार्य को लेकर वे कितने विशाल भाव रखते हैं इन सब बातों को सोच समझकर उदारता पूर्वक, जैन मन्दिर मूर्त्तियों की सेवा पूजा भक्ति आदि करके जो मनुष्य जन्म मिला है इसे उत्तम साधनों द्वारा सार्थक बना लीजिये। समझा न।

प्र०—आपके साधु पूजा मे धर्म बताते हैं तो वे स्वयं पूजा क्यों नहीं करते हैं ?

उ०—हमारे साधु भाव जा के अधिकारी हैं और भाव पूजा वे करते भी हैं ?

प्र०—भाव पूजा के अलावा द्रव्य पूजा मे भी आपके साधु धर्म बताते हैं तो धर्म कार्य तो उन्हे भी करना चाहिये ?

उ०—मैने आपसे कहा था कि द्रव्य पूजा करने के वे अधिकार

नहीं हैं। यदि ऐसा ही है तो फिर आपके साधु अभ्यागत गरीबों को दानदेने में पुण्य बताते हैं और स्वयं दान नहीं देते अतः उन्हे भी चाहिये कि अधिक से अधिक गोचरी लाकर उन अभ्यागत लोगों को दान देकर स्वयं भी पुण्योपार्जन करें।

प्र०—ऐसा करना साधु का कल्प नहीं है ?

उ० – तो जब मुँह से गृहस्थो को पुण्य बतलाना और स्वयं पुण्य कार्य न करना तथा दूसरों के कल्प के लिए कुतर्क करना यह कहाँ का न्याय है ?

प्र० – वे अभ्यागत असंयति अव्रृत्ति हैं अत हमारे साधु उन्हे आहार पानी नही देते हैं ?

उ०—आपके महाराज का कल्प अर्थात् अधिकार न होने से वे पुण्य होने पर भी इस कार्य को नहीं करते हैं, पर आप जैसे उदार मनुष्य यदि यह पुण्य-कार्य करें उसमें पुण्य होता है या नहीं ?

प्र०—पुण्य अवश्य होता है।

उ०—तो बस, इसी प्रकार प्रभु पूजा के लिए भी समझ लीजिये कि साधुओं का कल्प अर्थात् अधिकार न होने के कारण वे द्रव्य पूजा नही कर सकते हैं पर अधिकार वाले गृहस्थ यदि द्रव्य पूजा करें तो उन्हे तो लाभ होता ही है। इतना ही क्यो पर आपके एक टोला का साधु दूसरे टोले के साधुओ (विसंभोगी) को तथा आर्याओं को आहार पानी नहीं देते हैं यदि किसी दिन आहार बच भी जाय तो जंगल मे जाकर परठ देते हैं पर विसं-भोगी पाँच महाव्रतधारी साधु मानते हुए भी आहार पानी न तो देते हैं और न उनसे लेते हैं, किन्तु यदि कोई गृहस्थ उन साधु

साध्वियोंको आहार पानीदे तो उसमें उसे धर्मया पुण्य होताहै वा नहीं ?

प्र०—क्यों नहीं अवश्य होता है ।

उ०—तो यहाँ भी आप यही बात जान लीजिये—साधुओं को द्रव्य-पूजा का अधिकार न होने से वे नहीं करते हैं पर गृहस्थ लोग अधिकाराऽवस्था होने से द्रव्य-पूजा करते हैं और उन्हे धर्म भी अवश्य होता है ।

प्र०—आपके साधु गृहस्थो को पूजा करने का उपदेश करते हैं तो क्या इसमें द्रव्य पूजा मे काम आने वाले सच्चित द्रव्यों की साधुओं द्वारा अनुमोदना नहीं होती होगी ?

उ०—इसमे साधु सच्चित द्रव्यों की अनुमोदना नहीं करते हैं परन्तु श्रावक पूजा कर भगवान की भक्ति करते हैं उसी का उपदेश और अनुमोदन करते हैं । भला आप ही वतलाईये कि आपके साधु, श्रावको को व्याख्यान श्रवण करने का उपदेश देते हैं और प्रतिज्ञा भी कराते हैं तो क्या इसका अनुमोदन भी आपके साधु करते होंगे कि "श्रावकजी आपने अच्छा काम किया कि आज व्याख्यान सुना ।"

प्र०—हाँ ऐसा जरूर करते हैं ।

उ०—तो वताईये कि यह अनुमोदन आते-जाते जीव हिंसा हुई उसका है या व्याख्यान सुना उसका है ?

प्र०—व्याख्यान सुनने का यह अनुमोदन है, न कि जीव हिंसाका ।

उ०—इसी प्रकार हमारे साधु भी प्रभु-पूजा का ही अनुमोदन करते हैं न कि सच्चित द्रव्यों का ।

प्र०—पर सच्चित द्रव्यो का उपमर्दन तो आपके मुनियों के उपदेश से ही हुआ है न ?

उ०—व्याख्यान मे आना जाना आदि मे जो जीव हिंसा हुइ वह आपके साधुओं के उपदेश से ही हुई है तो इस जीव हिंसा का पाप आपके साधुओ को लगता है वा नहीं ?

प्र०—हमारे साधु तो वीतराग की वाणी सुनने का अनुमोदन करते हैं, जीव हिंसा का नही।

उ०—तो क्या हमारे साधु फिर हिंसा का अनुमोदन करते होंगे आपका ऐसा खयाल है ? यदि हाँ तो आपके मिथ्या पक्षपात की फिर कोई सीमा ही नही रही क्योंकि आपके व्याख्यान सुनने को आने जाने में और प्रभु-पूजा करने में कारण कार्य सदृश अभेद होने पर भी आप तो निर्दोष और केवल हम ही सदोष ऐसा अनूठा न्याय कहाँ का है ? वास्तव में हमारे साधु भी प्रभु पूजा का ही अनुमोदन करते हैं न कि सच्चित द्रव्यो के उपमर्दन का।

प्र०—व्याख्यान मे आने जाने मे हिंसा तो होती है पर व्याख्यान श्रवण करने से ज्ञान भी तो होता है ?

उ०—यह तो हम पहिले ही कह आए हैं कि ज्ञान होना आत्मा का उपादान है। व्याख्यान मे एक प्रसङ्ग ऐसा भी आता है कि "प्रदेशीराजा की सुरीकान्ता रानी ने राजा को जहर दे दिया, या रावण सीता को ले गया। यदि इन व्याख्यानों को सुनकर कोई औरत अपने पति को विष दे दे, या कोई विषयी पुरुष सुन्दर औरत को उठा कर ले जाय, तो क्या यह व्याख्यान ही का ज्ञान नहीं है ? पर प्रभु-पूजा मे ऐसी घटनाओ का स्वप्न भी नहीं, क्योंकि पूजक लोगो के आत्मा का ध्यान तीर्थङ्करो की जन्म, राज्य, दीक्षा और सिद्धावस्था की ओर ही लगा रहता है। समझे न

भाई साहिब ? फिर भी हमारे कहने का कोई यह अर्थ नहीं कि व्याख्यान सुनना बुरा है, किन्तु जब आप एक तरफी खींच रहे हैं, इसी लिए ऐसा एक उदाहरण दिया है। नही तो जैन लोग पूजा के समय पूजा करें, व्याख्यान के समय व्याख्यान सुनें और सदैव जिनाज्ञा को पालें, इसी मे ही परम कल्याण है।

प्र०—उत्तराऽध्ययन सूत्र में चार अङ्ग, मनुष्य-जन्म,[1] सूत्रों की श्रद्धा,[2] संयम[3] और वीर्य[4] मिलना दुर्लभ कहा है। वहाँ मूर्ति-पूजा का मिलना दुर्लभ क्यो नहीं बतलाया है ?।

उ०—पूजा तो इन चारों अङ्गो के अन्तर्गत आ गई है, पर आप यह बतावें कि इन चारो अङ्गों में दान, शील, तप आदि क्यों नहीं आए और यह नहीं आने से आप इन्हें व्यर्थ ही मानते होंगे तो फिर व्यर्थ का यह कष्ट क्यों किया जाता है ?

प्र०—दान, शील, तप आदि यदि चार अङ्गों मे नहीं भी है तो क्या हुआ, दूसरे सूत्रों मे तो हैं न ?

उ०—मूर्ति-पूजा भी चार अङ्गो मे स्पष्टाक्षररूप में नहीं तो क्या हुआ, दूसरे सूत्रों मे तो विस्तार से है और उन दूसरे सूत्रों पर श्रद्धा रखने से ही चार अङ्गों में दूसरा अङ्ग (सूत्रों की श्रद्धा) माना हुआ कहा जा सकता है।

प्र०—आपका उत्तर सुनने में मुझे बड़ा आनन्द होता है। आपकी युक्तिएँ प्रबल और अकाट्य हैं। न्यायपूर्वक दूसरों को तर्क करने को स्थान नहीं मिलता है।

उ०—मुझे भी इस बात का हर्ष है कि आपने न्याय को हृदय में स्थान दिया है। अतः मै मेरे समय का सदुपयोग होना समझता हूँ, और भी कोई पूछना हो तो पूछिये।

प्र०—शास्त्रों में तीर्थ चार प्रकार के बताए हैं, वहाँ शत्रुं-
जय और गिरनार का नाम नहीं है ?

उ०—वे चार तीर्थ कौन हैं ? कृपया बताइये ?

प्र०—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका।

उ०—इन चार तीर्थों में तीर्थङ्कर तो रह ही गए, बतलाइये।
वे किस तीर्थ मे हैं ?

प्र० - तीर्थङ्कर साधु-तीर्थ मे समझे जाते होंगे।

उ०—तो फिर "नमो अरिहंताण" और "नमो लोए सव्व
साहूणं" ये दो पद पृथक २ क्यों कहे जाते हैं, एक ही क्यों नहीं
कहा जाता है ?

प्र०—आप तो ऐसा उत्तर देते है कि हमको उल्टा झमेले में
डाल देते हैं। न तो चार तीर्थों मे तीर्थङ्कर अन्तर्गत होते हैं और
न उनका स्वतत्र नाम है। यदि इन्हें साधु-तीर्थ में समझे तो नव-
कार में दो पद कहना व्यर्थ हो जाता है। अब आप ही बताइये
कि इसका क्या रहस्य है ?

उ०—तीर्थङ्कर हैं वे तीर्थ-पति एवं तीर्थ स्थापक है और वे
स्थापित तीर्थ चार प्रकार के हैं। जब शत्रुञ्जय गिरनार आदि
तीर्थों पर तीर्थङ्करों की मूर्तिएँ स्थापित होने से वे तीर्थ-पति एवं
तीर्थाऽधिराज कहाते हैं, तब चतुर्विध तीर्थ जैसे तीर्थङ्करों की
भक्ति कर लाभ उठाते हैं, वैसे ही इन तीर्थों की सेवा-भक्ति करके
भी लाभ उठा सकते हैं और उठा रहे हैं। क्यों समझे न भाई
साहिब ?

प्र०—खैर ! यह तो आपका कहना ठीक है, पर हमारे
पूज्यजी महाराज फरमाते हैं कि जैन सूत्रों में चाहे "तुंगियानगरी

के श्रावकों ने जिनप्रतिमा की पूजा की हो, चाहे द्रौपदी ने, चाहे आनन्द और चाहे अम्बड़ ने, चाहे सुरियाभ, चाहे शक्रेन्द्र ने पूजा की हो, पर ये सब चरित्राऽनुवाद हैं।" यदि विधिवाद में कहीं पर प्रतिमा-पूजन लिखी हो तो बतलाओ, हम मानने को तैयार हैं। कहिये इसका क्या जवाब देते हो ?

उ०—पहिले आप अपने पूज्यजी से यह तो समझ चुके हैं न कि विधिवाद किसे कहते हैं और चरित्राऽनुवाद किसे कहते हैं और किसी वस्तु का विधि-वाद न होने पर उसको चरित्राऽनुवाद से मानते हैं या नहीं ?

प्र०—हाँ, मैंने समझ लिया है। विधि-वाद उसे कहते हैं कि जिसका संघ को उद्देश्य कर तीर्थङ्करो व गणधरों ने विधान करना बतलाया हो, उसे विधि-वाद कहते हैं और कई एक व्यक्तियो ने अपने जीवन में जो कुछ कार्य किया हो, उसे चरित्राऽनुवाद कहते हैं। समाज को यह आवश्यक नहीं कि यदि किसी व्यक्ति ने अपने जीवन में जो कुछ किया, उसे स्वयं भी करे, जैसे—सुरियाभ, शक्रेन्द्र, द्रौपदी या मृगवती, आनन्द या अम्बड़ और तुंगियानगरी के श्रावक या सावत्थी के श्रावकों ने जिन-प्रतिमा को पूजी तो इसमें हम सब समाज भी मूर्तिपूजक बन जायँ।

उ०—यह सवाल आपने केवल मूर्ति-पूजा के लिये ही शोध निकाला है, या आपके और विधानों के लिए भी लागू हो सकता है ?

प्र०—हाँ, हमारे और विधानो के लिए भी लागू हो सकता है,

पर आप यह बतलावे कि हम किस चरित्राऽनुवाद का अनुकरण करते हैं ?

उ०—आप दिनभर मुँहपर मुँह-पत्ती बाँधने का आग्रह करते हो, यह किस विधि-वाद का पाठ है और आपके, श्रावक की सामायिक पौसह किस विधि-वाद के अनुसार हैं ?

प्र०—मेघकुमार की दीक्षा के समय आठ पुड़ की मुँहपत्ती से मुँह का बाँधना लिखा है और यह पाठ सूत्रों का है। सोमिल ब्राह्मण ने काष्ट की मुँह-पत्ती से मुँह बाँधा था। गौतम स्वामी ने मृगवती रानी के कहने से मुँह बाँधा था और श्रावक के सामायिक पौसहा प्रत्याख्यान का वर्णन आनन्दश्रावक के अधिकार मे आता है।

उ०—मेघकुमार के अधिकार मे हजामत करने के समय नाई ने मुँहपर आठपुडवाला वस्त्र बाँधा, और सोमलने मिथ्या—प्रव्रज्या के समय काष्ट की मुँह-पत्ती बाँधी, परन्तु सम्यक् दृष्टि देवता ने उन्हें मिथ्यात्वी कहा है और इस मिथ्या दशा को त्यागने के लिये ४ दिन तक समझाया। आखिर पाँचवें दिन यह बात सोमल के समझ में आगई कि मेरी यह मान्यता मिथ्या है। तब उसने उस मिथ्या प्रवृत्ति अर्थात् मुहबांधने का त्याग कर फिर सम्यक्त्व धारण कर लिया तथा गौतम स्वामी ने जो अपना मुख बाँधा थो, वह दुर्गन्ध के कारण ही बाँधा था। फिर भी यह उदाहरण तो सबके सब चरित्राऽनुवाद के ही है, न कि विधि-वाद के। अब आगे आपके श्रावक सामायिक पौसह और प्रतिक्रमण करते हैं; ये किस विधि-वाद के अनुसार करते हैं और इसके विधान का उल्लेख किस शास्त्र में है, कृपया बताइये ?

प्र०—मैंने सुना है कि प्रतिक्रमण करना आवश्यक सूत्र में बतलाया गया है।

उ०—अच्छा तो लीजिये ये ३२ सूत्र, इनमें आपका आवश्यक सूत्र भी है, जिसका भाषाऽनुवाद आपके पण्डित मुनि श्री अमोलखऋषिजी ने किया है। इसमें से एक अक्षर तो निकाल के बता दो कि इसमें श्रावक के प्रतिक्रमण, सामायिक और पौसह का उल्लेख है?

प्र०—आवश्यक सूत्र को हाथ में उठा कर अथ से इति तक पढ़ लिया, पर कहीं एक अक्षर भी श्रावक के सामायिक, प्रतिक्रमण और पौसह का नहीं मिला। तब लाचार हो दूसरा रूप बदला और हिम्मत कर कहा कि इसमें तो शायद नहीं है, पर इससे क्या हुआ, आनन्द और शंख श्रावक के अधिकार में तो है।

उ०—अरे भाई! वहाँ भी विधान नहीं है और यदि नामोल्लेख है भी तो यह चरित्राऽनुवाद है, विधि-वाद नहीं और आप तो चरित्राऽनुवाद को मानने से इन्कार है तथा केवल विधि-वाद का आग्रह किये हुए हैं, किन्तु विधि-वाद में कहीं इनका (सामायिक, पौसह और प्रतिक्रमण का) नामोनिशान भी नहीं है, किन्तु फिर भी उन्हें तो मान लेना और परमेश्वर की पूजा के लिए विधि-वाद और चरित्राऽनुवाद का झमेला खड़ा करना यह कहाँ की बुद्धिमत्ता है?

प्र०—तो क्या हमारे सामायिक, पौसह और प्रतिक्रमण चरित्राऽनुवाद से किये जाते हैं और इसी भांति आपके यहाँ

मूर्ति-पूजा भी चरित्राऽनुवाद के आधार पर ही की जाती है। क्यो यह ठीक है न ?

उ०—नहीं, मूर्ति-पूजा के लिए तो जैसे चरित्राऽनुवाद है, वैसे विधि-वाद भी है। देखो, महानिशीथसूत्र से मन्दिर बनवाने वाले को बारहवाँ स्वर्ग मिलना बतलाया है और प्रभु-प्रतिमा की आठ प्रकार से पूजा करना लिखा है तथा सत्रह प्रकार की पूजा का विधान राजप्रश्नी-सूत्र मे बताया है। प्रमाद के वश होकर साधु हमेशा मन्दिर न जाय तो उसके लिए छट्ठ का प्रायश्चित्त का विधान भी महाकल्पादि सूत्रो में वर्णित है और ये सब के सब विधि-वाद के द्योतक हैं।

प्र०—पर महानिशीथसूत्र और महाकल्पसूत्र तो ३२ बत्तीस सूत्रो मे नहीं हैं इसलिए हम इन्हे प्रामाणिक नहीं मानते हैं।

उ०—आप नहीं मानें तो क्या हुआ, क्या अखिल शासन का अधिकार आप पर ही अवलंबित है। यो तो दिगम्बर कहते हैं कि हम वस्त्र रखने वालों को साधु ही नहीं मानते हैं, और तेरहपन्थी कहते हैं कि जीव बचाने का उपदेश देनेवाले को हम साधु नहीं मानते हैं तो आप क्या इनका कथन भी सत्य मानोगे ?

प्र०—नहीं इनका कहना बिल्कुल मिथ्या है।

उ०—तो फिर आपका कहना भी कौन सत्य मानेगा ? हमारे लिए तो आप भी इन्हीं की कोटि मे ही हैं। क्योंकि दिगम्बर शास्त्र ही नहीं मानते हैं तब आप ३२ सूत्र के भी मूलपाठ मानने का आग्रह करते हो। तो क्या ऐसे तूटे हुए एक एक अंग पर अखिलशासन का आधार समझा जा सकता है ? कदापि नहीं। मिसाल है कि

एक तीटोड़ी नाम का खुद्र जीव सोने के समय दोनों पैर आकाश की ओर ऊँचे कर देता है उसका अभिमान है कि आकाश खड़ा है वह मेरे पैरों के आधार पर ही है नहीं तो कभी का टूट पड़ता" बस इसी कहावत को आप ठीक चरितार्थ कर रहे हैं कि इस बात को हम नहीं मानें। पर आप पर शासन का आधार क्या? कुछ भी नहीं।

प्र०—हमारे पूज्य घासीलालजी महाराज ने हाल ही में "श्रीउपासकदशाङ्गसूत्र" की संस्कृत में टीका, छाया तथा हिन्दी गुजराती में अनुवाद लिख कर मुद्रित करवाया है। उसमें से भी कई एक प्रश्न आपको पूछने हैं। कहिये! क्या आप कृपा कर उत्तर दे सकेंगे?

उम्मे—क्यों नहीं खुशी से उत्तर दूँगा; पूछिये!

प्र०—पूर्वोक्त "उपासकदशांगसूत्र" पुस्तक के पृष्ठ ४७ पर हमारे पूज्यजी ने लिखा है कि:—

"—उस बुद्धदास को ही जिनदास ने अपनी स्वभाव से भद्रा, सुभद्रा नाम की पुत्री विवाह-विधि से प्रदान करदी और विविध प्रकार के रत्न, सुवर्ण, हीरे आदि के आभूषणों के साथ दास, दासी, आसन, यान, आदि तथा पूंजणी. डोरासहित मुखवस्त्रिका से शोभाय मान करके कुल की रीति के अनुसार सम्मान के साथ ससुराल भेजदी"—

इस लेख से यह पाया जाता है कि पूर्व जमाना में जैन लोग अपनी पुत्रियों का व्याह कर ससुराल भेजते थे तब रत्नादि के

साथ पूंजणी और डोरासहित मुँहपत्ती से शोभायमान करके ही भेजते थे, इससे यह सिद्ध होता है कि मुँहपत्ती में डोराडाल उसको मुँहपर बाँधना बहुत प्राचीन समय से प्रचलित है। इस हालत में आप इस रिवाज को नया क्यों बतलाते हो?

उ०—पूंजणी और डोरासहित मुखवस्त्रिका से शोभायमान कर ससुराल भेजने का अर्थ क्या होता है? क्या हाथ मे पूंजणी और मुँहपर डोरावाली मुँहपत्ती बन्धाकर उस सुभद्रा को सुशोभित कर ससुराल भेजी; यही अर्थ होता है न?

प्र०—कुछ देर चुप रह कर और सोचकर बोला कि नहीं जी, ऐसा कभी हो सकता है। पूंजणी आदि उसके साथ मे दी थी।

उ०—तो उसने उन्हे साथ में रक्खा? या बक्स में बन्द कर दिया।

प्र०—रत्न आदि जेवरों के साथ उसको भी बक्स में बन्द कर रख दिया होगा।

उ०—तो फिर 'शोभायमान" करके लिखा है इसका क्या अर्थ हुआ? क्योंकि वस्त्राऽऽभूषण तो धारण करने से सुशोभित होता है यदि कोई वस्त्र आभूषणों को बक्स मे बन्द कर बारात आदि में जाय तो क्या कोई बराती उसे शोभायमान कह सकता है?

प्र०—नहीं। वस्त्र आभूषण तो पहिनने से ही शोभायमान दीखता है।

उ०—तब पूंजणी, और डोरासहितमुँहपत्ती को बक्स मे रख कोई कैसे शोभायमान दीख सकता है?

प्र०—तो मानलो कि सुभद्रा ने पूंजणी हाथ में और डोरा सहित मुँहपत्ती मुँहपर बाँध ली होगी और इसी से वह शोभाय-

मान दीखती हो तो क्या हर्ज है ? क्योंकि आरजियोंजी महाराज भी जब रवाना होते हैं तब इसी तरह शोभायमान दिखते हैं।

उ०—आग्रह के वशीभूत हो जाते है उनके लिये हर्जा और हांसी कोई वस्तु ही नहीं है पर किसी मध्यस्थ पुरुष से पुच्छे कि हमारे आरजियां, हाथ में पूंजणी (ओघा) और मुँहपर मुँहपत्ती वान्धकर विहार करता हैं वे कैसे शोभायमान दीख पडती हैं ? तब ही आपको मालूम होगा कि जैनमुनियों का वेश देवताओं को भी वल्लभया पर कुलिंग धारण करने से आज मनुष्यो एवं पशुओ को भी अरूची का कारण हो रहा है। खैर आरजियां की वात छोड़ो, क्योंकि वे लोक व्यवहार को छोड़ दिया अतएव उनके लिये कुछ नहीं कहना है पर सुभद्रा तो गृहस्थ थी क्या गृहस्थो का ऐसा व्यवहार किसी सिद्धान्त व इतिहास में आपने देखा है ? यदि सुभद्रा को सुशोभित करना ही पूज्यजी का उद्देश्य है तो सुभद्रा के लिए इस लेख के लिखने में पूज्यजी महाराज का हृदय कुछ संकीर्ण मालूम होता है अन्यथा डोरा सहित मुंहपत्ती लिखी वहाँ पर मुँहपत्ती पर कुछ सलमा सतारा और मोतियो का काम किया हुआ लिख देते तो सुभद्रा की शोभा और भी बढ़ जाती। पर शायद पूज्यजी महाराज ने पीछे होने वाले सुधारको और टीकाकारों के लिए इतनी जगह रख छोड़ी होगी नहीं तो वे विचारे फिर पूज्यजी से अधिक क्या लिख सकेंगे ?

प्र०—क्या मुंहपत्ती पर सलमा-सितारा या मोतियो का काम भी हो सकता है ?

उ०—क्यों नहीं—शोभायमान तो तभी हो सकती है। खैर ! पर आपने पूज्यजी महाराज से यह भी तो निर्णय कर लिया

है न ? कि यह मुँहपत्ती किस समुदाय या किस टोला के आम्नाय की थी। क्योंकि यदि छोटी मुँहपत्ती थी तो वह देशी साधुओं की निशानी है, और बड़ी हो तो प्रदेशी साधुओं का मार्क है तथा लम्बी थी तो तेरह पन्थियों की निशानी होती है। कहिये। सुभद्रा के मुहपत्ती कौन सी थी।

प्र०—अजी महाराज ! सबसे पहिले तो छोटी मुँहपत्ती ही थी, बाद में प्रदेशी साधुओं ने अपनी उत्कृष्टता बतलाने के लिए बड़ी मुँहपत्ती और तेरहपंथियों ने लम्बी मुँहपत्ती बना डाली है।

उ०—तो क्या आप देशी साधुओ के भक्त हैं ?

प्र०—इससे आपको क्या मतलब है।

उ०—मतलब कोई नहीं; केवल आप छोटी मुँहपत्ती का पक्ष लेते हो इससे कहता हूँ। कि आप देशी साधुओ के भक्त है।

प्र०—इसमें पक्ष करने की क्या बात है। हमारे पूज्यजी के कई एक फोटू विद्यमान हैं जिनमें छोटी मुँहपत्ती हैं और श्रीशंकर मुनिजी ने "सचित्र मुखवस्त्रिका निर्णय" नामक पुस्तक मे भगवान ऋषभदेव और गजसुखमाल आदि के, तथा प्र० व० मुनिश्रीचौथमलजी ने स्वलिखित "भगवान् महावीर यांचा सन्देश" नामक पुस्तक मे भगवान् महावीर के मुँहपर भी डोरा सहित छोटी मुँहपत्ती बँधाई है जो देशी साधु बाँधते हैं।

उ०—पर भाई साहिब ! इस टीका के लिखने वाले पूज्यजी तो प्रदेशी साधु हैं। भला वे इतनी बड़ी सेणीश्राविका को छोटी मुँहपत्ती बँधाकर अपने समुदाय में से कैसे जाने देंगे; यह भी आपने कभी सोचा है ?

प्र०—खैर ! कुछ भी हो यह हम आपस में निपट लेंगे, पर

मुँहपत्ती में डोरा डालकर बांधने की प्रवृत्ति तो जरूर प्राचीन है यह तो आप मानते हैं न ?

उ०—यह प्रवृत्ति प्राचीन है अथवा अर्वाचीन, इस विषय में तो मैंने एक स्वतन्त्र पुस्तक लिखी है। परन्तु इस बात की पुष्टि के लिए आपके पूज्यजी ने कुछ भी प्रमाण नहीं दिया है। तो हम उसे प्राचीन कैसे मानलें ?

प्र०—प्रमाण क्यों नहीं दिया है यानि जरूर दिया है। देखो "श्रीउपासकदशांगसूत्र" में निम्न लिखित प्रमाण दिया है:—

—"जिस नगरी में भगवान् महावीर ने "डोरासहित मुखवस्त्रिका" बांध कर विधि पूर्वक सामायिक करने से अनन्त कर्मों की निर्ज्जरा होती है। ऐसा उपदेश महाराज कूणिक को दिया था"— उपासक दशांग सूत्र पृष्ठ ५४

× × ×

जयणाट्ठं मुँहपत्तिं सदोरगं वंधए मुहे निच्चं "पृष्ठ २१३"

अर्थात् खास भगवान् ने कूणिक को कहा है कि डोरा सहित मुँहपत्ती मुँहपर बाँध के सामायिक करने से अनंत कर्मों की निर्ज्जरा होती है तथा गुरु के लक्षण बतलाते हुए स्वरचित संग्रह गाथाओं में बतलाया है कि जयणा के लिए डोराडाल मुँहपत्ती हमेशा बांधी रक्खे वही साधु एवं गुरु कहला सकता है। इस से अधिक क्या प्रमाण चाहते हो ?

उ०—वाह ! आपका प्रमाण बड़ा ही जबर्दस्त है। जैसे—किसी ने कहा कि मेरी मां सती है। दूसरे ने पूछा कि इसका सबूत ? इस पर वह पूर्व वक्ता झट बोल उठा कि मैं कहता हूँ

कि मेरी मां सती है इससे अधिक प्रमाण क्या चाहते हो ? बस ठीक यही बात आप पर भी चरितार्थ होती है। इससे ज्यादा आप या आपके पूज्यजी भी क्या प्रमाण बतला सकते हैं। शास्त्रीय और ऐतिहासिक प्रमाण तो अति दुर्लभ हैं किन्तु पौनेतीनसौ वर्षों पूर्व किसीआपके पूर्वजो ने डोराडाल मुँहपर मुँहपत्ती बांधी हो उसका भी कोई चित्र या हस्त लिखित प्रमाण नही बतला सकते हो। इससे शायद यह भ्रम होता है कि आपके पूर्वजों को इतना भी ज्ञान नही था, अन्यथा आपके पूज्यजी की भाँति टीका बनाकर आपके प्रमाणके लिए छोड़ जाते तो इसवक्त आपको कम से कम पौने तीन सौ वर्षों का प्राचीन प्रमाण तो उपलब्ध हो ही जाता। पर करे क्या, या तो उनको उत्सूत्र भाषण का थोड़ा बहुत भय होगा या इतनी कुतर्कें उनके मगज में पैदा ही नहीं हुई होगी।

प्र०—तो क्या हमारे पूज्यजी ने यो ही लिख दिया कि सुभद्रा को पूंजणी और डोरा सहित मुँहपती से शोभायमान कर ससुराल भेज दी ?

उ०—हाँ। यो ही नही लिखते तो पूज्यजी को कोई प्रमाण देना था। देखिये—श्री भगवती सूत्र शतक ११ उद्देश्या ११ में राजकुमार महाबल का आठ राजकन्याओ के साथ लग्न होना और उसमें से प्रत्येक कन्या के पिता का अपनी २ पुत्री को १९२-१९२ वस्तुओ का दत्त दायजा देना मूलसूत्र के पाठ में लिखा मिलता है। जिसमे बड़ी से बड़ी और छोटी से छोटी वस्तु का उल्लेख है पर पूंजणी और डोरासहित मुँहपत्ती की कही गन्ध भी नहीं आती है। इसी प्रकार अन्तगढ़दशाङ्गसूत्र में सुलसा के छः पुत्रो के विवाह प्रसङ्ग मे ३२-३२ कन्याओं के

पिता का दत्त दायजा देने का अधिकार है पर डोरावाली मुँहपत्ती और पूंजणी का वहाँ भी जिक्र नहीं है। तब आपके पूज्यजी को ही केवल अनोखा यह स्वप्न कैसे आगया ?

प्र०—शायद महाबल का विवाह जैनेतरों के यहाँ हुआ हो और जैनों के घरों में सिवाय सुभद्रा के कोई कन्या जन्मी ही नहीं हो और इसी कारण सूत्रों में पूंजणी और डोरा वाली मुंहपत्ती से शोभायमान कर कन्या को ससुराल भेजने का अधिकार न आया हो तो यह संभव हो सकता है।

उ०—वाह ! भाई वाह ! यह ठीक कहा। आपके अर्वाचीन पूर्वजों ने पूर्व किसी गति में रह कर तो कुदरत को भी उपदेश दे दिया होगा कि लाखों वर्षों तक जैनियों के घरो में एक सुभद्रा के सिवाय और किसी कन्या का जन्म तक भी नहीं होने दिया, खैर ! पर जब राजा श्रेणिक की रानिएँ काली, महा काली, नन्दा और सुनन्दा ने दीक्षा ली तो उनके साथ ओघा, पात्रा तो दिये पर आप की पूंजणी और डोरा-सहित मुंहपत्ति क्यों भूल गए ? क्योंकि आपकी मान्यतानुसार दीक्षा के समय तो उनकी खास जरूरत होती है। शायद आपके पूज्यजी अब उन शेष सूत्रों को भी टीकाएँ करेंगे तब ऐसा लिख देंगे और यह भी आपके लिए प्रमाणार्थ उपयोगी बन जायगा।

वास्तव मे न तो भगवान् महावीर ने कूणिक को मुँह बाँधने का उपदेश दिया है और न किसी जैनशास्त्र में गुरु के लक्षण वर्णन मे मुँहपत्ती बाँधने का जिक्र आया है। और न सुभद्रा को हाथ में पूँजणी तथा डोरासहित मुँहपत्ती देकर शोभायमान बनाई थी। और न यह शोभायमान के कारण ही है। पर यह

तो आजकल स्थानकवासी साधु जब तड़ातड़ मुँहपत्ती का डोरा तोड़ मूर्त्तिपूजा स्वीकार कर रहे हैं तब अवशिष्ट साधु मण्डली को इस प्रवृत्ति से रोकने के लिए ही या अबोध लोगों को आश्वासन देने के निमित्त यह मिथ्या प्रपञ्च रचा है। किन्तु सौभाग्यवश अब स्थानकवासी समाज भी पहिले जैसा अज्ञान नहीं है कि पूज्यजी जैसो की स्वकपोलकल्पित गाथाओ पर तनिक भी विश्वास करले। वे लोग तो पूज्यजी को प्रमाण पूछते हैं कि पौने तीन सौ वर्ष पहिले के किसी ग्रन्थ, शास्त्र या इतिहास मे कोई प्रमाण हो तो बताओ! अन्यथा केवल आप के कहने मात्र से कैसे मान लें कि पूर्व जमाना में डोरा डाल मुँहपत्ती मुँहपर बाँधी जाती थी, और इसके जवाब के लिये आपके पूज्यजी के पास प्रमाणका पूरा अभाव ही है। जब हाथ में मुँहपत्ती रखनेके सैकड़ों प्रमाण विद्यमान हैं, तब मुँहपत्ती बाँधने का एक भी प्रमाण उपलब्ध नहीं। स्थानकवासियो के धर्म प्रवर्त्तकगुरु स्वय लौंकाशाहने किसी भी अवस्था में डोरा डाल दिनभर मुँहपर मुँहपत्ती नही बाँधी थी, और न लौंकाशाहके बाद २०८ वर्षों तक किसीने भी मुंहपर मुंहपत्ती बाँधी, यही क्यो लौंकामतके श्रीपूज्य और यती वर्ग आज भी सैकड़ो विद्यमान हैं किन्तु वे मुंहपर मुँहपत्ती बाँधनेका घोर विरोध करते हैं और डोरा डाल मुहपत्ती बाँधने वालों से प्रमाण पूछते हैं कि वे किस प्रमाण से मुहपर डोराडाल मुंहपत्ती बाँधते हैं। यदि आपके पूज्यजी महाराज में कुछ भी ताकत है तो वे पहिले अपने पूर्वजोंकी संतानको प्रमाण बता कर उनसे डोराडाल मुहपत्ती मुंहपर बंधावे, बादमे दूसरोसे प्रश्न करें। महासती सुभद्राको पूंजणी और डोरासहित मुंहपत्ती से शोभायमान करने का पूज्यजी ने मिथ्या

प्रयत्न किया है क्योंकि आपके पूज्यजी के कथनाऽनुसार निश्चय हो जाता है कि महासती सुभद्रा परमेश्वर की त्रिकाल पूजा करने वाली थी, समझे न मेहरबान !

प्र०—अरे ! भाई ! यह क्या कहते हो कि सुभद्रा पूजा किया करती थी। पूज्यजी महाराज ने सुभद्रा का मूर्त्तिपूजना कहाँ पर लिखा है ?

उ०—पूज्यजी खुल्लम-खुल्ला तो कब लिख सकते हैं पर सत्य की झलक किसी प्रकार से आगे आए बिना नहीं रह सकती है।

प्र०—तो अच्छा बताइये यह सत्य की झलक कहाँ से आ रही है ?

उ०—लीजिये:—"श्रीउपासकदशाङ्गसूत्र" पृष्ठ ४९ पर आपके पूज्यजी महाराज लिखते है।

"सुभद्रा ललाट फलकाऽवस्थितं तिलकं, तस्य मुनेर्ललाटे संलग्नम्"

हिन्दी:—सुभद्रा के ललाट में लगा हुआ तिलक मुनि के ललाट में भी लग गया" इसका अर्थ यही होता है कि महासती सुभद्रा जिस समय परमेश्वर की पूजा कर आई, और उसी समय मुनि भिक्षार्थ उस के घर पर गए, और उनकी आँख से फूस (तनखा) निकलाते वक्त उसका गीला तिलक मुनि के ललाट पर लग गया था। क्या पूज्यजी के इस कथन से महासती सुभद्रा का पूजा करना सिद्ध नहीं होता है ? (अपितु अवश्य होता है)

प्र०—क्या आपके यहाँ औरतें भी हमेशा पूजा करती हैं ?

उ०—यह आपने कैसा अज्ञातपने का प्रश्न किया ? क्योंकि धर्म-

क्रिया के लिए क्या स्त्री क्या पुरुष सभी स्वतंत्र हैं। अपना षट्कर्म तो सब-कोई करते हैं। यदि औरतें सामयिक, पौषह, प्रतिक्रमण, प्रभु पूजा आदि धर्म कार्य करें तो इसमें आश्चर्य करने की क्या बात है। आपने महासती द्रौपदी की कथा नही सुनी है कि वह विवाह जैसे राग-रंग, धाम-धूम के समय मे भी स्वयम्वर मण्डप में जाने के पहिले अपने घर देरासर और नगर मन्दिर की पूजा करने गई थी तो अन्य दिनों की तो बात ही क्या है!

प्र०—क्या बिना पूजा के औरतें तिलक नहीं करती हैं?

उ०—हाँ, पूजा नही करनेवाली स्त्रियां ललाट पर तिलक नहीं करती; किन्तु केवल कपाल पर सौभाग्य-बिन्दी लगाती है। स्वयं सुभद्रा भी जब ससुराल गई है तो उसके तिलक का वर्णन आपके पूज्यजी ने नही किया है क्योंकि तिलक तो पूजा के समय ही किया जाता है और उस समय शायद सुभद्रा ने पूजा पहले करली होगी। इससे रवानाके समय तिलक का वर्णन पूज्यजी ने नही किया है। सौभाग्य बिन्दी तो स्त्री का शृङ्गार है अतः बिन्दी हर समय लगा सकती है और पूर्व मे जो हमने "उपासक दशांग सूत्र" का तिलक वाला उद्धरण दिया है वह पूजा करने के समय का है। क्यो समझे न? अब जरा आप अपने पूज्यजी से पूछो कि आप ३२ सूत्र मानने का तो आग्रह करते हैं पर उपासकदशाङ्गसूत्र की टीका की ओट मे "चम्पा नगरी का यह कल्पित इतिहास" कहाँ से ढूंढ़ निकाला है? क्योकि उस इतिहास के पृष्ट ४४ पर एक केवली के मुंह से मरकी की शान्ति के लिए आश्विनवदी ८ अष्टमी को आंबिल करना बतलाया है, यह किस प्रमाण से। क्योकि जैनागमानुसार जैन लोग आश्विनसुदि ७ और ८ को आंबिल ओली का प्रारंभ बताते हैं।

शायद, यह कारण तो न हो कि कई स्थानकवासी भाई भी आश्विन सुदि ७ से प्रारंभ होने वाली आंबिल ओली मे शामिल हो जाते हैं, उन्हे रोकने के लिए ही अपना ओलि तप कृष्णपक्ष से पृथक् प्रारम्भ किया है। अथवा आपके ही समुदाय के प्र० ० मुनिश्री चौथमलजी महाराज ने एक नया "श्रीपाल" कविता बद्ध बनाया है उसमें आंबिल तप की महिमा आश्विन शुक्लपक्ष से लिखी है। क्या उसी का विरोध तो पूज्यजी ने कृष्णपक्ष लिख कर नहीं किया है?

प्र०—आंबिल तो जब कभी करे, तभी अच्छा है।

उ०—हाँ यह बात तो ठीक है, पर आंबिलतप आश्विन कृष्णाऽष्टमी से प्रारम्भ करवाना इसका क्या रहस्य है? शायद यही तो न हो कि जिसको चोथमलजी स्वामी शुक्लपक्ष बतलावें तो पूज्यजी उससे उल्टा कृष्णपक्ष ही बतावें ताकि दोनो समुदाय के लोग आपस में मिल नही सकें।

प्र०—जो कुछ हो परन्तु हमारे पूज्यजी ने कोई यों ही तो नहीं लिखा है, वे तो इतिहास के बड़े जानकार हैं, अतः सोच समझ कर ही लिखा होगा?

उ—क्यो नहीं ऐसे विद्वान् जब इतिहास के जानकार हैं तब उनके कहने में शंका को स्थान ही क्यो मिले? इसीसे तो आपके पूज्यजी ने उ० पृ० ४८ पर लिखा है:—

"बेटी! अपने घर में बुद्धदेव की उपासना होती है, तुम भी उन्हीं की उपासना किया करो"।

अर्थात् सुभद्रा की सासु सुभद्रा को कह रही है कि अपने घर में

बुद्धदेव की उपासना होती है तुम भी करो। परन्तु इसका क्या मतलव हुआ ? उपासना स्वयं बुद्धदेव की होती थी या उनकी मूर्त्ति की। यदि बुद्धदेव की मूर्त्ति थी तो बुद्धके पूर्व जैनों मे मूर्त्तिपूजा विद्यमान होना ऐतिहासिक साधनों से सिद्ध हो चुका है। इसलिये आपके पूज्यजी की ऐतिहासिकता के विषय में कुछ अधिक न कह कर इतना ही कहना पर्याप्त है कि सुभद्रा के समय बुद्ध का जन्म हुआ था या नहीं, बुद्ध का समय और सुभद्रा का समय को मिलाने से आपको ज्ञात होगा कि सुभद्रा के समय बुद्धदेव का जन्म भी नहीं हुआ था तो उनका मत और मूर्त्तियों के लिए तो कहना ही कहाँ रहा ? फिरभी इसे जरा किन्हीं प्रामाणिक ऐतिहासिक साधनो पर निर्णीत कर वतलावें कि सुभद्रा के समय कौनसा बुद्धदेव था ?

प्र०—हमारे समुदाय में तो साधुओं को वन्दना "तिक्खुता" के पाठ से करते हैं और हमारे पूज्यजी महाराज ने इसी पुस्तक के पृष्ट ३६ पर लिखा भी है कि:—

"गुरुओं के पास आकर "तिक्खुता" के पाठ से उन्हें वन्दन करते हैं ? पर आप "तिक्खुतो" न कह कर "इच्छामि खमासमणो" कहते हो, यह क्यों ?

उ०—"तिक्खुतो" तो ठीक, पर पाठ से वन्दना करने का क्या अर्थ है ?

प्र०—हमारे पूज्यजी महाराज ने ऐसा लिखा है।

उ०—आपके पूज्यजी महाराज का ज्ञान तो अपार है, पर आपको ही किसी ने समझाया तो होगा कि "तिक्खुता" के पाठ से वन्दन किस तरह की जाती है ?

प्र०—"तिक्खुता" का पाठ बोलना और तीन बार ऊठ-बैठ के वन्दना करना।

उ०—इस प्रकार किसी सूत्र में किसी ने वन्दना की है ?

प्र०—हाँ बहुत से सूत्रों में ऐसा पाठ है।

उ०—भला एक पाठ तो बतला दीजिये ?

प्र०—लीजिये-"श्री उववाइ सूत्र" में राजा कूणिक भगवान को वन्दना करते हैं जैसे कि **"समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करति करेता वंदंति णमंसंति वंदित्ता नमंसित्ता णिच्चासण णाइदूरे सुस्सुसमाणं नमंसमाणं अभिमुहा विणएण पंजलिउड़ा पज्जुवासेंति"**

श्री उववाइसूत्र पृष्ट ९० मुनि श्री अमोलखर्षिजी कृत हिन्दी अनुवाद

उ०—इसका मतलब क्या हुआ ?

प्र०—कूणिक राजा ने श्रमण भगवंत महावीर को मर्यादा सहित तीन बार प्रदक्षिणा की, और प्रदक्षिणा करके वन्दन किया।

उ०—तो जब आप अपने पूज्यजी को यही कहते हो न कि कूणिक ने तीन प्रदक्षिणा देकर वन्दना की थी। इससे यह तो साबित नहीं होता कि आप भी स्वतंत्र अपने पूज्यजी को वन्दना करते हो।

प्र०—क्यों हमारी वन्दना कैसे नहीं हुई ?

उ०—आपने तो कूणिक की प्रदक्षिणा की बात सुनाई है। उसे वन्दना करना कैसे कहा जा सकता है। और यदि सच पूछा जाय तब तो यह उल्टा एक प्रकार से पूज्यजी का आप द्वारा किया गया अपमान है क्योंकि मुँह से दूसरों की प्रदक्षिणा का

उदाहरण देकर स्वयं न करना यह कैसी भक्ति है ? वास्तव मे कूणिक ने वन्दन किया था उसका उल्लेख उसी प्रकार गणधरों ने किया है कि उन्होंने तीन प्रदक्षिणा कर बादमें विधि पूर्वक वन्दन किया। दूसरों को यह पाठ बोलने के लिये है या इसके अनुसार वर्तन करने के (आचरण करने के) लिए है । पर आपके यहाँ (स्थानकवासी समाज में) यह एक अन्ध परम्परा चल रही है कि जब श्रावक आकर साधुओ के सामने "तिक्खुतो" पाठ कह दे तब वन्दना हो जाती है और इसी झूंठी परम्परा के कारण पूज्यजी ने भी लिख दिया है कि तिक्खुत्ता के पाठ से वन्दन करें । पर आपके हां समुदाय के मुनिश्री अमोलखर्षिजी ने श्रीआवश्यकसूत्र के पृष्ठ ४५ पर लिखा है कि "गुरु आदिको वन्दन नमस्कार करते समय कहना कि:—

"इच्छाकारेण संदिसह भगवान् अज्झ[1]विउहं अब्भिंतर देवसियं खमउं "इच्छं" खामेमि देवसियं जं किंचि अपत्तियं परपत्तियं भत्ते पाणे विणए वेयावच्चे आलावे संलावे उच्चासणे समासणे अंतरभासाए उवरीभासाए जं किं च मज्झ विणिय परिहीणं सुहूमं वा वायरंवा तुब्भे जाणह अहं न याणामि तस्समिच्छामि दक्कड़ं" [[1]यद्यपि यह मूल पाठ अशुद्ध है, पर जैसा स्वामीजी ने छापा है वैसा ही यहाँ लिख दिया है]

उपर्युक्त विधि वर्त्तमान जैनों में विद्यमान है । इतना ही क्यो, पर इसके पूर्व इच्छामि खमासमणो और सुहराइ सुहदेवसि एवं दो विधान और भी किये जाते हैं ।

---

[1] अब्भुट्ठिओमि,, ऐसा पाठ होना चाहिये ।

मेहरबान ! जरा पक्षपात छोड़ एवं निर्णय बुद्धि रख, विचार करो ताकि आपको मालूम हो जाय कि शुद्ध सनातन एवं सत्य वस्तु क्या है ।

प्र०—हमारे पूज्यजी ने गुरु के लक्षणों में पृष्ट २१२ पर लिखा है कि:-

"भक्ति भाव से साथ चलने वाले गृहस्थों का, तथा अपने लिए बनाया हुआ आहार, नहीं लेने वाले होते हैं" फिर आप (जैन) तो संघ में तथा विहार में साथ चलने वालों से आहार पानी ले लेते हो यह क्यों ?

उ०—यह केवल कहने मात्र के लिए और आप जैसे भोले भावुक भक्तों को अपनी उत्कृष्टता बतलाने के लिए ही है । अन्यथा आपके पूज्य जवाहरलालजी म० जोधपुर का चौमासा कर वहाँ से विहार करके दो मील नागोरी बेरा पर ठहरे और जोधपुर के भक्तों ने स्पेशियल द्वारा वहां पहुंच रसोई बनाई और उस रसोई से आपके साधुओं ने पात्रा भर २ कर गोचरी ली । शायद इसके लिये ही तो वह उल्लेख न किया हो पर स्वामी फूलचन्दजी जब करांची गए तब रास्ते में मांसाहारियों के ग्राम होने के कारण अपने साथ में गृहस्थों को रक्खे थे और उनसे अपनी गोचरी लेते थे तथा इसी तरह शिखरजी के रास्ते में, दूसरा खास आपके इस सूत्र को छपाने वाले पूज्य घासीलालजी अपने शिष्यों के साथ करांची गए तब रास्ता में मांसाहारियों के ग्राम आये थे तब अनेक जगह गृहस्थों को साथ रक्खे और उनसे गोचरी ली । इस हालत में भी अदि आपके पूज्यजी महाराज दूसरों को उपदेश दें या उनकी निन्दा करें तो इसमें कौनसी सभ्यता है ?

प्र०—पृष्ठ २२८ पर हमारे पूज्यजी महाराज लिखते हैं कि "वीतराग भगवान की भक्ति करनी चाहिए, उनका दर्शन करना चाहिए और उनके वचन सुनना चाहिए" इनमें वचन सुनना और भक्ति करना तो हमसे बन सकता है पर दर्शन कैसे हो सकते हैं क्योंकि वे तो मोक्ष में पधार गए हैं। इसका क्या उत्तर है?

उ०—यह तो आप अपने पूज्यजी से ही पूछें कि वे आपको इस पंचम आरा में भी कोई वीतराग बतलादें। यदि आप उन्हें नहीं पूछकर मुझे ही पूछते हो तो चलो हमारे साथ मन्दिर में, हम आपको शान्तमुद्राऽवस्थित पद्मासन विराजमान वीतराग के दर्शन करवा दें। बिना इसके आपके पूज्यजी का पाठ सार्थक नहीं हो सकता है समझे न।

प्र०—पृष्ठ २३८ पर हमारे पूज्यजी ने गृहस्थो के लिए सातवें व्रत में केवल २६ द्रव्य रखना ही लिखा है तो क्या इस से अधिक की जरूरत हो तो हम रख सकते हैं या नहीं?

उ०—श्रावक जितना कम द्रव्य रक्खें, उतना ही अच्छा है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि वे२६ द्रव्योंसे अधिक नहीं रख सकें या जिन २६ द्रव्यों का आपके पूज्यजी ने नाम लिखा है उन्हें ही रक्खें। किन्तु जिस किसी को २६ द्रव्य में से किसी द्रव्य की आवश्यकता न हो वह उसे नहीं रक्खे और २६ द्रव्यों से इतर किसी अन्य द्रव्य की आवश्यकता हो तो उसे रख ले। अब यदि किसी को १२५ द्रव्य की आवश्यकता हों या किसी को ६ द्रव्य की ही जरूरत हों तो वह उतने ही रख सकता है। पूज्यजी ने तो जो २६ द्रव्य लिखे हैं वे आनन्दजी के रखने के अनुसार बिना सोचे समझे लिख दिये हैं और ज्यों त्यों करके अपने

टीका के कलेवर को बढ़ाने की कोशिश की है। यदि आपके पूज्यजी से आप कभी मिलें तो इस विषय में प्रसङ्गोपात पूछें कि व्रतों की विधि में इन २६ द्रव्यों का विधान किस सूत्र में लिखा है तथा क्या कोई व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार द्रव्य नहीं रख सकता है? विश्वास है तब आपको सच्चा ज्ञान हो जायगा।

प्र०—पृष्ठ २४८ पर हमारे पूज्यजी ने—"सामायिक करने के समय साधु हो तो उन्हे वन्दना करके और यदि साधु न हो तो श्री वर्धमान स्वामी को वन्दना करके उनसे सामायिक की आज्ञा लेकर सामायिक करे"—यह लिखा है तो फिर आप स्थापनाजी क्यों रखते हो ?

उ०—वाह वाह। आपके पूज्यजी की यह विद्वत्ता कम नहीं है। क्योंकि आपके पूज्यजी ने साधुओं के दूसरे नम्बर में श्री वर्धमान स्वामी को समझा है कि "साधु न हो तो वर्धमानस्वामी को वन्दना कर काम चला लेना" परन्तु भला तुम जब वन्दना करते हो तब दो वार प्रवेश और एक वार निखमण किसके अवग्रह से करते हो? क्या वर्धमानस्वामी की स्थापना करते हो? या किसी आकाश में ही उनकी कल्पना कर लेते हो? विशेष इस विषय में मैं पहिले ही खुलासा कर चुका हूँ कि स्थापना की परमावश्यकता है।

प्र०—पृष्ट २७८ पर आनन्दश्रावक ने "दहीवड़ा" खाना रक्खा है और हमारे पूज्यजी ने भी इसका समर्थन किया है तब आप इसमें पाप क्यों बतलाते हो?

उ०—यह आपके पूज्यजी की आन्तरिक भावना का प्रदर्शन है कि सूत्र में तो दहीवड़ा का नाम निशान भी नहीं है और

आपने चट से लिख दिया कि दहीबड़ा खाना आनन्द ने रखा है शायद आपके पूज्यजी को दहीबड़ा विशेष रुचिकर होगा; अन्यथा देखिये मूलसूत्रः—

"नन्नत्थ सेहंब दालियं वेहि अवसेसं परिमाणं करइ"

स्वामी अमोलखर्षिजी कृत हिन्दी अनुवादः—

"जेमने की विधि का प्रमाण करते वक्त दाल के बड़े तथा पुड़े रक्खे और जेमन के प्रत्याख्यान, "उपासकदशांग सूत्र पृष्ठ १५"

यह भी आपके ही घर का अनुवाद है किन्तु इसमें दही-बड़े का नाम तक नही मिलता है। अब आपके पूज्यजी द्वारा किया गया उक्त मूल पाठ का अर्थ भी देख लीजियेः—

"फिर जेमन विधि का परिमाण किया कि दाल के बने हुए और अधिक खटाई में डाले हुए पदार्थ जैसे दहीबड़ा के अतिरिक्त और सब जेमन विधि का प्रत्याख्यान करता हूँ।" पृष्ठ २७९"

उपरोक्त मूल सूत्र के पाठ मे दही, छास, आदि खटाई का नाम तक नहीं है। स्वामी अमोलखर्षिजी के हिन्दी अनुवाद में भी दही छास आदि खटाई का खटास नही है, फिर नये विद्वान् पूज्यजी ने यह दहीबड़ा कहाँ से निकाल दिया और क्यों कर विरक्ताऽवस्था में दहीबड़े पर सहसा रुचि दौड़ गई? प्रियवर! सांप्रतिक वैज्ञानिको ने सूक्ष्म यंत्र द्वारा शोध कर यह जाहिर कर दिया है कि ऐसे पदार्थों के मिश्रण से असंख्य जीवोत्पत्ति होती है। फिर समझ में नही आता है कि पूज्यजी महाराज अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन ऐसी भद्दी बातो मे क्यों करवा रहे है।

प्र०—पृष्ठ ३३४ पर हमारे पूज्य जी महाराज ने लिखा है:—
"अन्नउत्थिय परिग्गहियाणिं अरिहन्त चेइयाणिवा वंदित्त एवा नमंसितएवा" इस पाठ का हिन्दी अर्थ:—अन्य यूथिको द्वारा स्वीकृत अर्थात् अन्यतीर्थिक साधुओ मे मिले हुए अरिहन्त चैत्य (जैन साधुओ) को तथा उपलक्षण से अवसन्न पार्श्वस्थ आदि को भी वन्दन नमस्कार करना नहीं कल्पता है ।"

तब फिर आप वहाँ चैत्य का अर्थ जिन-प्रतिमा क्यो करते हो ?

उ०—इसके लिए अधिक कहने की आवश्यकता नही है क्योंकि मै इस प्रश्नोत्तर माला मे पहिले ही खुलासा कर चुका हूँ। दूसरा "मूर्त्तिपूजा का प्राचीन इतिहास" नामक पुस्तक में आनन्द श्रावक के अधिकार में प्रामाणिक प्रमाणो द्वारा अच्छी तरह से इस बात का विवेचन कर दिया है। फिर भी आप का विश्वास यदि पूज्यजी महाराज पर ही हो तो आपके पूज्यजी के भी बड़े पूज्यजी (जो इस अलग समुदाय के स्थापक हैं) श्रीहुकमीचन्दजी महाराज ने अपने हाथो से २१ सूत्र लिखे हैं जिनमे आपने " उपासकदशाङ्ग सूत्र " भी लिखा है, उसमे पूज्यजी महाराज ने निखालिस (निर्मल) हृदय से लिख दिया कि अन्यतीर्थियो से ग्रहण की हुई जिन-प्रतिमा आनन्द श्रावक को वन्दन नमस्कार करना नहीं कल्पता है। वह हस्त-लिखित प्रति बहुत काल तक पूज्यश्रीलालजी महाराज के पास रही थी बाद में स्वामी डालचन्दजी ने जब ब्यावर में स्थिरवास किया तब पूज्यजी ने वह प्रति स्वामी डालचन्द जी महाराज को दे दी थी। कृपा कर आप और आपके पूज्यजी महाराज, पहिले उस सूत्र को प्रति को देख लें ?

आगे आपके पूज्यजी महाराज. चैत्य शब्द का अर्थ के लिए तथा तीर्थङ्करों की मूर्त्तियो की पूजा के लिए यद्वा तद्वा शब्द लिख अपने मगज की सब शक्ति का व्यय कर चुके है। किन्तु फिर भी मूर्त्ति का विषय इतना व्यापक सिद्धान्त है कि आपको इस विषय का पूर्णतया अभ्यास करने मे बहुत समय की आवश्यकता है क्योकि मूर्त्तिपूजा शास्त्रो से सिद्ध है सो तो है ही; किन्तु आज तो अनेक पुरातत्त्व विशारद पौवर्त्यि और पाश्चात्यो की शोधखोज से इतने ऐतिहासिक साधन उपलब्ध हुए हैं कि भगवान् महावीर के पूर्व भी जैनो मे मूर्त्तिपूजा खास धर्माराधन का एक अंग समझा जाता था। इस विषय में यदि विशेष जानना हो तो देखो "मूर्त्ति-पूजा का प्राचीन इतिहास प्रकरण पाँचवा।" इसके पढ़ने से आपको पूर्ण सन्तोष हो जायगा कि जैनो मे मूर्त्तिपूजा का मानना सनातन से चला आया है। यदि आपके पूज्यजी महाराज का विशेष आग्रह आनन्दश्रावक के अधिकार में आया हुआ अरिहन्तचैत्य के बारे में ही है जिसका अर्थ पूज्यजी ने जैन साधु किया है और इसे सिद्ध करने को इधर उधर की ऊट पटांग अनेक बातें लिखी हैं, पर पहिले अपने घर मे तो देख लेते कि हमारे पूर्वजो ने जैन सूत्रो में जहाँ चैत्य शब्द आया है वहाँ उसका अर्थ साधु किया है या प्रतिमा ?—उदाहरण के तौर पर देखिये:—

(१)—स्थानकवासी साधु अमोलखर्षिजी

—श्रीउववाई सूत्र में 'चइया' (चैत्य) शब्द का अर्थ यक्ष का मन्दिर किया है।

—श्री उववाइ सूत्र में पूर्णभद्र चैत्य का अर्थ किया है—मन्दिर।

—श्रीप्रश्नव्याकरण सूत्र पृष्ट ८ में चैत्य का अर्थ प्रतिमा किया है।

—श्री प्रश्नव्याकरण सूत्र पृष्ट १२२ में चैत्य का अर्थ प्रतिमा किया है।

(२)—स्थानकवासी साधु जेठमलजी ने समकितसार ग्रन्थ के पृष्ट १०६ पर चैत्य का अर्थ प्रतिमा किया है। आगे १२४ पृष्ठ पर भी चैत्य का अर्थ प्रतिमा पुनः पृष्ठ १२६ पर भी चैत्य शब्द का अर्थ प्रतिमा ही किया है।

(३)—स्थानकवासी समाज के प्रसिद्ध विद्वान् स्वामि रत्नचन्द जी शतावधानीजी ने अपने अर्द्धमागधी कोश में चैत्य का अर्थ इस प्रकार किया है कि—

"अरिहंत चेइया (पु० ना०) अर्हच्चैत्य-अरिहंत संबंधी कोइपण स्मारक चिंह्न"

(४)—आप स्वयं पूज्यजी ने भी इसी उपासकदशांग सूत्र के पृष्ठ ६ पर पूर्णभद्र चैत्य का अर्थ मन्दिर ही किया है।

इसके अलावा विद्वानो ने इस वात को स्वीकार कर ली है कि चैत्य का अर्थ प्रतिमादि स्मारक चिन्ह ही होता है यदि विशेष देखने की इच्छा हो तो उन्हे "मूर्त्ति जा का प्राचीन इतिहास" नामक पुस्तक के पृष्ट ९९ से देखना चाहिये।

प्र०—हमारे पूज्यजी महाराज ने उपासकदशांग सूत्र मे लिखा है कि वीतराग देव की सावद्य पूजा करने वाले संसार में चिरकाल भ्रमण करेगा ?

उ०—आप ही वतलाइये कि सावद्य पूजा किसको कहते हैं ?

उ०—जिस पूजा में हिंसा होती हो ?

उ०—जब तो श्री वीतराग देव को वन्दन करने वालेभी संसार में भ्रमण करेगा ही। क्योंकि वन्दना करने में भी तो ऊठ-बैठ करने में असंख्य वायुकाय के जीवों की हिंसा होती है, समझे न।

प्र०—पूजा करने में तो वायुकाय के अलावा जल पुष्प अग्नि के जीवो की भी हिंसा होती है ?

उ०—भगवान् ने यह कब फरमाया था कि वायुकाय के जीवों के लिये तुम्हे छूट है कि कितने ही जीव मरे पर तुम्हें पाप नही लगेगा।

प्र०—वीतराग की वन्दन करने में अध्वसाय शुभ होने से उस हिंसा का पाप नहीं लगता है पर पुन्य एवं शुभ कर्म बंधते हैं।

उ०—तो क्या पूजा करने में हमारे परिणाम खराब रहना आप समझते हैं ?

प्र०—नहीं। परिणाम तो खराब नहीं रहता है।

उ०—फिर आपके वन्दना करने में वायुकाय के जीवो की हिसा हो उसका तो आपको पाप नही लगे और हमको पूजा करने में पाप लग जाय यह किस कोरट का न्याय है। जरा हृदय पर हाथ धर आपही सोचे कि उत्सूत्र भाषण करना, परमेश्वर की भक्ति का निषेद करना, और इस कारण से बेचारे भद्रिक लोगो को बहका कर धर्म से पतित बनाने वाले तो संसार में भ्रमण नहीं करे पर संसार से पार हो जायगा, और पूर्णभक्ति से परमेश्वर की सेवा पूजा भक्ति, चैत्यवन्दन स्तुति स्तवनादि क्रिया करने वाले संसार में भ्रमण करेगा। क्या आपकी अन्तरात्मा इस बात को स्वीकार कर लेगा, सच्चे दिल से आप ही कह दीजिये ?

प्र०—मेरी आत्मा तो इस बात को स्वीकार नहीं करती है

पर क्या करें हमारे पूज्यजी महाराज कहे उसे स्वीकार तो करना ही पड़ता है।

उ०—यह तो आप जैसा से ही बन आसकता है कि समझ लेने पर भी आप मिथ्या हट को नही छोड़ते हो और पूज्यजी की लीहाज में आकर अपना अहित करने को तैयार हो रहे हो। पर याद रखो इसका नतीजा इस भव और परभव में क्या होगा। अभी भी आपके लिये समय है, सोचो समझो और सत्य को ग्रहण करो। मुझे तो आपकी दया आरही है क्योंकि आप सच्चे जिज्ञासु हैं इसलिये ही कहना है कि आप परमेश्वर की पूजा कर आपना कल्याण करें, फिरतो आपकी मरजी।

प्र०—बस! अब मैं आपको विशेष कष्ट देना नहीं चाहता हूँ क्योंकि मैं आपके प्रारंभिक प्रश्नोत्तर से ही सब रहस्य समझ गया, पर यदि कोई मुझ से पूछ ले उस को जवाब देने के लिये मैंने आप से इतने प्रश्न किये हैं। आपने निष्पक्ष होकर न्याय-पूर्वक जो उत्तर दिया उससे मेरी आन्तरात्मा को अत्यधिक शान्ति मिली है। यह बात सत्य है कि वीतराग दशा की मूर्त्तियों की उपासना करने से आत्मा का क्रमशः विकास होता है। मूर्त्ति बिना क्या हिन्दू और क्या मुसलमान, क्या समाजी और क्या क्रिश्चियन किसीका भी काम नही चल सकता। चाहे वे प्रत्यक्ष में माने, चाहे परोक्ष में माने पर मूर्त्ति के सामने तो सबको शिर अवश्य झुकाना ही पड़ता है। मैं भी आजसे मूर्त्ति का उपासक हूँ और मूर्त्तिपूजा में मेरी दृढ़ श्रद्धा है-आप को जो कष्ट दिया, तदर्थ क्षमा चाहता हूँ। और अब तो मेरे भोजन का समय हो गया है वास्ते रजा लेता हूँ।

उ०—अच्छा भाईसाहब। आप गुणग्राही हैं और सत्य को ग्रहण करने वाले हैं इसलिए मैं मेरी टाइमको सफल समझता हूँ।

उपसंहार

मैं कहता हूँ कि शाबास ! वीर शाबास !! मूर्त्ति-पूजा में दृढ़ श्रद्धालु होना और उसका उपासक बनना यह आपकी कर्त्तव्य-शीलता भव-भयभीरुता और सत्य को स्वीकार करने की सद्बुद्धि है । एवं यह आपका आत्महित कार्य प्रशंसनीय भी है । फिर भी आपको जरा यह बतला देना चाहता हूँ कि, जैन मन्दिर मानने में जैनियों को हानि है या लाभ ? इसे भी जरा ठेर कर एकाग्र ध्यान से समझें ।

(१) गृहस्थो को अनर्थ से द्रव्य प्राप्त होता है । और वह अनर्थ मे ही व्यय होता है, अर्थात् आय व्यय दोनो कर्म बन्धन के कारण हैं । इस हालत में वह द्रव्य यदि मन्दिर बनाने में लगाया जाय तो सुख एवं कल्याण का कारण होता है । क्योंकि एक मनुष्य के बनाये हुए मन्दिर से हजारो लाखो मनुष्य कल्याण प्राप्त करते हैं । जैसे आबु आदि के मन्दिरों का लाभ अनेक अंग्रेज तक भी लेते हैं ।

(२) जैनमन्दिर मे जाकर हमेशां पूजा करने वाला, अन्याय, पाप और अकृत्य करने से डरता रहता है, कारण उसके संस्कार ही ऐसे हो जाते हैं ।

(३) मन्दिर जाने का नियम है, तो वह मनुष्य प्रति दिन थोड़ा वहुत समय निकाल वहाँ जा अवश्य प्रभु के गुणों का गान करता है और स्वान्तःकरण को शुद्ध बनाता है ।

(४) हमेशां मन्दिर जाने वाले के घर से थोड़ा बहुत

द्रव्य शुभ क्षेत्र में अवश्य लगता है, जिससे शुभ कर्मों का संचय होता है। और सुख पूर्वक धर्म साधन भी कर सकता हैं।

(५) मन्दिर जाकर पूजा करने वालों का चित्त निर्मल और शरीर अरोग्य रहता है, इससे उसके तप, तेज और प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है।

(६) मन्दिर की भावना होगी तो वे नये २ तीर्थों के दर्शन और यात्रा भी करने अवश्य जायंगे। जिस दिन तीर्थ-यात्रा निमित्त घर से रवाने होते हैं उस दिन से घर का प्रपञ्च छूट जाता है। और ब्रह्मचर्य व्रत पालन के साथ ही साथ, यथा-शक्ति तपश्चर्या या दान आदि भी करते है, साथ ही परम निवृत्ति प्राप्त कर ज्ञान-ध्यान भी किया करेगा।

(७) आज मुट्ठी भर जैनसमाज की भारत या भारत के बाहिर जो कुछ प्रतिष्ठा शेष है वह इसके विशालकाय, समृद्धि-सम्पन्न मंदिर एवं पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रन्थों से ही है।

(८) हमारे पूर्वजों का इतिहास, और गौरव इन मन्दिरों से ही हमें मालूम होता है।

(९) यदि किसी प्रान्त में कोई उपदेशक नहीं पहुँच सके वहाँ भी केवल मंदिरों के रहने से धर्म अविशेष रह सकता है, नितान्त नष्ट नहीं होता है।

(१०) आत्म कल्याणमें मंदिर मूर्त्ति मुख्य साधन है। यथारुची सेवा पूजा करना जैनों का कर्त्तव्य है चाहे द्रव्य पूजा करे एवं भाव पूजा पर पूज्य पुरुषों की पूजा अवश्य करे।

(११) जहां तक जैन-समाज, मन्दिर-मूर्त्तियों का भाव भक्ति से उपासक था वहाँ तक, आपस में प्रेम, स्नेह, ऐक्यता,

संघ-सत्ता, जाति संगठन तथा मान, प्रतिष्ठा, और तन मन एवं धन से समृद्ध था।

(१२) आज एक पक्ष तो जिन तीर्थंकरों का सायं प्रातः समय नाम लेता है, उन्हीं की बनी मूर्त्तियो की भर पेट निन्दा करता है, और दूसरा पक्ष तीर्थंकरो के मूर्त्ति की पूजा करता है परन्तु प्रति पक्षियो के अधिक परिचय के कारण पूर्ण आशातना नहीं टालने से आज उभयपक्ष इस स्थिति को पहुँच रहा है।

(१३) आज इतिहास के साधनों से जो जैनियों का गौरव उपलब्ध होता है उसका एक मात्र कारण उनके मन्दिरो के निर्माण एवं उदारता ही है।

(१४) आज अंग्रेज और भारतीय विद्वानों पर जैन धर्म का जो प्रभाव पड़ा है, जैन धर्मोपासकों की धवल कीर्ति के जो गुण-गान गाये जाते हैं, तथा भूतकालीन जैनो की जो जहुजलाली और गौरव का पता पड़ता है उसका सारा श्रेय इन्हीं जैन मन्दिरों को है। जैनों के इतिहास का अनुसंधान भी इन्हीं मन्दिरों से हो सकता है। जैनो ने मन्दिर, मूर्त्ति को मोक्ष का साधन समझ असंख्य द्रव्य इस कार्य में व्यय कर भारत के रमणीय पहाड़ो और राजा महाराजाओं के विशाल दुर्गों मे, जैन-मंदिरों की प्रतिष्ठा करवाई हैं।

(१५) जैन मन्दिर मूर्त्तियों की सेवा पूजा करने वाले बिमारावस्था में यदि मन्दिर नही भी जा सकते है तो भी उनका परिणाम यही रहेगा कि आज मैं भगवान का दर्शन नहीं कर सका यदि ऐसी हालत मे उसका देहान्त भी होजाय तो उसकी गति अवश्य शुभ होती है। देखा मंदिरों का प्रभाव ?

अन्त में श्रीमती शासन देवी से हमारी यही नम्र प्रार्थना है कि वे हमारे भाइयो को शीघ्र सद्बुद्धि दें, जिससे पूर्व समय के तुल्य ही हम सब संगठित हो, परम प्रेम के साथ शासन सेवा करने में भाग्यशाली बनें।

ॐ शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!
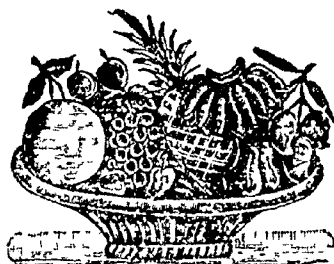
इति
मूर्त्ति पूजा विषयक प्रश्नोत्तर समाप्तम

क्या जैनतीर्थंकर भी

डोराडाल मुँहपर मुँहपत्ती बाँधते थे ?

दो शब्द

इस पुस्तक के लिखने का खास कारण हमारे स्थानकवासी साधु ही हैं क्योंकि कई दिनो तक तो स्थानकवासी साधु मुँहपर मुँहपत्ती बाँधने का कारण हमसे उपयोग नहीं रहना ही बतलाते थे और बाद में साध्वी के साड़ा के डोरे का नाम लेकर डोरा की सिद्धि करने लगे, और अब साधुओं के ही नहीं किन्तु खास तीर्थङ्करों के मुँहपर डोराडाल मुँहपत्ती बाँधे हुए कल्पित चित्र बनवा के पुस्तकों में मुद्रित करा रहे हैं। इनमें पूज्य जवाहिर-लालजी महाराज ने "सचित्र अनुकम्पा विचार" नामक पुस्तक में आचार्य केशीश्रमण के, मुँहपर मुँहपती बंधने का चित्र छपवाये हैं। प्र० व० चोथमलजीने भगवान् महावीर के और श्रीशंकरमुनिजी ने भगवान् ऋषभदेव आदि के कल्पित चित्र बनवा कर इनके मुँहपर मुँहपत्ती बँधवा दी है। ऐसी हालत में इन मिथ्या पुस्तको से गलतफहमी न फैल जाय, इस उद्देश्य को लक्ष्य में रख मैंने आगमिक एवं ऐतिहासिक साधनो के आधार पर यह छोटी सी पुस्तक लिखी है। इसको आद्योपान्त पढ़ कर मुमुक्षु भव्यजन सत्याऽसत्य का निर्णय कर सत्य को ग्रहण करें। यही मेरी हार्दिक शुभ भावना है। किमधिकम्।

—मुनि ज्ञानसुन्दर—

क्या जैनतीर्थङ्कर भी डोराडाल

मुँहपर मुँहपत्ती बांधते थे

जैन-धर्म मे श्रमण दो प्रकार के बतलाये हैं—(१) अचेलक, (२) सचेलक। जिनमे (१) अचेलक, तीर्थङ्कर और जिनकल्पी साधु, वे बिलकुल वस्त्र पात्रादि किसी प्रकार की उपाधि पास में नहीं रखते हैं। (२) सचेलक—स्थविरकल्पी साधु जो जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट इस तरह उपाधिधारक होते हैं। ये कम से कम एक वस्त्र, एक पात्र और ज्यादा से ज्यादा चौदह उपकरण रखते हैं। इन उपकरणों को रखने का हेतु और प्रमाण भी शास्त्रकारो ने स्पष्ट बतला दिया है। इन चौदह उपकरणों में मुँखवस्त्रिका भी एक है, जिसका प्रमाण अपने हाथ से एकविलस्त और चारअंगुल का है तथा रखने का हेतु उड़ते हुए मच्छर, मक्खी, पतङ्ग आदि जीवों की रक्षार्थ बोलते समय मुँह के आगे रखने का है, जैसे—पात्रा आहार आदि लेने और खाने के समय काम आते हैं। रजोहरण—शरीर पूँजने को या काजा रज लेने के समय काम आता है। इसी तरह मुँखवस्त्रिका भी बोलते समय मुँह के आगे रखने के काम में आती है। और यह प्रवृत्ति तीर्थङ्कर भगवान् के समय से विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक तो अविच्छिन्नरूप से

चली आरही थी। जिसके शास्त्रीय और ऐतिहासिक सैकड़ों प्रमाण अद्यावधि भी उपलब्ध हैं।

कई एक लोगों का कहना है कि विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में श्रीमान् लौंकाशाह हुए, उन्होंने अपना एक नया मत निकाला। उस समय मुँहपत्ती में डोरा डाल दिन भर मुँह पर बाँधने की एक नई रीति चलाई थी, परन्तु यह बात प्रमाण-शून्य केवल कल्पना मात्र ही है, क्योंकि लौंकाशाह ने जब अपना नया मत निकाला था, तब उनकी मान्यता के विषय में लौंकाशाह के समकालीन अनेक विद्वानों ने अपने २ ग्रंथों में सविस्तार चर्चा की है। उन्होंने लिखा है कि *लौंकाशाह, जैनाश्रम, जैनागम सामायिक, पौसह, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, दान और देव-पूजा कतई नहीं मानता था। लौंकाशाह गृहस्थ था, और जब वह सामायिक, पौसह, प्रतिक्रमणादि भी नहीं मानता था, तो मुँहपत्ती बाँधने की बात ही कहाँ रही? यदि लौंकाशाह ने मुँहपर मुँहपत्ती बाँधी होती, तो पूर्वोक्त बातो के साथ तत्कालीन लेखक उस समय के लिए बिलकुल नई इस प्रथा की चर्चा भी जरूर करते, परन्तु उन लेखको ने ऐसा कहीं नहीं लिखा है। अत: यह बात स्वयं प्रमाणित होती है कि लौंकाशाह खुद मुँह-पत्ती नहीं बाँधी थी, किन्तु उनके बाद में २०० वर्ष पश्चात् यह प्रथा चालू हुई; इसका निर्णय आज अनेकों प्रमाणों से हो जाता है।

वि० स० १५७८ में लौंकागच्छीय यति श्री भानुचन्द्र ने भी

---

* देखो वि० सं० १५४३ में पं० लावण्य समय कृत चौपाई, और वि० सं० १५४४ में उ० कमल संयम कृत चौपाई, तथा लौंकाशाह के समकालीन मुनि वीकाकृत असूत्र निवारण बत्तीसी। आदि

लौंकाशाह के विषय में बहुत कुछ लिखा है। यद्यपि इन्होंने लौंकाशाह द्वारा निषेध सामायिकादि पूर्वोक्त क्रियाओं का कोई स्पष्ट विरोध नहीं किया है तथापि दवी जबान से इन्हे स्वीकार करते हुए भी "मुँहपत्ती दिनभर मुँहपर बाँधना" इस विषय का तो कहीं आंशिक उल्लेख भी नहीं किया है। यह भी हमारी उपर्युक्त मान्यता को ही परिपुष्ट करता है। कि "मुँहपत्ती बाँधने का रगड़ा लौंकाशाह के बाद का है। लौंकाशाह के समय का या उससे पूर्व का नहीं" इसमे यह एक प्रबल प्रमाण है। दूसरा फिर सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि "लौंकाशाह की परम्परा सन्तान में यति और श्रीपूज्य आदि हैं, वे डोराडाल दिन भर मुँह-पर मुँहपत्ती नहीं बाँधते हैं, और न मुंहपत्ती बाँधने वालों को श्रेष्ठ समझते हैं। यही नहीं, किन्तु उल्टा ऐसा करने वालों का घोर विरोध करते हैं। और स्पष्ट शब्दों में यह घोषित करते है कि श्रीपूज्य शिवजी और बजरंगजी ने अपने शिष्य धर्मसिंह और लवजी को अयोग्य समझ कर गच्छ से बहिष्कृत किया था और इसीसे धर्मसिंह ने आठ कोटि और लवजी ने मुँहपर मुँहपत्ती बाँधने की नई कल्पना कर, जिनाज्ञा और लौंकाशाह की मान्यता का भङ्ग कर उत्सूत्र की प्ररूपणा की थी, जिससे ही वे निन्हवों की पंक्ति मे समझे जाते हैं।

श्रीमान् लौंकाशाह के जीवन सम्बन्ध मे हमें करीव २८ लेखकों के लेख प्राप्त हैं, किंतु उनमें केवल अर्वाचीन दो लेखकों के सिवाय सभी लेखकों का यही मत है कि लौंकाशाह गृहस्थ था। और गृहस्थाऽवस्था में ही उसका देहान्त हुआ था। जब गृहस्थ रहते हुए लौंकाशाह ने सामायिक, पौसह, प्रतिक्रमण,

प्रत्याख्यान, आदि क्रियाएँ भी नहीं मानीं, तो मुँहपर मुँहपत्ती बांधने की तो उसे कोई आवश्यकता ही शेष नहीं रही।

(१) स्था० साधु अमोलखर्पिजी ने अपने "शास्त्रोद्धार-मीमांसा" नाम के ग्रन्थ में पृष्ट ६९ पर लिखा है कि लौंकाशाह ने १५२ मनुष्यों के साथ मुँहपर मुँहपत्ती बाँध दीक्षा ली किन्तु आपने यह नहीं बताया कि लौंकाशाह ने कब ? कहाँ ? और किससे दीक्षा ली ?।

(२) स्था० साधु मणिलालजी अपनी "प्रभुवीर पटावली" नामक पुस्तक पृष्ट १७० पर लिखते हैं कि लौंकाशाह ने अकेले पाटण में जाकर यति सुमतिविजयजी के पास वि. सं. १५०९ श्रावण सुदि ११ को यति दीक्षा ली" आपके कथनानुसार यदि लौंकाशाह ने यतिदीक्षा ली भी हो तो यह निःसंदेह है कि लौंकाशाह मुँहपत्ती हाथ में ही रखते थे।

इस प्रकार उपर्युक्त इन्हीं दो महाशयों ने लौंकाशाह को दीक्षा लेने का लिखा है। परन्तु स्था० साधु संतबालजी तथा वाड़ीलाल मोतीलाल शाह अपने लेखों में लिखते हैं कि "लौंका-शाह बिलकुल वृद्ध और अपंग था इससे यति दीक्षा नहीं ले सका" इस प्रकार शेष जितने भी लेखक हैं उन सबका यही मत है कि लौंकाशाह ने दीक्षा नहीं ली, किंतु गृहस्थ दशा में ही काल किया।

अब यह सवाल पैदा होता है कि जब सब लेखक यही लिखते हैं कि "लौंकाशाह ने दीक्षा नहीं ली" तो फिर केवल स्था. साधु अमोलखर्पिजी और मणिलालजी ये दोनों ही लौंका-शाह के दीक्षा लेने की नयी कल्पना क्यों करते हैं ?। इसका

निराकरण यो है कि—इन दोनो महाशयो ने अपनी २ पुस्तकों में लिखा है कि—धर्मस्थापक गुरु और गच्छस्थापक लौंकाशाह गृहस्थ नहीं परन्तु साधु होना चाहिये, अतः गृहस्थ गुरु का कलंक अपने पर से मिटाने के लिए ही इन्होने यह नयी कल्पना की है।

किन्तु खास देखा जाय तो लौंकाशाह ने न तो दीक्षा ली, और न उन्होने कभी मुँहपर मुँहपत्ती बांधी थी और न लौंकाशाह के समय मुँहपत्ती विषयक कभी कहीं वाद विवाद हुआ। जैसे मूर्त्ति आदि के विषय में हुआ था।

प्राचीन जमाने के कई स्थानकवासी भोले थे अतः सरल हृदय से सत्य बात साफ २ कह देते थे कि हमारा उपयोग न रहे इससे डोराडाल मुँहपर मुँहपत्ती बांधते हैं। और बाद मे कई एक यह दलील करने लगे कि—साध्वी के साड़ा में डोरा डालने का शास्त्र में उल्लेख नही होने पर भी जब वह डोराडाल के बाधा जाता है तो इसी भांति यदि मुँहपत्ती मे डोराडालने का शास्त्रीय विधान न हो पर सदा उसे मुँहपर रखने के लिए डोराडाल दिया जाय तो क्या हर्ज है? किन्तु इस प्रश्न का यह प्रत्युत्तर है कि साध्वी के साड़ा मे डोरा डालना यह नई प्रथा नही किन्तु खास तीर्थङ्करों के समय की है, और साध्वी को तो लज्जा का स्थान ढंकना जरूरी भी है, पर साधुओं का मुँह तो कोई लज्जा का स्थान नही है कि जिसे मुँहपत्ती मे डोरा डाल के ढांका जाय? साध्वी साड़ा में डोरा डाल के बांधे यह प्रक्रिया कोई लोक विरुद्ध भी नहीं हैं किन्तु साधु मुँहपत्ती मे डोरा डाले यह तो शास्त्र के साथ लोक विरुद्ध भी है। साध्वी के साड़ा में डोरा डालने का आज पर्यन्त भी किसी ने विरोध नही किया, किन्तु मुँहपत्ती में

डोरा डालने का केवल जैनाचार्यों ने ही नही किन्तु स्वयं लौंका-गच्छ के आचार्यों ने भी सख्त विरोध किया है। क्यों कि साध्वी के साड़ा में डोरा डालना कोई कुलिङ्ग (खराब-लक्षण) नहीं किन्तु साधु के मुँहपर डोराडाल मुँहपत्ती बाँधना कुलिङ्ग और शासन की अवहेलना करवाना है।

कई एक लोग कहा करते हैं कि खुले मुँह बोलने से वायु-काय के जीवों की विराधना होती है। इससे डोरा डाल मुँह पर मुँहपत्ता बाँधी जाती है। यदि सचमुच यही कारण हो तो फिर साध्वी के साड़ा का उदाहरण क्यो दिया जाता है ? क्यों कि वायुकाय के जीवो की हिंसा और साध्वी के साड़ा के डोरे का कोई सम्बन्ध नही है। अधोभाग- सभ्य मनुष्य का लज्जा स्थान है अतः सिवाय जिन-कल्प साधु के, हरेक मनुष्य इसे सर्वदा ढका रखता है, परन्तु लौकिक व्यवहार में सदा सर्वदा अपना मुँह कौन छिपाये रखता है ? इसे प्रत्येक बुद्धिशील स्वयं सोच सकता है।

अब रहा वायुकाय के जीवों का सवाल ?—सो वायु काय के जीवो का शरीर आठस्पर्शी ❀ है, और भाषा का पुद्गल है, चौस्पर्शी † तो चौस्पर्शी पुद्गलो से आठस्पर्शी शरीर वाले जीव मर नहीं सकते हैं। यदि भाषा का योग प्रवर्त्तने से एवं अन्य पुद्गल मिल जाने से चौस्पर्शी पु० अठस्पर्शी होजाते हैं तो फिर मुँहपत्ती बांधने से वायुकाय के जीवो की हिंसा (विराधना) रुक नहीं सकती है। क्यों कि जहा थोड़ा भी अवकाश है वहाँ वायुकाय के असंख्य जीव भरे ‡ पड़े हैं।

❀ देखो —भगवती सूत्र शतक १२-५। † पन्नवणा सूत्र पद १२ वां ‡ पन्नवणा सूत्र पद पहिला।

जैसे:—मुँह की पोलार में, नाक की पोलार मे, कॉन की पोलार में, आंखों की पलकों मे, इत्यादि शरीर के अनेक अङ्गो मे वायु-काय के असंख्य जीव रहते हैं और भाषा प्रारंभ-अर्थात् कण्ठ से निकलते ही मुँह मे के वायुकाय के जीव मर जाते हैं। तथा वे पुद्गल वस्त्र की मुँहपत्ती तो क्या पर यदि लोह की भी मुँहपत्ती लगाई जाय तो भी निकलने से रुक नही सकते। हां! यह उपाय हो सकता है कि यदि मुँह की पोलार को वस्त्रादि ठूंस ठांस कर भर दी जाय तो इन जीवो की रक्षा हो सकती है। परन्तु ऐसा दया पात्र न तो आज तक कोई नजर आया, और न फिर आने की संभावना है।

वास्तव मे मुँहपत्ती से जो मुँह बाँधा जाता है वह वायु काय के जीवो की रक्षा का कोई कारण नही है किन्तु मिथ्यात्व का उदय होने पर जो खोटी बात पकड़ ली है उसे हठधर्मी से अब नहीं छोड़ना ही है। क्यो कि यदि ऐसा न होता तो जो साधु सदा मौन व्रत रखते हैं या श्रावक मौन-व्रत से सामायिक करते हैं, उनको फिर मुँहपर मुँहपत्ती बांधने की क्या जरूरत हैं। ? क्यों कि उनका सिद्धान्त तो यह है कि खुले मुँह बोलना नही चाहिए, किन्तु जब मौन-व्रत ही है तो फिर न तो बोलना और न वायु काय के जीवो का मरना होता है, ऐसी हालत मे मुँहपर मुँहपत्ती बांधने से सिवाय नुकसान के कोई फायदा नहीं है।

वायु-काय जीवों के शरीर बादर होते हुए भी वे इतने सूक्ष्म हैं कि छद्मस्थो के दृष्टि मे नही आते हैं। यह बात खुद तीर्थ-ङ्करोंके कहने से आज भी हम ज्यो की त्यो मानते हैं। जब तीर्थ-

ङ्कर खुद घण्टो तक व्याख्यान देते हैं और उस समय न तो उनके पास कोई वस्त्र रहता है और न मुँहपत्ती, तथा न ३४ अतिशयों में ऐसा कोई अतिशय बताया है कि तीर्थङ्कर घंटों तक व्याख्यान दे किन्तु उनके बोलने से वायुकाय के जीव न मरे। तीर्थङ्करों के हलते चलते फिरते और बोलते समय असंख्य वायुकाय के जीव मरते है। और इसी से उनके समय समय पर वेदनी कर्म का बन्धन होता है। किन्तु जरा पक्षपात और हठवादिता का चश्मा उतार कर यदि सोचें तो ज्ञात होगा कि जिन तीर्थङ्करों ने वायुकाय के जीवों का अस्तित्व हमें बतलाया है तथा चलने फिरने से उनकी विराधना होना दिखाया है वे स्वयंभी कुदरती कार्यों में योगों की प्रवृत्ति से असंख्य जीवोंके मरने से नहीं बच सके हैं। ऐसी दशा में आप जैसे अल्पज्ञ जीव कपड़े का एक टुकड़ा मुँहपर बांध उस कुदरती जीव हिंसा को कैसे रोक सकते हैं ?। परन्तु जिन लोगो में यह कुप्रवृत्ति चालु है वह उनकी शास्त्रीयऽनभिज्ञता का परिचायक है और क्षणिक मानसिक कल्पना द्वारा विचारे भद्रिक जीवो को घोर उल्टे मार्ग मे लगाया है।

असल मे तो मुँह पर कपड़े की पट्टी बांधना यह मुँहपत्ती नहीं पर एक प्रकार का कुलिङ्ग है। इससे कपड़े पर श्लेष्म लगने से असंख्यात समुत्सम त्रस जीवो की उत्पत्ति होती है और वे मरते हैं इससे कर्म-बन्धन का कारण होता है। और जैन धर्मकी अवहेलना करने से मिथ्यात्व का दोष भी लगता है। तथा यह कुप्रथा आरोग्यता की दृष्टि से यदि देखा जाय तो भी स्वास्थ्य को बड़ी हानिकर सिद्ध हुई है। तथा सूक्ष्मदृष्टि से यदि देखा जाय तो यह आत्मघात एवं संयम घातिक भी है।

स्थानकवासी भाई मुँहपत्ती रखने के असली स्वरूप को समझ नहीं सके हैं कि जैन साधु या श्रावक मुँहपत्ती क्यों रखते हैं। यदि वे (स्था०) कुछ जानते हैं तो इतना ही कि हमारे पूर्वज मुँहपर मुंहपत्ती बांधते थे और खुला मुँह बोलने से जीव मरते हैं। इस लिए चाहे बोलो या मौन रक्खो, चाहे दिन हो चाहे रात, चाहे जागृत या सोते पर मुँहपर मुँहपत्ती बांधे रखना ही मोक्षका कारण मान लिया है। यदि साधुओं को प्रतिलेखन करते समय जब मुँहपत्ती खोली जाती है तब भी उस समय कोई गृहस्थ मुँह देख नहीं ले इस लिए मुँह पर कपड़ा डाल दिया जाता है। बस! अंध परम्परा, और गताऽनुगति इसी का ही नाम है।

मुँह-पत्ती का आदर्श (महत्त्व) और इसके पीछे जो विशुद्ध भावना रही है वह हमारे स्थानकवासी भाई नहीं समझते हैं। स्थानकवासी साधुओं को अभीतक इस बात का ज्ञान ही नहीं है कि जैन साधु मुखवस्त्रिका क्यों रखते हैं? और वह किस २ क्रिया में काम आती है?। स्थानकमार्गी श्रावक सामायिक, पौषह, प्रतिक्रमण आदि जब करते हैं तब मुँहपत्ती हो तो भी काम चलता है और न हो तो भी काम चल सकता है। एक कपड़े को धाटा (किनारा) मुँहपर लपेट देने पर भी सामायिकादि क्रियाएं वे कर सकते हैं। परन्तु जैन श्रावकों के तो विना मुँहपत्ती सामायिक, पौसह, प्रतिक्रमणादि क्रियाएँ हो ही नहीं सकती, और न साधुओं के प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, संथारा पोरसी, आलोचनादि क्रियाएं हो सकती हैं।

जब स्थानकमार्गी भाई दिन में दो वक्त मुँहपत्ती को इधर

उधर देख के कृतकार्य हो जाते हैं तब मूर्त्तिपूजक समाज में कोई भी क्रिया करो, पर प्रत्येक क्रिया के प्रारम्भ में मुँहपत्ती प्रतिलेखन द्वारा अशुभ भावना को हटा कर शुभ भावना द्वारा आत्म-विशुद्धि करके ही क्रिया क्षेत्र मे प्रवेश किया जाता है।

अब जरा ध्यान लगा के जैनियो की मुँहपत्ती की प्रतिलेखन क्रिया को सुन कर समझने का कष्ट करें।

"मुँहपत्ती का प्रतिलेखन करते समय की विधि में सर्वप्रथम मुँहपत्ती खोलते ही अनुभव से विचार किया जाता है कि "सूत्र अर्थ सच्चा श्रद्धहू, कामराग, स्नेहराग, दृष्टिराग, परित्याग करूँ। मिथ्यात्व मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय का परित्याग करूँ। कुगुरु कुदेव, कुधर्म का परित्याग करूँ। सुगुरु, सुधर्म, सुदेव, अंगीकार करूँ। ज्ञानविराधना, दर्शन विराधना, चारित्र विराधना का परित्याग करूँ। ज्ञान, दर्शन, चारित्र अंगीकार करूँ। मनदंड, वचनदंड, कायदंड का परित्याग करूँ। मनगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति, अंगीकार करूँ" इस प्रकार ये २५ बोल कहके मुँहपत्ती का प्रतिलेखन करने के बाद मुँहपत्ती द्वारा शरीर का प्रतिलेखन किया जाता है। तद्यथा:—

कृष्ण, नील, कापोतलेश्या, ऋद्धिगारव रसगारव, साता गारव, मायाशल्य, निधानशल्य, मिथ्या दर्शन शल्य, हास्य रति, आरति, भय, शोक, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ पृथ्वी, अप, तेज वायु वनस्पति और त्रसकाय की विराधना इन २५ बोलों का परित्याग करूं ×

× इनका विधान किसी जैनमुनियों से हासिल करें कि कौन से बोल किस प्रकार किस स्थान बोला जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त इन ५० बोलो द्वारा आत्मा को निर्मल पवित्र और विशुद्ध करके, बाद में श्रावक सामायिकादि क्रियाएँ करते हैं, और साधु "गोचरी" जाना, पच्चख्खाँण, पारना, संथारा पौरसी करना, आदि जो क्रियाएँ करते है उस समय इस प्रकार भावना पूर्वक मुँहपत्ती का प्रतिलेखन करते है। समझे न।

अब यह बात हम हमारे पाठको पर छोड़े देते हैं कि मुँह पत्ती का महत्त्व, सत्कार, और उपयोग किस समुदाय में विशेष है? इसे स्वयं सोच लें। अब रहा खुले मुँह बोलने का सवाल- खुले मुँह बोलने की कोई भी समुदाय आज्ञा नही देता। यदि कोई व्यक्ति प्रमाद के कारण खुले मुँह बोला हो तो आलोचना कर शुद्ध हो सकता है। पर इसका अर्थ यह नही कि किसी को खुले मुँह बोलता देख आप सदा सर्वदा के लिए दिन भर मुँह पत्ती मे डोरा डाल मुँह पर बाधले। यदि ऐसा ही है तो चद्दर का पल्ला इधर उधर उड़ता देख उनसे वायुकाय के जीवों की हिंसा की कल्पना कर कोट, कुर्त्ता, और चोलपटे के झपेटे मे वायुकाय के जीवो को मरता देख, धोती, पाजामा और शिर के बाल इधर उधर होने से असंख्य वायुकाय के जीवो की हत्या का विचार कर पगड़ी, साफा, टोप और टोपी ही क्यो न पहनली जाय, जिससे इन असंख्य वायुकाय के जीवो का बचाव सहज ही मे होजाय। यदि यह कहा जाय कि ऐसा करने से साधु को कुलिङ्ग रूपी मिथ्यात्त्व का सेवन करना पड़ता है जो वायुकाय के जीवों की विराधना से भी घोरतर पाप का कारण है तो फिर मुँहपत्ती में डोरा डाल मुँहपर बांधने से भी कुलिङ्ग रूपी मिथ्यात्व का

पाप क्यो नही समझा जाय—हमारी राय मे तो अवश्य समझना ही चाहिए ।

हमारे स्थानकमार्गी भाई मुँहपत्ती द्वारा किस हद तक दया पालते हैं इसे सुनिये:—आपने कई चक्की चलाने वाली औरतों को मुंहपत्ती बांधने का उपदेश दिया है और बतलाया है कि चक्की चलाने वाली कही खुले मुँह गीत आदि गाकर वायुकाय के जीवो की हिंसा न करलें । तथा रसोई करने वाली कई औरतें भी रसोई बनाते समय भी मुँहपर मुँहपत्ती बाँधती हैं । यही क्यों पर साधु या गृहस्थ मुँहपर मुँहपत्ती बान्धी हुई रखते हुए भी वादविवाद मे मिथ्या बोलना कठोरवाक्य असत्य भाषा सावद्य वचन बोलने का जितना ख्याल न रखते है उतना मुँहपत्ती बाँधने का आग्रह करते है शायद् पूर्वोक्त बोलने से भी खुले मुँह बोलने का पाप अधिक हो या मुँह पर मुहपत्ती जोर से बाँध लेने से पूर्वोक्त पापकारी वचन बोलने का पाप नही लगता हो कारण पाप भी मुँहपत्ती से डरता हो ? क्यो यही न या और कोई रहस्य है।

प्रिय पाठक वृन्द ! आपने देख लिया यह अनूठा दयाधर्म जो चक्की चलते वक्त एकेन्द्रियादि लाखोजीव मारे जायँ–रसोई मे देहधारी अनेक प्राणी स्वाहा होजाय–तो परवाह नही, पारस्परिक वैमनस्य से मनुष्यो की शिर फुडौवल बन जाय तो कोई हर्ज नही, किन्तु स्थानकमार्गी संसार के अनन्य उपकारी अदृष्टकार्य केवल खुले मुंह वोलने से वायुकाय के जीव न मरें यही इनका परमोत्तम दया धर्म है (!) वायुकाय के जीवो की रक्षा करना बुरा नही पर बहुत अच्छा है किन्तु मिथ्या कदाग्रह कर अन्य त्रसजीवो की ओर

विशेष जिनज्ञा की उपेक्षा करना यह दया नहीं पर दया की ओट में मिथ्यात्व का पोषण है ।

सज्जनों! स्वामी रत्नचन्द्जी शताऽवधानी ने अर्धमागधी-कोष प्रथम भाग में एक श्रावक के उत्तरासन का फोटो दिया है । उसे देख कर आश्चर्य होता है कि एक शाताऽवधानी जैसे विद्वान् को भी पक्षपात का कितना मोह है, कि उस उत्तरासन में न तो मूर्त्ति और न मुँहपत्ती का विषय है किन्तु फिर भी समझ में नहीं आता कि शास्त्र का नाम लेकर ऐसा भद्दा चित्र क्यों प्रकाशित करवाया गया है ? । श्रावक का उत्तरासन अच्छा शोभनीय होता है, परन्तु शताऽवधानीजी ने तो एक कपड़े को गले में डाल मुँह पर धाटा सा लगा दिया है । समझ नहीं पड़ता कि ऐसी भद्दी आकृति किस आधार से बनाई है। जैनों में दो दो हजार वर्षों की प्राचीन उत्तरासन की बहुत सी आकृतिएं हैं । पर ऐसा उत्तरासन तो कहीं भी देखने में नहीं आया । हमारे स्थानकमार्गी भाईयों को मुँहपर मुँहपत्ती बाँधने का समर्थक कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिला तो उन्होंने कई एक स्वकपोल-कल्पित चित्र बनवा कर सचित्रग्रंन्थ छपवा, खास तीर्थङ्करों के मुँहपर डोराडाल मुँहपत्ती बँधे हुए चित्र छपा दिये हैं । ऐसा करने में पूज्य जवाहिरलालजी, * प्र० व० चौथमलजी † और मुनि शंकरलालजी का नाम विशेष प्रसिद्ध है । इन महानुभावों ने भगवान् ऋषभदेव, बहुबलर्षि, प्रश्नचन्द्रमुनि, पाँच पाण्डव, केशीश्रमण और महावीर प्रभु के मुँहपर डोरा-

* सचित्र अनुकम्पा विचार † प्रभु महावीर संदेश ‡ सचित्र मुख वास्त्रिका निर्णायादि पुस्तकों । जो मुझे हाल ही में मिली उनके उत्तर रूप में ही प्रस्तुत पुस्तक लिखी जा रही है ।

वाली मुँहपत्ती बाँधने के कल्पित चित्र तैयार करवा,के उनके फोटू अपने ग्रन्थो मे दे दिए हैं। और इनसे भोली-भोली भद्रिक जनता और बहिनो को बहिकाया जाता है कि मुँह पर मुँहपत्ती केवल हम ही नही किन्तु तीर्थङ्कर भी बाँधते हैं तथा यह प्रथा हमने नही किन्तु खास तीर्थङ्करो ने जारी की है। इस प्रकार अनेक खरे खोटे माया जाल रच ये अपना उल्लू सीधा करते हैं। परन्तु इनके ऐसा करने से भी हमें तो एक फायदा ही हुआ है वह यह कि मूर्त्ति का सख्त विरोध करने वाले स्थानकवासी भी अब यह मानने लगे हैं कि लिखने को अपेक्षा चित्र-चित्रण से अधिक ज्ञानोपलब्धि होती है और इससे वे अपनी पुस्तकों में मुँह बँधे चित्र देने लगे हैं।

जैसे सूत्रो मे तीर्थङ्करो की ध्यानाऽवस्था का वर्णन किया है किन्तु उस पाठ को पढ़ने को अपेक्षा उस पाठाऽनुकूल निर्मित चित्र को देखने से विशेष और सुगमतया हमें ज्ञान होता है। बस यही कारण हमारी मूर्त्ति मान्यता का है। दूसरा उदाहरण फिर देखिए एक सूत की माला के मणका पर हम अरिहन्त सिद्धादि का ध्यान करते हैं किन्तु उसमें अरिहन्तादि की आकृति का सर्वथा अभाव है, तब ध्यान कैसे किया जाता है। किन्तु जब तीर्थङ्करो की मूर्त्ति द्वारा तीर्थङ्करों की ध्यानाऽवस्था का ध्यान किया जाय तो उसमें अरिहन्तादि की आकृति से ध्यान सुगम हो जाता है। ऐसी दशा में इस सुगम मार्ग का अवलम्बन छोड़, एवं आकृति को वन्दना पूजना से लाभ न उठाना यह कहाँ की बुद्धिमत्ता है। तीर्थङ्कर चाहे समवसरण स्थित हो, चाहे उनका ध्यान माला के मणको पर करो, चाहे तीर्थङ्करों का चित्र या मूर्त्ति हो, पर उनकी सच्ची भक्ति का

लाभ तो भक्त जनों की भावना पर ही निर्भर है। यह समझना दुर्लभ नहीं है कि भाव तीर्थङ्करों में गुण हैं, वे आदर्श हैं छद्मस्थ मनुष्यों के दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। छद्मस्थ लोक तीर्थङ्करों के गुणों का आरोप तीर्थङ्करो के शरीर में करके ही उनको वन्दनादि कर लाभ उठाते हैं, इसी भाँति मूर्त्ति में भी तीर्थङ्करों के गुणों का आरोप कर भक्त जन लाभ उठा वे तो किसी प्रकार से अनुचित नहीं हैं। देखिये:—अशरीरी सिद्ध हैं, उनका रूप रंग नहीं हैं, उनके गुण आदर्श हैं, छद्मस्थो के नजर नहीं आते हैं, फिर भी अपने मन मन्दिर में उनके गुणो की कल्पना (मूर्त्ति) स्थापन कर, वन्दन पूजन करते हैं। आदर्श गुणों पर मन स्थिर रहने की अपेक्षा, मूर्त्ति में गुणों का अरोप कर उस पर मन स्थिर रखा जाय तो अधिक समय तक स्थायी रह सकता है।

हमारे स्था० साधुओं ने अपनी पुस्तकों में जीते हुए साधुओ के मुँह पर मुँहपत्ती बँधाई है, पर जब वे वहाँ से काल कर सिद्धों में गए हैं तो उन्हे पहचानने के लिए वहाँ सिद्धों को मूर्त्ति विराजमान की गई है, जैसे कि आजकल मन्दिरो में सिद्धों की मूर्त्तिएँ हैं, इससे इतना तो सिद्ध जरूर होता है कि बिना मूर्त्ति हमारे स्था० भाई भी सिद्धों को पहिचान नहीं सकते हैं। अर्थात सिद्धों को वन्दना करने को मूर्त्ति की आवश्यकता तो उन लोगो को भी है और बिना मूर्त्ति के इनका काम चल नहीं सकता, किन्तु साथ में आपको यह भय भी है कि हमारी पुस्तकों में हमारे हाथों से सिद्धों की मूर्त्तिओं की आकृति दी हुई देख कर कहीं लोग मूर्त्तिपूजक न बन जायँ, इस भय से चित्र के साथ यह ऑर्डर भी लिख दिया है कि ये चित्र मात्र देखने के लिए हैं न कि वन्दना करने के लिए। परन्तु यहाँ एक यह

प्रश्न होता है कि यदि किसी सहृदय भक्त को सिद्धो की या अपने आचार्यों की आकृति देख वन्दना करने का भाव उमड़ पड़े तो उसे लाभ होगा या मिथ्यात्व लगेगा ?। शास्त्रकारो के मताऽनुसार तो मूर्त्ति का निमित्त पाकर सिद्धो को 'नमोत्थुणं' देने से बड़ा भारी लाभ ही है। पर स्थानकवासी भाई इस प्रकार सिद्धो को मूर्ति के सामने 'नमोत्थुणं' देने मे क्या समझते होगे ? मेरे खयाल से तो वे भी इस बात को बुरा नही समझेंगे, क्योकि इस बात को बुरा समझते तो सिद्धो की मूर्ति का चित्र कभी नही देते ?

प्रसगोपात यहाँ पर मै मेरे पाठकोको यह बतलादेना चाहता हूँ कि आधुनिक कई मन चले स्थानकवासी साधुओ ने अपनी पुस्तको में बिना प्रमाण यानि कपोल कल्पित अनेक चित्र ऐसे छपवाये हैं कि जिससे जैन धर्म और जैन तीर्थङ्करो की अन्य धर्मियो द्वारा हासी एवं अवज्ञा करवा के मित्थात्व का पोषण करने का दुःसाहस किया है उन चित्रो से मात्र दो चित्र बतौर नमूना के ज्यो के त्यो यहा दे दिये जाते हैं जो एक तो भगवान् महावीर के मुँहपर मुँहपत्ती बंधी हुइ और दूसरा मुनिगजसुखमाल के मुँहपर मुँहपत्ती और उपर सिद्धो की मूर्त्ति का है जो पाठक इस चित्रमें देख सकते हैं।

(१) चित्र पहिला—भगवान् महावीरके मुँहपर डोरा वाली मुँहपत्ती का–आत्मबन्धुओ ! समुदायिकता और संकीर्णता की भी कुछ हद हुआ करती है पर आपतो बड़ीं हिम्मत कर उसके ही परे चले गये जरा आप निर्पक्ष हो अपने ही हृदय पर हाथ रख ठीक विचार करावें कि आपके चित्रानुसार भगवान्

ॐ स्थानकवासियो ने बिना आधार बनाये हुए कल्पितचित्रों का नमूना ॥ जैनागमोमे मुह बांधने का उदाहरण ॐ

प्र० व० मुनिश्री चोथमलजी कृत 'भगवान महावीर याचसन्देश' नामकपुस्तकमें छपा हुआ यह चित्र है।
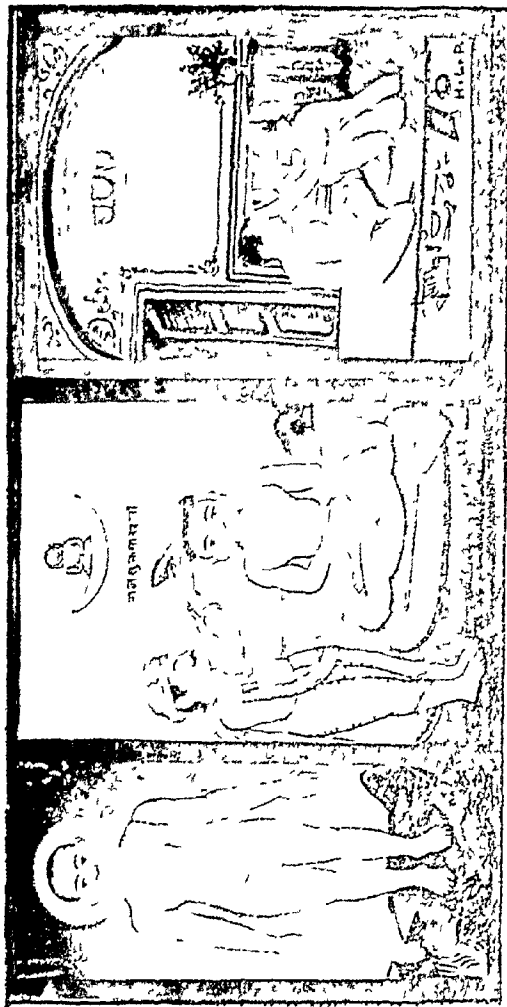
श्री ज्ञातसूत्र अध्ययन पहिला के मूलपाठानुसार नाई ने हजामत करते समय मुंह बान्धा है।

श्रीशंकरमुनिकृत "सचित्रमुखवस्त्रिकानिर्णय' नामकपुस्तक में यह चित्र मुद्रित हुआ है।

तीन चित्रों का सम्बन्ध

—स्थानकमार्गी—आपने अपनी पुस्तक में हमारे साधु आर-जियों की मूर्ति, पादुका समाधि और फोटूओं को क्यो छपवाये हैं ?

—मूर्तिपूजक—इससे आपको क्या नुकसान हुआ ?

—स्थानक०—नुकसान हो या न हो पर आपको क्या अधिकार है कि किसी समुदाय के नेताओं के इस प्रकार चित्र आप छपा सको ?

—मूर्तिपूजक—क्या आपने इन नेताओं की रजिस्ट्री कर-वाली है कि सिवाय आपके इनको देख भी न सके ? कृपया रजिस्ट्री का नम्बर तो बतलाइये ?

—स्था०—देख तो सकते हैं परन्तु आपका विचार शायद इन चित्रो को छपवाकर हम लोगों को मूर्तिपूजक बनाने का हो ।

—मूर्ति०—मूर्तिपूजक बनाने की क्या बात है, आपका अखिल समाज शुरू से ही मूर्तिपूजक है क्योंकि पूर्वाचार्यों ने जब से आपके पूर्वजों (क्षत्रिआदि थे,) को मांस मदिरादि बुरे आचरणों से छुड़वाकर वासक्षेप पूर्वक जैन बनाये थे, उसी दिन से आप मूर्तिपूजक हो हैं । यद्यपि बूरी संगति की वजह से आज आप परमेश्वर की मूर्ति मानने से दूर भाग रहे हैं तथापि आपका हृदय तो मूर्तिपूजा की ओर रजू है । इसीसे ही तो आप अपने पूज्य पुरुषों की मूर्ति पादुका समाधि और फोटू खिचवाकर इनका पूज्य भाव से सत्कार करते हो और इन निर्जीव स्मारकों को अपने पूज्य मान रहेहो । क्या यह मूर्तिपूजा नहीं है ?

—स्था०—हम लोग हमारे पूज्यपुरुषों की मूर्ति, पादुका, समाधि और चित्रों को न तो साधु समझते हैं और न इनको वन्दन पूजन ही करते हैं ।

—मूर्ति—फिर क्यों कहा जाते हैं कि ये हमारे साधुओं के

चित्रादि हैं यदि नहीं तो ये सब व्यर्थ ही क्यों बनाये जाते हैं ?

—स्था०—न तो हमारे साधु अपनी मूर्ति, पादुका, समाधि और चित्र बनवाते हैं और न वे ऐसा करने का उपदेश ही देते हैं और न उनको वन्दन नमस्कार ही करते हैं।

—मूर्ति०—यदि आपके साधुओ को अपनी मूर्ति, पादुका, समाधि और फोटूओं द्वारा अपनी पूजा करवाना इष्ट नहीं है तो फिर इन मूर्ति आदिक किसके उपदेश से किसने बनवाई ?

—स्था०—यह तो भक्त लोगों ने अपनी भक्ति से बना ली हैं।

—मूर्ति०—मूर्तियें तो भक्त लोगो ने अपनी भक्ति के वशीभूत होकर बना ली होगी परंतु इन फोटुओ से तो प्रत्यक्ष मालूम होता है कि आपके पूज्यजी ने सावधानी से बैठकर रूची पूर्वक फोटू खिंचवाया है। यदि ऐसा नही होता तो इसका पूर्ण रूप से विरोध करते ताकि अब तक एक भी फोटू नहीं मिलता। इसके बदले में आपने तो बहुत साधुओ के फोटुओ का ग्रूप बनवाकर मूल्य पर बिकवाने का भी अनुमोदन किया और वे ग्रूप आज भी भक्तों के घर २ में दृष्टिगोचर हो रहे हैं। उन्हीं से ही प्रस्तुत दो ग्रूप हमको प्राप्त हुए हैं वे आपके सामने विद्यमान हैं।

—स्था०—खैर! कुछ भी हो परन्तु आपके मंदिर बनवाने में व मूर्तिपूजा करने में जितना आरम्भ होता है उतना हमारे पूर्वोक्त कार्यों में नहीं होता है।

—मूर्ति०—सच बतलाओ जब इनको आप मानते ही नहीं तो फिर इनके बनवाने का क्या मतलब है ?

—स्था०—मतलब क्या! ये हमारे उपकारी पुरुष हैं। उन्हीं की स्मृति के लिये ये सब बनवाये जाते हैं ?

—मूर्ति०—हाँ यह ठीक है। परंतु फिर आप आरंभ की बात

क्यों करते हैं ? यह तो आपको ही ज्ञात है कि यदि बड़ी दुकान में खर्चा अधिक है तो लाभ भी अधिकाधिक ही होता है। और छोटी दुकान मे थोड़ा खर्चा होता है तो लाभ भी उतने ही प्रमाण में होता है। पर व्यवहारिक दृष्टि से तो दोनों समाज एक कोटि के ही व्यापारी कहे जा सकते हैं। फिर हमको आरंभी और आप मूर्तिपूजक होते हुए भी अनारंभी कहना यह किस अदालत का इन्साफ है ? जरा हृदय पर हाथ रख कर सोचो एवं समझो।

— स्था०—अजी आरंभ की बात नही है, परन्तु आप तो मूर्ति को परमेश्वर समझकर पूजा करते हैं।

— मूर्ति०—जब आप अपने पूज्य पुरुषों के चित्रो को देखते हो तब उस समय इन्हें क्या समझते हो ?

— स्था०—हम हमारे पूज्यादि के चित्रों को हमारे पूज्यादि नहीं समझते हैं वे तो रग या स्याही से रंगित कागज के टुकड़े हैं।

—मूर्ति०—यदि उन चित्रो को स्याही से रंगित कागज ही समझते हो तो फिर हजारो रुपये खर्चकर, छः काया के जीवों का आरंभ कर उसे बनाने का इतना कष्ट क्यों किया जाता है ? उसे पैरो के तले न डाल कर, सुन्दर मकान में लटका कर इतना सत्कार क्यों किया जाता है ? और उसी चित्र की कोई बे अदबी करता है तो आप नाराज क्यों होते हैं ?

—स्था०—नहीं जी, हमतो नाराज नही होते हैं।

—मूर्ति०—आपने तो अपने हृदय को बड़ा ही कठोर बना लिया मालूम होता है यदि मुसलमानों की मसजिद के चित्र का कोई अपमान करता है तो उसे कोई भी मुसलमान सहन नहीं कर सकता है पर आप तो उनसे भी आगे बढ़ गये हैं। बलिहारी है आपके गुरू भक्ति की। परन्तु शायद् यह तो आपके कहने मात्र

का ही है। यदि ऐसा नहीं होता तो आप ऐसा कभी भी नहीं कहते कि हमारे पूज्य पुरुषो के चित्र आपने अपनी पुस्तकों में क्यों दिये ?

—स्था०—हमने आपसे यह सवाल मान अपमान के लिए नहीं किया है पर आप ऐसे उदाहरण देकर हमारी समाज को मूर्तिपूजक बनाना चाहते हैं और भद्रिक लोगो पर ऐसे उदाहरणों का प्रभाव पड़ जाना भी स्वाभाविक ही है।

—मूर्त्ति०—भद्रिक लोगो की तो बात ही आप रहने दीजिए क्योंकि उनका हृदय हमेशा मूर्त्तिपूजक ही होता है। चूँकि आप विद्वान् हैं इसलिए सत्य बतला दीजिये कि तीर्थङ्कर जो कि निश्चय ही मोक्ष गये हैं उनकी मूर्त्तियें या चित्र और आपके पूज्य पुरुषों की जो जाति का भी पता नहीं हैं। उनकी मूर्त्तियों आदि इन दोनों में क्या अंतर है ? और दर्शकों की भावना में क्या असमानता है ?

—स्था० – गुणीजनों के प्रति पूज्य भाव रखने की भावना तो दोनों की सदृश एवं अच्छी है।

—मूर्त्ति०—क्या यह बात आपने सच्चे दिल से कही है।

—स्था०—जी हां।

—मूर्त्ति०—बस ! ये चित्र इस हेतु को लक्ष मे रखकर छपवाये गये हैं। दूसरा कोई कारण नही है। और इस बात के लिये आपको बड़ी भारी खुशी मनानी चाहिये कि जिन उत्सूत्र प्ररूप एवं शासन भंजकों का मुँह देखने में भी लोग पाप समझते थे उन्हीं के लिए सैकड़ों रुपये खर्च कर इतना बड़ा संग्रह किया है। और इस प्रत्यक्ष प्रमाण से आप जैसे मताग्रहियों का सहसा हृदय पलट जाय। बस इसलिए इन चित्रो को यहाँ देने मे आपका या अन्य किसी का दिल दुःखा हो तो हम मांफी माँगने को भी तैयार हैं।

महावीर यदि ऐसी संकीर्णवृति रखते तो चालीस करोड़ जनता उनके झंडा के नीचे आ सकती ? कदापि नहीं ।

दूसरा आप यह बतलावे कि भगवान् महावीर ने अगर डोरा डाल मुँहपत्ती मुँहपर बान्धी थी तो छद्मस्थावस्थामें या केवलावस्था में बांन्धी थी ? यदि छद्मस्थावस्था मे बाधी तो रजोहरण चोलपटा क्यो नहीं । कारण मुँहपर मुँहपत्ती और अधोभाग बिलकुल नग्न यह शोभा नही देता है । अगर केवलावस्थामे कहो तो जब भगवान् दीक्षा धारण की उस समय इन्द्र महाराज ने एक देव वस्त्र आप के कन्धे पर डाला उसका उपयोग तो भगवान्ने नही किया पर साधिक एक वर्ष के बाद वह स्वयं गिर गया तदान्तर भगवान अचेल ही रहेथे कैसे बन सकता है क्यो कि आपके कथनानुसार भगवान् की केवलावस्था में भी मुँहपर मुँहपत्ती वांधी हुइथी । इससे वे अचेलक नहीं पर सचेलक ही हुए ।

तीसरा आपके पूर्वज और आप मुँहपर मुँहपत्ती वांधने का खास कारण बोलते समय उपयोग न रहना ही बतलाते हो तो क्या भगवान् महावीर को भी आप इसी कोटी के समझ रखा है न । शायद वे समवसरण में घंटों तक व्याख्यान देते समय कहीं उपयोग शून्य हो खुल्ले मुँह न बोल जाय । क्यो तीर्थङ्करों के मुँह पर डोरावाली मुँहपत्ती बाँधने का कारण यही है या अन्य हेतु हैं धन्य (!) है आपकी बुद्धि को, आप जैसे सुपुत्र के सिवाय तीर्थङ्करो को अचेल अवस्था में उपयोग शून्यता के कारण डोरा-डाल मुँहपर मुँहपत्ती कौन बँधावे ।

श्वेताम्बर और दिगम्बर तो अपने भगवान् महावीर को दीक्षा समय से निर्वाण समय तक अचेल ही मानते हैं इतना ही क्यों पर लौकागच्छीय संघ भी तीर्थंकर महावीर को अचेलक (वस्त्र मुक्त) ही मानते हैं तब स्थानकमार्गी समाज को मुँहपर डोराडाल दिन भर मुँहपत्ती बाँधने का कोई भी प्रमाण शास्त्र एवं इतिहास नहीं मिला और इधर अच्छे अच्छे विद्वान् एवं प्रतिष्ठित स्थानकवासी साधु मुँहपत्ती का मिथ्या डोरा तोड़ तोड़ कर मूर्त्तिपूजा स्वीकार करने लगे इस हालत में कई लोगों ने भगवान् महावीर के मुँहपर डोरावाली मुँहपत्ती बांधने के कई कल्पित चित्र बना कर भद्रिक जनता को वहका रहे हैं कि भगवान् महावीर भी मुँहपर मुंहपत्ती बाँधते थे। शायद स्थानकवासी समाज ने अपने एक अलग ही महावीर की कल्पना करली हो जो स्थानकवासी समाज के सदृश उपयोग शून्य होगा और इसी कारण उन स्थानकवासी समाज के अल्पज्ञ महावीर को डोराडाल मुंहपर मुंहपत्ती बाँधनी पड़ी हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है और उसी उपयोग शून्य अल्पज्ञ महावीर का चित्र बना के स्वामि चौथमलजी ने अपनी पुस्तक में मुद्रित करवाया हो, यह बात मानने मे कोई हर्ज भी नहीं है पर जैनश्वेताम्बर दिगम्बर और लौकागच्छीयों को सावधान रहना चाहिये ऐसे महावीर को वे हर्गिज जैन तीर्थङ्कर नहीं समझे कि जिनके मुंहपर डोरावाली मुंहपत्ती बाँधी हो, वे तो स्थानकवासी समाज के कल्पित महावीर है।

स्थानकवासी भाई मुँह पर डोराडाल मुँहपत्ती बाँधने की सिद्धी के लिये महावीर का कल्पित चित्र बनाया पर इससे झगड़ा
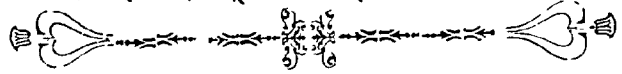
इन चारों के आदि पुरुष लोंकाशाह हो हैं न तो आपने कभी मुहपत्ती बान्धी, और न आपकी संतान आज पर्यन्त बांधती है सं० १७०८ मे लवजीर्षि ने डोरा डाल मुहपर मुहपत्ती बांधीथी जिसमें जो मतभेद है वह चित्र मे देख सकते हैं।

लौंकामत के साधु | स्था० देशी साधु | साधमार्गी प्रदेशी साधु | तेरह पंथी साधु
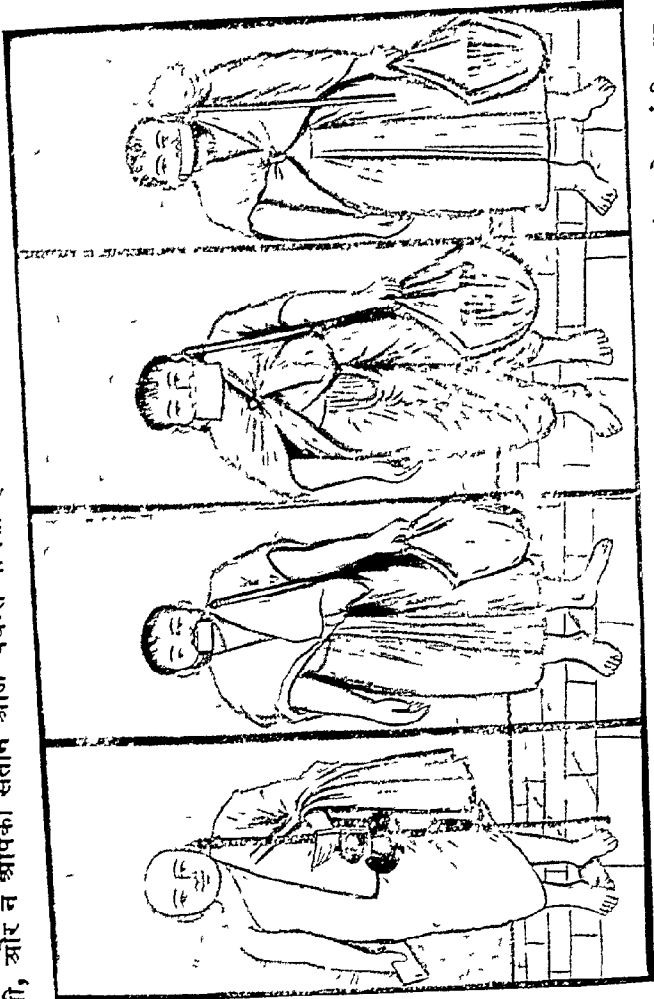
चार चित्रों का सम्बन्ध

—लौंकागच्छीय एक व्यक्ति—क्योंजी! आपने हमारे गुरुजी के चित्र के साथ इन तीन मुँह बँधे साधुओं के चित्र क्यों लगा दिये हैं ?

—मूर्त्तिपूजक—क्यों आपको क्या हर्ज हुआ ?

—लौं०—ये साधु हमारी पंक्ति के नहीं हैं ।

—मूर्त्ति०—क्या आपको दीखता नहीं है कि इन प्रत्येक साधुओं के बिच बिच में एक एक दीवार खड़ी हैं । शायद् आप इन साधुओं को भूमि पर भी खड़ा रहने देना नहीं चाहते हो । यह एक आश्चर्य की बात है कि इस बीसवीं शताब्दी में विरोधी धर्म के साधुओं के साथ भी हाथ मे हाथ मिलाये जाते हैं तो यह तीनों साधु तो अपने को लौंकाशाह के अनुयायी होना बतलाते हैं, फिर आपका हृदय इतना संकीर्ण क्यों हैं ।

—लौं०—ये तीनों साधु हमारे लौंकाशाह के अनुयायी नहीं हैं पर लौंकाशाह की आज्ञा भंजक हैं और इनका वेश एवं आचरण भी हमारे से भिन्न हैं ।

—मूर्त्ति०—लौंकाशाह ने तीर्थङ्करों की आज्ञा नहीं मानी, इन तीन साधुओं के आद्यपुरुषों ने लौंकाशाह की आज्ञा का भंग किया । अतएव आप सब हैं तो एक ही बेलड़ी के फल न ?

लौं०—आपका यह कहना ठीक नहीं हैं क्योंकि लौंकाशाह ने कब डोराडाल मुँहपर मुँहपत्ती बाँधी थी । जब इन तीनों के गुरुओं ने स्वयं डोराडाल मुँहपर मुँहपत्ती बांध कुलिंग धारण किया वह इनकी शकल से ही आप देख सकते हो । इतना ही नहीं पर इन लोगों ने तो एक और ही जबर्दस्त जुल्म कर डाला है कि तीर्थङ्कर महावीर को भी अपने सदृश उपयोगशून्य समझ डोराडाल मुँहपत्ती मुँहपर बंधवादी है क्या

ऐसे साधु हमारे लौंकाशाह के अनुयायी बन सकते हैं ? कदापि नहीं।

मूर्त्ति०—इसी से ही तो हमने आप चार साधुओं के अलग अलग चित्र दिये हैं कि डोराडाल मुँहपत्ती मुँहपर वांधने वाले महावीर किस साधुओं के तीर्थङ्कर हैं। मुँहपत्ती का निशान मिलाने से तो यही मालुम होता है कि यह महावीर नं० २ के देशी साधुओं के ही हैं क्योंकि महावीर के मुँहपत्ती छोटी बधाइ है जैसे देशी साधु बाँधते थे। सवाल यह होता हैं कि आप तो मुँहपत्ती हाथ में रखते हो इसलिये मुँहपत्ती बांधने वाला महावीर के साथ आप का कोई भी सम्बन्ध नहीं है पर विचारे परदेशी साधु या तेरहपन्थियों का क्या हाल होगा। क्या वे छोटी मुँहपत्ती वाले महावीर को अपना तीर्थङ्कर मान लेगा ? या अपने सदृश बड़ी या लंबी मुँहपत्ती वाले कोई अन्य महावीर की अलग ही कल्पना करेगा जैसे देशी साधुओं के लिये महावीर का चित्र है।

—देशी साधुओ का भक्त—क्योंजी ! आपने हमारे साधु के पास परदेशी साधु या तेरहपन्थी साधु को क्यों खड़ा कर दिया है। क्या इससे हमारे साधु का अपमान नहीं हुआ है ?

—मूर्त्ति०—हाय ! हाय !! इन साधुओं के अन्तर में इतना बड़ा लक्कड़ खड़ा होने पर भी एक दूसरा साधु को देखने मात्र से न जाने पाप का पहाड़ टूट पड़ता हो। यह कैसी साधुता। यह कैसी जगत-बन्धुता। हमने तो देशी परदेशी साधुओं को एक पाट पर विराजमान हो व्याख्यान देते देखा है, फिर आप अन्तर में लक्कड़ होने पर भी एक दूसरे देखने में ही अपना अपमान समझते हो। अफसोस ३। खैर आप कुच्छ भी समझें। मैंने तो केवल महावीर के मुँहपर बन्धी हुई डोरा वाली मुँहपत्ती का मिलाने के लिये ही आप लोगों के साधुओं का चित्र दिया है

और यह देशी साधुओं के लिये फायदा मंद भी है क्योंकि यह महावीर देशी साधुओं के सिद्ध हुए हैं।

—परदेशी साधुओं का भक्त।—कुच्छ भी हो पर जिस देशी साधुओं के साथ हमारे परदेशी साधुओं का संभोग ही नहीं है, उसके पास हमारे साधुओं को खड़ा कर देना, इसके लिये तो हम आपको अवश्य जवाब पूछेंहींगे।

—मूर्ति०वाह! वाह!! मेहरबान। आपने ठीक कहाँ। इस बीसवी शताब्दी में ८४ जाति के महाजन शामिल बेठ भोजन कर सकते हैं, मुशाफरखाने में हिन्दू मुसलनमान साथ में ठेर सकते हैं। इस हालत में आपके साधुओं के बिच एक बड़ी खाई होनेपर भी एक भूमिपर खड़ा रहने में इतना मान अपमान? शायद आपको यहतो दर्द नहीं है कि वे महावीर देशी साधुओं के सिद्ध होगये।

—तेरहपन्थी साधुओं का भक्त— नं१-२-३ के महावीर को हम तीर्थङ्कर कभी नहीं मानेंगे क्योंकि महावीर वही हो सकता है कि जिसके लम्बी मुँहपत्ती हो जैसे कि हमारे पूज्यजी महाराज बांधते है। पर हमारे साधु कों आपने इन मिथ्यात्वियों के पास खड़ा कर दिया यह ठीक नहीं किया इससे तो हमारा अपमान होता है।

—मूर्ति—अरे भाई! आप इन तीनों को साधु समझें या मिथ्यात्वी पर मनुष्यत्वके नाते से तो आपके साधु मनुष्य हैं और ये तीनो साधु भी मनुष्य हैं। मनुष्यके साथ मनुष्य भूमि पर खड़े है। इस में मान अपमान की तो क्या बात है।

—एक व्यक्ति—चाहे कुच्छ भी हो पर हमारे साधुओं का चित्र देने का आपको क्या अधिकार है। क्या इस बात का हम आपको जवाब नहीं पुछ सकते है?

—मूर्ति—बतलाओ तो सही कि यहाँ आप एक के भी साधु है कहाँ ? क्या आप आकाश से तो बातें नहीं कर रहे है ।

—एक व्यक्ति—ये आपने चार साधुओं का चित्र दिया है न।

मूर्ति—बस ! आप अपने पूज्य विद्वानों से पूछ के बात करो । क्या इस कागज स्याही के चित्रों को आप अपने साधु मान कर मान अपमान समझते हो इस हालत में शायद् इसी प्रकार कल पाषाण की मूर्ति को भी आप भगवान् मानने नहीं लग जाओ ।

—एक—नहीं जी हम पाषाण की मूर्ति को कभी भगवान नहीं समझते हैं ।

—मूर्ति—तो फिर इस स्याही और कागज के चित्रों को आप अपने साधु कैसे समझते हो । यदि जैसे स्याही और कागज के चित्र को आप अपने साधु समझ, मान अपमान का खयाल करते हो और इस से आपको यह बोध हो जाता है कि यह स्याही और कागज के चित्र से ही हमारी आत्मा पर असर पड़ता है इसी प्रकार तीर्थंकरों की पाषाणमय प्रतिष्ठित मूर्ति का भी अन्तरात्मा पर प्रभाव अवश्य पड़ता है तो आपके और हमारे बिच में कोई मतभेद नहीं है । यदि इस बात को आप स्वीकार करलें तो इन चित्रों से यदि आपको दुःख हुआ हो उसकी हम आप से क्षमा की अवश्य प्रार्थना कर आपको सन्तुष्टित कर देगा । नहीं तो आपको यह कहने का कोई भी अधिकार नहीं है कि हमारे साधुओ को इन साधुओं के साथ क्यो खड़े किये हैं । आप तो इस को स्याही और कागज ही समझें कि मान अपमान के खयाल ही नहीं पैदा हो फिर आगे

कम नहीं हुआ पर इससे तो झगड़ा और भी बढ गया क्योंकि यह मुँहपत्ती तो देशी स्थानकवासी समुदाय की छोटी हैं अब प्रदेशी समुदाय वालो को बड़ी मुँहपत्ती वाले महावीर का चित्र तथा तेरहपन्थी लोगों को लम्बी मुँहपत्ती वाला महावीर की कल्पना करनी पड़ेगी, क्योंकि लोंकामत के साधु, देशी साधु, प्रदेशी साधु और तेरहपन्थी साधुओं के मुँहपत्ती का मार्क एक नही पर भिन्न-भिन्न है जिसका चित्र आपके सामने विद्यमान हैं।

(२) चित्र दूसरा—मुनि गजसुखमाल का है आप ध्यानास्थिति होने पर भी आपकेमुँहपर मुँहपत्तीबँधादी है शायद् इनका यह मतलब हो कि बिना मुँहपत्ती बाँधे किसी कि मोक्ष ही नहीं होती हो पर इसमें भी एक त्रुटी तो रह ही गई। कारण मुनि गजसुखमाल कर्म क्षय कर मोक्ष में गये अर्थात् सिद्ध हुए उनकी पहिचान के लिये सिद्धशीला पर सिद्धो की मूर्त्ति स्थापित की पर उस सिद्धों की मूर्त्ति के मुंहपर मुंहपत्ती बंधाना तो भूल ही गये यदि यह भूल न करते तो यह भी सिद्ध हो जाताकि मुँहपत्ती डोराडाल मुँहपर केवल तीर्थङ्कर ही नहीं पर सिद्धके भी मुँहपत्ती बँधी रहती है और चलती कलम में उस सिद्धो की मूर्त्ति के मुँहपर मुँहपत्ती करवा देते तो न लगता अधिक खर्चा और न रहती किसी प्रमाण की आवश्यकता जैसे कि तीर्थङ्कर महावीर और मुनि गजसुखमाल के चित्र मे आप कर वतलाया है।

मुनि गजसुखमाल के चित्र से एक निर्णय सहज में ही हो जाता है और वह यह है कि हमारे स्थानकवासी भाई बिना मूर्ति तो सिद्धो को पहचानभी नहीं सकते हैं इसीसे ही आपको गजसुखमाल मुनि सिद्ध होने की साबुती मे सिद्धों की मूर्ति स्थापन करनी पड़ी

है जैसे कि जैन लोग अपने मन्दिरो में सिद्धों की मूर्ति स्थापन करते हैं हमारे स्थानकवासियों का इस चित्रमय सिद्धों की मूर्ति और जैन के मन्दिरोंमें पाषाणमय सिद्धोंकी मूर्ति में कोई भेद नहीं है भेद है तो केवल हमारे स्थानकवासियो के हट कदाग्रह का है।

(३) चित्र तीसरा—राजा श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार ने भगवान् महावीर के पास दीक्षा लेने का निश्चय किया इस हालत में राजा श्रेणिक ने दीक्षा का महोत्सव कर नाई को बुलाया और ओर्डर दिया कि दीक्षा योग्य वाल छोड़ के मेघ कुमार की हजामत बनावो। तव नाई ने हाथ पग धोकर आठ पुड़ के कपड़ा से मुँह वांध कर मेघ कुमार की हजामत कर रहा है यह दृश्य तीसरा चित्र में वतलाया है इसका वर्णन श्री ज्ञातासूत्र पहिला अध्ययन मे है तथा इसी प्रकार श्री भगवतीसूत्र शतक ९ उद्देशा ३३ में जमोली क्षत्री कुमार के अधिकार में आता है जैन सूत्रों में हजामत करने के समय अपनी मुँह की दुर्गन्ध रोकने के लिये केवल नाइ ने ही आठ पुड़ के कपड़ा से मुंह वांधने का उल्लेख मिलता है न कि साधु श्रावक का।

इन तीनों चित्रो को साथ में देने का सिर्फ इतना ही कारण है कि जैन सूत्रो मे दीक्षा के समय नाइ ने आठ पुड के वस्त्र से मुँह वांधा जिसका प्रमाण तो हमने सूत्र ज्ञाताजी तथा भगवती जी का प्रमाण दे दिया है पर भगवान् महावीर और मुनि गज-सुखमाल के मुँह पर मुँहपती किस प्रमाण से वँधाइ है वह हमारे स्थानकवासी भाइ वतलावें वरना अपनी अज्ञता एवं उपयोग शून्यता का कलंक तीर्थंकर जैसे महापुरुषों पर लगाया है जिस

का प्रायश्चित कर उत्सूत्र रूपी वज्रपाप से बच कर अपना कल्यान करे ।

अस्तु—प्रसंगोपात्त हम इतना कह कर पुन' प्रकृत विषय पर आते हैं कि शायद हमारे स्था० भाइयों को यह विश्वास होगा कि इन कल्पित चित्रों को सब ससार एवं विद्वद् समाज नहीं तो भोले भाले साधुमार्गी लोग तो मान ही लेंगे कि डोराडाल मु हपर मुँहपत्ती बाँधना स्वामी लवजी से ही नहीं किन्तु भगवान् ऋषभदेव और प्रभु महावीर से चला आता है। क्योंकि इन चित्रो में आदि, अन्तिम तीर्थंकरो के मुँहपर डोरासहित मुँहपत्ती बंधी हुई है और दूसरी बात यह है कि भूतकाल का तो कोई प्रमाण नहीं मिले, परन्तु भविष्य में तो आज के ये चित्र भी प्राचीन हो जायगे तब तो प्रमाणिक समझे जायंगे न ? तथा आज जो भिन्न२ धर्मों का इतिहास लिखा जा रहा है कम से कम उनमें तो एक ऐसे धर्म का भी उल्लेख' हो जायगा कि भारत मे वीसवीं शताब्दी मे एक ऐसा भी धर्म है जिसके उपासक दिन भर मुँहपर मुँहपत्ती बाँधे रखतेहै और इनकी पुस्तकों में ऐसे चित्र हैं कि इन के ज्ञानी तीर्थङ्कर भी उपयोग शून्यता के कारण डोराडाल मुँहपत्ती मुँहपर बाँधते थे बस इन्हीं सब कारणों से ये कल्पित चित्र तैयार कराए गए हैं। पर फिर भी इनमे एक त्रुटि अवश्य रह गई है; वह यह कि यह प्रवृत्ति एक पूज्य हुकमीचन्दजी महाराज के सिंघाड़ा वाले साधुओ से ही शुरु हुई है। और शेष कितनेक'स्थानकमार्गी इसका विरोध भी करते हैं। वे कहते हैं कि तीर्थङ्कर न तो पास में कपड़ा रखते थे और न वे मुँहपत्ती बाँधते थे। स्वामी अमोलखर्षिजी ने राजप्रश्नी सूत्र के हिन्दी अनुवाद पृष्ठ २०८ पर अपनी ओर से

लिखा है कि तीर्थंकर बिलकुल वस्त्र नहीं रखते थे, इसी प्रकार और भी अनेक सम्प्रदायों का इसमे विरोध है । यदि स्वामीजी मुनि सम्मेलन मे इस बात के लिये सबकी सम्मति लेते तो कम से कम स्थानकमार्गी तो इस बात का विरोध नहीं करते कि तीर्थंकर मुँहपर मुँहपत्ती नहीं बाँधते थे ।

कई एक सज्जन यह सवाल करते हैं कि यदि मूर्ति पूजकों ने सिद्धो की मूर्ति को मुकुट कुण्डल पहना दिये तो हमने उन्हे मुँहपर मुँहपत्ती बधा दी इसमें बुरा क्या किया ? इसके उत्तर मे प्रश्नकर्त्ता को पहिले मूर्ति पूजकों से यह समझना चाहिए कि वे मुकुट कुण्डल क्यो पहनाते हैं ? सुनिये- मूर्ति-पूजक मूर्ति में चारो अवस्थाओ का आरोप करते हैं । स्नात्र के समय जन्मावस्था, मुकुट-कुण्डल के साथ राजावस्था, अष्ट प्रतिहार के समय अरिहन्ताऽवस्था, और ध्यान के समय सिद्धाऽवस्था, ये चारो अवस्थाएं क्रमशः तीर्थंकरों की थीं और शास्त्रो मे इसका उल्लेख है । पर तीर्थंकरों के मुँहपर डोराडाल मुँहपत्ती बांधना यह कौनसी अवस्था तथा किस शास्त्र का उल्लेख है ? क्योकि तीर्थंकरों ने गृहस्थावास मे छद्मावस्था में, या कैवल्यावस्था मे कभी मुँहपत्ती नहीं बांधी थी । फिर समझ मे नहीं आता है कि तीर्थंकरो के मुँहपर मुँहपत्ती किस अवस्था की है ? जगत् पूज्य विश्वोपकारी तीर्थंकरों की सूरत नाहक भद्दी बनाना यह केवल अपनी संकीर्ण वृत्ति का ही परिचय है । एवं अपने क्षुद्राभिप्रायों का दोष महापुरुषो पर लगाना महान् निन्द्य कर्म है । क्या हमारे स्थानकमार्गी भाई इस संकीर्णता को दूर कर कभी इस बात को समझेंगे ? ।

सज्जनों ! जमाना सत्यवाद-प्रमाणवाद और इतिहासवाद, का है । इस समय प्रत्येक पदार्थ की पड़ताल हो रही है । सूक्ष्म से सूक्ष्म बात की आज छानवीन हो रही है । प्रत्येक लेख, आकृति, अब इतिहास की कसौटी पर कसी जा रही है । अपनी अपनी मान्यता को सिद्ध करने को आज हरेक समुदाय ऐतिहासिक साधन संग्रह कर रहेहैं, पौर्वात्य और पाश्चात्य पुरातत्त्वज्ञों की शोध खोज से अनेक मूर्तियों, चित्र, सिक्के, शिलालेख प्राचीन ग्रन्थादि की सामग्री प्राप्त हुई है । और इन साधनो द्वारा आज प्राचीनता का निर्णय हो सकता है ।

क्या हमारे स्थानकमार्गी भाई भगवान ऋषभदेव से महावीर तक किसी तीर्थङ्करों के मुँहपर मुँहपत्ती बांधने का एक भी ऐतिहासिक प्रमाण उपस्थित कर सकते हैं ? यदि नहीं तो फिर ये कल्पित चित्र किस आधार से बनाए गए हैं, और ऐसे कृत्रिम चित्रों की क्या कीमत हो सकती है ? तीर्थङ्करों के प्रादुर्भाव को तो बहुत समय बीत गया है, पर विक्रम की अठारहवीं शताब्दी अर्थात् स्वामी लवजी के पूर्व का भी कोई प्रमाण नहीं मिलता है कि किसी जैनाचार्य-साधु या श्रावक ने किसी समय मुँह पर डोराडाल मुँहपत्ती बांधी थी । और इसके विरुद्ध हाथ में मुँहपत्ती रखने के प्रमाण प्रचुरता से मिल सकते हैं । उदाहरणार्थ कुछ नमूने आगे चल कर दिखावेंगे ।

मुखवस्त्रिका के विषय शास्त्रीय 'प्रमाण'

सबसे पहिला यह निर्णय कर दिया जाय कि स्थविर कल्पी साधुओं को कितने उपकरण विशेषमें कितनी मुँहपत्तियो रखनी चाहिये। यथा—

"समणस्स सुविहियस्स तु पडिग्गह धारिस्स भवति भायणभंडोवहिउवकरणं, पडिग्गहो १, पादबंधणं २, पादकेसरिया ३, पादठवणं ४ च, पडलाइं तिन्नेव ५, रयत्ताणं च ६, गोच्छओ ७, तिन्निव य पच्छाका १०, रयोहरणं ११, चोलपट्टकं १२, मुहणंतकमादीयं १३, इयंपिय संजमस्स उववूहणट्ठाए"

उपरोक्त पाठ मे सुविहित-संयमी साधू को संयम धर्म की रक्षा करने के लिए उपकरण रखने को कहा है सो पात्र, व पात्रों को बांधने को कपड़े की झोली, पात्रो को प्रमार्जन करने के लिए ऊन के कपड़े का टुकडा जिसको पात्रकेशरिका कहते हैं, कंबल के खड पर पात्र रक्खें उसको पात्र स्थापन कहते हैं। गोचरी जावे तब झोली व पात्रों के ऊपर आच्छादन करने के लिये कम से कम तीन पड वाले वस्त्र को पडले कहते हैं, ऋतु भेद से पॉच या सात पडवाले पडले रखने में आते हैं, उससे सचित्त रज, छोटा वड़ा जीव या जलादि वस्तु आहार पर गिरने न पावे इसलिये गोचरी जावें तब पडलों से पात्रों को अवश्य आ-च्छादित करें, गौचरी लाकर पात्रे रक्खे तब उपर से ढकने के वस्त्र को रजत्राण कहते हैं, अथवा पात्रों को बांधने के बीच में

वस्त्र लपेटा जावे उसको रजस्त्राण कहते हैं, अर्थात् ये दोनों काम में आ सकते हैं, गौचरी के बाद में पात्रे बांध कर ऊपर से ऊन का वस्त्र खंड बांधने में आता है, इसको गोच्छा कहते हैं, तथा दो सूत की व एक ऊन की कम्बल ऐसी तीन चद्दर रखने में आती हैं, और रजोहरण, चोलपट्टा, मुंहपत्ति आदि यह उपकरण संयम के आधार भूत होने से परिग्रह रूप नहीं हैं ।

श्री प्रश्नव्याकरण पृष्ट १४८

इस मूल पाठ—टीका और भाषा में साधु को एक मुँहपत्ती रखनी लिखी है यही बात स्था० साधु अमोलखर्षिजी ने अपने हिन्दी अनुवाद में लिखी है और श्वे० स्था० तेरह पन्थियों की मान्यता है कि जैन साधु एक मुँहपत्ती रखते हैं अब देखिये—

* स्था० साधु अमोलखर्षिजी ने इस प्रश्नव्याकरण सूत्र का हिन्दी अनुवाद किया है परन्तु आप शब्दोंका अर्थ करने में भी अभी अनभिज्ञ है कारण 'गोच्छाओं' का अर्थ होता है पात्रों पर ऊन के दो टुकड़े जो गुच्छाकार कर बांधा जाता है कि जिसमें जीवादि की विराधना न हो, आपने अर्थ किया है । पात्र पूजने की पुजनी, जो पहिले पात्र केसरिका आ चुकी है । 'पिडलाई' का अर्थ है गोचरी के समय पात्रों की झोली पर जीव रक्षा निमित डाला जाता है आपने इसका अर्थ किया है पात्रों के लपेटा जो रजस्त्रान आगे अलग कहा है 'पदठवण' का अर्थ होता है ऊंन का खण्ड कपड़ा कि जिसपर आहार के पात्र रक्खे जाते हैं स्वामीजी ने 'पाद ठवणं' का अर्थ किया है पाट पटला, तो क्या अन्य उपकरणों की भांति स्वामीजी पाट पाटला रख कर ग्रामों-ग्राम साथ लिये फिरते होंगे ? इत्यादि पर इस अन्ध परम्परा में पुच्छता है कौन, न तीर्थंङ्करों की आज्ञा न आचार्यों की आज्ञा जिसके दिल में आया वह स्वेच्छा घसीट मारता है ।

भगवान के कथनानुसार गौतम स्वामी मृगापुत्र को देखने के लिये मृगाराणी के वहां गये उस समय मृगाराणी गौतम स्वामि से कहती है—

"मियादेवी भगवं गोयमं एवं वयासी-एहणं तुब्भे भंते! मम अणुगच्छई जहाणं अहं तुब्भे मियापुत्तं दारगं उवदँसेमि, ततेणं से भगवं गोयमे मियादेविं पिट्ठओ समणु गच्छित्ति, ततेणं सा मियादेवी तं कट्ठसगडियं अणुकड्ढ-माणी, अणुकड्ढमाणी जेणेव भूमिघरे तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता चउप्पुडेणं वत्थेणं मुहबंधेति, मुहबंध माणी भगवं गोयमं एवं वयासो-तुब्भे वि णं भंते! मुंहपोत्तियाए मुंहबंधइ, ततेणं से भगवं गोयमे मियादेवीए एवं वुत्ते-समाणे मुहपोत्तियाए मुंहबंधति, ततेणंसा मियादेवी पर-म्मुही भूमिघरस्स दुवारं विहाडेति, ततेणं गंधे निगच्छति से जहा नामए अहिमडेति"

भावार्थ—मृगा राणी ने गौतमस्वामी को कहा कि हे भग-वन्! आप मेरे पीछे २ आओ मैं मेरा पुत्र आपका बतलाऊँ, ऐसा कह कर मृगाराणी मृगापुत्र के लिए आहारादि भोजन की हाथ गाड़ी खींचती हुई आगे चली, गौतमस्वामी उसके पीछे २ चले, जहाँ भूमिघर (भोंयरा) का दरवाजा था, वहा आये; वहां आकर चार पड़ वाले वस्त्र से मृगापुत्र के शरीर की दुर्गन्धी का बचाव करने के लिए मृगाराणी ने पहले अपना मुँह बांध लिया, फिर गौतमस्वामी को भी कहा कि हे भगवन् आप भी

अपनी मुँहपत्ति से अपना मुँह बाधो, ऐसे मृगाराणी का वचन सुन कर गौतमस्वामी ने भी अपनी मुँहपत्ति से अपने मुँह को बांध लिया, उसके वाद मृगाराणी ने भूमिघर को पीठ देकर के पिछाड़ी हाथ करके दरवाजा खोला तब उसमें से सर्प के मुर्दे से भी अधिक दुर्गन्धि निकली और मृगापुत्र को महान् तीव्र वेदना को भोगता हुआ गौतमस्वामी ने देखा, देख कर अशुभ कर्मों की विटम्बना से विशेष वैराग्य भावना करते हुए वहाँ से निकल कर भगवान् श्री वीर प्रभु के पास में आये।

श्री विपाक सूत्र अ० १—१ पृष्ठ २७

इस सूत्रार्थ में मृगारांणी स्वयं वस्त्रसे मुँह बांधकर बाद गौतमस्वामी को कहा भगवान् आप भी मुँहपति से मुँह बाँध लो, अब विद्वानों को सोचना चाहिये कि गौतम स्वामी के पहले से मुँहपर मुँहपत्ती बाँधी हुई होतो तो रांणी ऐसा क्यों कहती कि आप भी मुँहपत्ति से मुँह बांध लो और मुँहपत्ति उपरोक्त प्रश्नव्याकरण सूत्र के पाठानुसार गौतमस्वामी के एक ही थी न कि दो अतएव गौतमस्वामी के हाथ में मुँहपती थी उससे दुर्गन्ध की बचाव के लिये उस मुँहपतीसे मुँह बांध लिया अर्थात् मुँहपती को तीखुनी कर मुँह और नाक अच्छादित कर लिया जैसे कि रानी मृगा ने अपना मुँह बाँधा था यह एक साधारण मनुष्य के समझ में आवे जैसो सादी और सरल बात है कि जैन शास्त्रानुसार जैनमुनि सनातन से मुँहपत्ती हाथ मे ही रखते आये हैं। पर वि. सं. १७०८ में स्वामी लवजी ने अपनी आपत मिटाने को मुँहपत्ता मुँहपर बाँध के अनंते तीर्थंकर गणधर पूर्वाचार्य और लौंकाशाह की आज्ञा का भंग कर कुलिंग की प्रवृत्ति कर डाली और वह प्रवृत्ति

आज कई समझदार जानते हुए भी मात्र मतपक्ष के कारण झूट मूट चला रहे हैं आगे देखिये—

" जे भिक्खुवा भिक्खुणी वा ऊसासमाणे वा णीसासमाणे वा कासमाणे वा छीयमाणे वा जम्भायमाणे वा उड्डोएण वा वायणिसग्गे वा करेमाणे पुव्वमेव आसयं वा पोसयं वा पाणिणा परिपिहित्ता तओ संजयामेव ऊससेज्ज वा जाव वायणिसग्गं वा करेज्जा "

श्री आचारांगसूत्र श्रु० २ अ० ११ उ० ३ पृष्ठ २४७

इस पाठमें साधुसाध्वी को उश्वास, निश्वास लेते, समय खासी, छींक, उबासी, डकार वातोत्सर्ग करते पहिले मुँह व अधोभाग हाथ से ढाक कर पीछे यत्नापूर्वक करने का कहा है, इससे साबित होता है कि साधु साध्वियों के मुँह हमेशा खुले रहते हैं परन्तु बंधे हुए नही यदि बंधेहुए होते तो उश्वासादि लेते समय हाथ से मुँह ढांकने को सूत्रकार कभी न कहते और यहां तो खास मूलपाठ में मुँह आगे हाथ रखने का खुला शब्दों में कहा है, इसलिये मुँहपत्ति हाथ में रखना ही निश्चय होता है, यहांपर सूत्रकार महाराज का खास अन्तर आशय यही है कि उश्वास या छींक वगैरह करते हाथ से मुंह ढांकना, और यही बात शक्रेन्द्र के प्रश्न के उत्तर में कही है जरा निर्पक्ष होकर देखिये

" सक्केणं भंते! देविंदे देवराया किं सावज्जं भास, भासति। अणवज्जं भासं भासति? गोयमा! सावज्जं पि भासं भासति, अणवज्जं पि भासं भासति! से केणठ्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ-सावज्जं पि जाव अण

वज्जपि भासं भासति ? गोयमा जाहेणं सक्केदेविंदे देव राया सुहुम कायं अणिजूहिताणं भासं भासति ताहेणं सक्केदेविंदे देवराया सावज्जं भासं भासति–जाहेणं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं निजूहिताणं भासंभासति ताहेणं सक्केदेविंदे देवराया अणवज्जं भासं भासति से तेणट्ठेण जाव भासति ”

श्री भगवती सूत्र श० १६ उ० २

गौतम स्वामि ने भगवान् से प्रश्न किया कि शक्रेन्द्र भाषा बोलता है वह सावद्य है या निर्वद्य ? हे गौतम शक्रेन्द्र मुंह आगे हाथ रख कर बोलता है वह निर्वद्य भाषा है और मुंह आगे हाथ दिया विना बोलता है वह सावद्य भाषा है इस सूत्रार्थ में स्पष्ट लिखा है कि मुँह आगे हाथ रख बोले वह निर्वद्य भाषा है पर मुँह बान्धने की गन्धतक भी सूत्र में नहीं है फिरभी हमारे स्थानकवासी भाई अभी सावद्य निर्वद्य के मतलब को नहीं समझते हैं वे तो अपने मताग्रह से केवल मुँहपर मुँहपत्ती दिन भर बान्धने में ही सब कुछ समझ रक्खा है। भले विचारो कि किसी मनुष्यने मुँहपर हाथ कपड़ा या मुखवस्त्रिका बान्ध कर भी कहा कि इस जीव को मारडालो और किसीने खुल्ले मुंह कहा कि इस जीव को मत मारो अर्थात् बचाओ अब आपके हिसाब से आप सावद्य और निर्वद्य भाषा किसको कहोगे ? क्या मुँह बान्ध कर जीव मारने को भाषा को निर्वद्य कहोगे या खुल्ले मुँख जीव बचाने वाले की भाषाको निर्वद्य कहोगे ? यदि बोलते समय खुल्ले मुँह नहीं बोलना ही आपका इष्ट है तो मौन व्रत से

सामायिक या पाँच सात दिन की तपश्चर्या करने वाले साधुओ को दिन रात मुँह बान्ध कर असंख्य समूच्छिम जीवों की हिंसाका पाप शिर पर क्यो उठाना चाहिये। फिर आगे चल कर देखिये

"जे भिखु। अचेल परिवुसिए तस्सणं भिखुस्स एवं भवति, चाएमि अहं तणफासंअहियासित्ताए सियं-फासं अहियासिताए उसण्णफासं अहियासिताए एवं दंसमस्सकासं अहियासिताए एगंत्तरे अण्णेरे विरुवरूवे-फासं अहियासिताए हिरिपडि छादणंच अहं णो संचाएमि अहियसिताए एवं से कप्पइ कडिबंधणं धारित्ताए"

आचारागं सूत्र श्रु० १-८-७

जो साधु अचल (वस्त्ररहित) रहने वाला है ऐसा वह विचार करे कि मै तृण परिसह शीतोष्ण परिसह दंस मसग (मच्छरादि) आदि और और परिसह को तो सहन करलुंगा पर गुह्य प्रदेश (पुरुष चिन्ह) रुपी लज्जारूप परिसह को सहन करने में असमर्थ हूँ ऐसे साधु को एक कटि-बन्ध यानि एक हाथ का चोडा और कटि प्रमाण लम्बा वस्त्र, रखना कल्पता है।

इस सूत्र पाठ में केवल एक कटिबँध वस्त्र साधु रख सकता है अब सोचिये आपके मुँहपत्ती का डोरा कहाँ रहा है क्या आप ऐसे साधुओ को साधु समझोगे या नहीं यदि जैनशास्त्रा-नुसार वे साधु हैं तो आप डोरा का हट करते हो वह बिलकुल मिथ्या ही ठेरेगा। समझा न भाई साहिब।

कितनेक अज्ञ लोग मुँहपत्ती मे डोरा के साथ साध्वियो के साडाके डोराकी तुलना करते हैं उन महानुभावों को सोचना

चाहिये कि मुँख बन्धन की खास जरूरत होती तो कटिबन्ध के साथ मुँहपत्ती का भी शास्त्रकार उल्लेख करते परन्तु गुह्य प्रदेश और मुख दोनों लज्जा का सदृश्य स्थान नहीं हैं लोक व्यवहार में भी गुह्य प्रदेश को आच्छादित किया जाता है तब मुंह सदैव खुलाही रहता हैं इस सूत्रार्थ से स्पष्ट सिद्ध होता है कि जैन साधुओं को मुखवन्धन की आवश्यकता नहीं हैं ।

कई अज्ञात लोग भगवती सूत्र श० ९-३३ में तथा ज्ञाता सूत्र अध्ययन पहिला में जमाली और मेघकुमार के दिक्षा समय हजामत करने वाला नाई ने अठपुडा पोतिया से मुँह बान्धने का पाठ देख विचारे भद्रिक जैनों को वेहका देते हैं कि देखो सूत्र में मुँह बान्धना लिखा है पर उस नाई के पास तो राचोनी भी थी यदि उसी पाठ से मुँहबान्धना साबित किया जाता हो तो उसी पाठानुसार मुँह बन्धन के साथ एक राचोनी भी रखनी चाहिये क्योंकि यह विधान उस स्थान पर विद्यमान है ।

कईलोग सोमल ब्राह्मण जो पहले भगवान् पार्श्वनाथ का श्रावक था बाद उसने तापसीत्व स्वीकार कर मुँह पर काष्ट की मुँहपत्ती हमेशां नहीं पर कुछ समय (उस मत की विधि) के लिये मुँह पर बान्धता था (यह क्रिया वेदान्तियों में शंखमत की है) और इस प्रकार काष्ट की मुँहपत्ती बान्धने वाले को शास्त्रकार स्पष्ट शब्दों में मिथ्यात्वी बतलाया है फिर भी सोमल ब्राह्मण को देवताने समझाया वह चार दिन नहीं समझा पर पाचवे दिन ठीक समझ कर उस तापसी दीक्षा एवं काष्ट की मुँहपत्ती का परित्याग कर दिया और उस मिथ्या सेवन की आलोचना नहीं की जिससे वह मर कर शुक्रनामक विरोधी देव हुआ पर जिन्हों को सैकड़ों वर्ष हुए

समझाते हुए भी नहीं समझते हैं उन्हों की क्या गति होगी वह अतिशय ज्ञानी ही जानते हैं।

कई लोग यह कह उठते हैं कि मुँहपत्ती मुँह पर बाँधनी नहीं कहीं पर हाथ में रखनी भी तो कहां लिखी है उन महानुभावों के लिये हम यहाँ जैन शास्त्रों के पाठ लिख कर यह बतलावेंगे कि जैनसाधु मुँहपत्ती हाथ में ही रखते हैं यथा

"तओ सूरी दंती दंतुनएहिं पिट्ठोवरी कुप्परसं ठिएहिं करेहि रयहरणंठविज्ञा वामकरानामिआए मुंहपत्तीं लंबंति धरितु सम्मं उवओगपरो सीसं अद्धावणयकायं इक्किक्कवयं नमुक्कारपुव्वं तिन्नि वारे उच्चारावेइ"

ऊपर के पाठ में दीक्षा लेने वाला अपने धर्माचार्य महाराज के समक्ष अपने दोनों हाथोंकी कोंणियों को अपने पेटपर स्थापन करके, याने-दोनों हाथ जोड़े हुए जीमणे स्कंध को लगाता हुआ रजोहरण रक्खे और डावे हाथ की अनामीका अंगुली पर मुंह पत्ती को लटकाती हुई धारण करके उपयोग सहित नीचा नमा हुआ एक एक महाव्रत को नवकार सहित तीन तीन दफे उच्चारण करे। इस पाठ में मुँहपत्ती हाथ में रखने का लिखा है, सो जब बोलने का काम पड़े तब उपयोग सहित मुँख को यत्न करके, याने-मुँहपत्ती से मुँख को ढ़क कर बोले, इसलिये।

"श्री अङ्गचूलिया सूत्र दीक्षाधिकारे"

यदि कइ भाई यह कह दें कि पूर्वोक्त सूत्र बत्तीस सूत्रों में नहीं है इसलिए इस अधिकार को हम नहीं मानते हैं। पर यह केवल अपनी मान्यता का बाधक होने से ही कहा जाता है यदि

ऐसा न हो तो उन भाइयों को बतलाना चाहिये कि आपके ३२ सूत्रों में दीक्षा और बड़ी दीक्षा देने का विधान किस सूत्र में है ? जब दीक्षा देने का काम पड़ता है तब तो पूर्वोक्त सूत्र आप प्रमाणिक मानते हो। और तब विधान के विषय में आपकी कल्पित मान्यता की पोल खुल जाती है तब आप कह उठते हैं कि हम इस सूत्र को नहीं मानते हैं। इस लचर दलीलों को सिवाय भोली भाली बेहनो या अपठित भद्रिकों के सिवाय विद्वान कदापि नहीं मान सकते हैं यदि आप का यही आग्रह हो तो लीजिये आपके माने हुए ३२ सूत्रों में मुख्य सूत्र का प्रमाण—

"अणुन्नवितु मेहावी, पड़िच्छन्नमि संवुडे"
'हत्थगं' संपमज्जिता, तत्थ भुंजिज्जा संजयं"

"श्री दशवैकालिक अ० ५ उ० १ गाथा ८३

भावार्थ—गौचरी गया हुआ साधु किसी कारण वशात् वहां गौचरी करनी चाहे तो गृहस्थ की आज्ञा लेकर छान्दित मकान में 'हत्थगं' हस्तगत है मुँखवस्त्रिका। जिससे हस्त पदादि प्रमार्जन कर वही आहार कर लेते हैं। स्वामि अमोलखर्षिजी अपने हिन्दी अनुवाद करते समय हिन्दी भाषा में 'हत्थगं' ? शब्द का अर्थ करना ही छोड़ दिया है जैसे सुरियाभदेव के पूजा में पुष्पों का मूल पाठ होने पर भी उसका अर्थ करना छोड़ दिया और यह प्रक्रिय यहां से ही नहीं पर इस कल्पित मत के प्रारम्भ से ही चली आई है।

उपरोक्त प्रमाणों से निःसन्देह सिद्ध है कि जैनश्रमण मुख-

-वस्त्रिका हाथ में रखते हैं और बोलने के समय मुंह आगे रख यत्नपूर्वक निर्वद्य भाषा बोलते हैं ।

अब कतीपय प्रमाण हम स्थानकवासियों के माने हुए मूल -सूत्र तथा अनुवाद किये हुए सूत्रों के यहां पर उद्धृत कर देते हैं कि जो लोग केवल अन्ध परम्परा के पिच्छे चलने वाले हैं उनके भी ज्ञान चक्षु खुल जाय ।

मुँहपत्ती के विषय स्थानकवासियों के माने हुए सूत्रों के प्रमाण।

"कुइए ककराइए छीए"

हिन्दी अ० "खुल्ले मुंह बोला हो—छींक उवासी ली हो इत्यादि"

स्वामी अमोलखर्पिजीकृत हिन्दी अनुवाद आवशक सूत्र पृष्ठ ५५ ।

यह पाठ प्रतिक्रमणसूत्र का है और दिन रात्रि के अन्त में सदैव बोला जाता है यदि डोराडाल मुँहपत्ती दिन रात्रि मुँह पर बन्धी हुई हो तो उघाड़े मुँह बोलने का प्रायश्चित क्यों कहा जाता, इससे साबित होता है कि साधु मुँहपत्ती हाथ में रखते हैं और कदाचित् अनोपयोग से खुले मुँह वाला हो उसका ही मिच्छामि -दुक्कडं दिया जाता है ।

आगे नमुक्कारसी आदि प्रात्याख्यानों के आगार के विषय में आप फरमाते हैं कि—

"अन्नत्थणाभोगेणं, सहस्सागारेणं"

हिन्दी अनुवाद—भूल कर अनायास खाने में आजवे और

सहसात्कार वर्षाद में या दुग्धादि परिवर्तन करते समय अनायास उछल कर छांटा मुंह में पड़ जाय।

स्था० मान्य-आवश्यक सूत्र पृष्ट ४०

इस बात को साधारण बुद्धि वाला मनुष्य भी समझ सकता है कि वर्षाद की छांट या दुधादि की छाँट उच्छल कर मुँह मे पड़ जाय क्या इससे मुँहपत्ती हाथ मे रखनी सिद्ध होती है ? या मुँह पर बाँधनी ? यदि मुँह पर मुँहपत्ती बाँधी हुई होती तो वर्षाद या दूध का, छाँटा मुँह में कैसे गिर जाता, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि मुँहपत्ती हाथ में रहती है जवी तो गमना-गमन के समय वर्षाद का छाँटा अनायास मुंह में जा गिरे इस बात का प्रत्याख्यान में आगार बतलाया है। आगे और लीजिये।

"सांहणं दंत पहोयणाय, संपुच्छणा, देहपलोयणाय ॥३॥

हिन्दी अनुवाद—संबाधन, हड्डी मांस त्वचा व रोम को सुख होवे वैसे तेलादि के मर्दन विना कारण करे तो १५ दत प्रधावन अंगुली आदि से दांत मंजन करे सो १५ × × काँच (आरिसा) पानी आदि में अपने शरीर का प्रतिबिंब देखना।

स्था० अनु० दशवैकालिक सूत्र अ० ३ पृष्ट १०

दंत धावन और आरिसादि में शरीर देखना यह मुँह खुल्ला रहने से बनता है या मुँह बन्धा हुआ से ? पाठक स्वयं विचार सकते हैं ? इस लेख से भी मुँहपत्ती हाथ मे रखना सिद्ध होता है। इसी विषय के उल्लेख निशीथ सूत्र मे भी बहुत मिलते हैं देखिये—

"जे भिक्खू मुहे वीणियं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ

॥ ४८ ॥ जे भिक्खू दंत वीणियं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ ॥४९॥ एवं उट्ट वीणियं ॥५०॥एवं णास विणीयं ॥५१॥"

अर्थ–"जो कोई साधु मुँख को वीना नामक वादित्र जैसा बना कर बजावे, बजाते को अच्छा जाने ॥ ४८ ॥ ऐसे ही–दंत को, होठ को नाक को, काँख को, हाथ को, नख को, वीना की तरह बजावे, बजाने को अच्छा जाने ४९–५१"

निशीथ सूत्र उ० ५ पृष्ट ३६

यदि मुँहबन्धा हो तो वे साधु मुँह से दांतों से । बिना कैसे बजाता और शास्त्रकार प्रायश्चित क्यों कहते इससे साबित होता है कि जैनसाधु हमेशां खुल्ले मुँह और हाथ में ही मुँहपत्ती रखते थे और मुँहपत्ती रखने का हेतु यह है कि बोलते समय मुँह आगे रख यत्न से बोले ।

"जे भिक्खू विभूसा वडियाए अप्पणोदंते आघसेज्ज वा पघसेज्ज वा जाव साइज्जइ ॥ १४० ॥ जे भिक्खू विभूसा वडियाए अप्पणोदंते सीउदग वीयडेण वा जाव पधोवंतं वा साइज्जइ ॥ १४१ ॥ जे भिक्खू विभूसा वडि-याए अप्पणोदंते तेलेण वा जाव फुमेज्ज वा जाव साइज्जइ ॥ १४२ ॥"

"जो साधू विभूषा के लिए अपने दांत को घसे घसते को अच्छा जाने ॥ १४० ॥ जो साधु विभूषा के लिए अपने दांत को अचित ठण्डे पानी से (या) गरम पानी से धोवे, धोते को अच्छा जाने ॥ १४१ ॥ जो साधु विभूषा के लिए अपने दांत

को खटाई दे, रंगे, रंगते को अच्छा जाने ॥ १४२ ॥" तो प्रायश्चित आता है।

निशीथ सूत्र उ० ५ पृष्ट १७६

अब जरा ध्यान लगा कर सोचे कि यदि साधुओं का मुंह बन्धा हो तो शोभा के लिए उपरोक्त कार्य क्यों करते और सूत्रकारों ने इनका प्रायश्चित क्यों कहते इस सूत्रार्थ से तो यही स्पष्ट होता है कि जैनमुनि हमेशां से मुँहपत्ती हाथ में ही रखते आये हैं। फिर लीजिये

"जे भिक्खु णिग्गंथीणं, आगमणं पहंसि दंडगं वा लट्ठियं वा रयहरणं वा मुहपतिं वा अण्णयरं वा उवगरणं जावं ठवेइ ठवंतंवा साइज्जइ"

"नीशीथ सूत्र उ० ४ सूत्र २६ पृष्ट ४३"

हिन्दी अनुवाद–जो साधु। साध्वी के आने के रास्ते में दंड़ा लकड़ी रजोहरण मुँहपत्ती आदि उपकरण स्थापन करे (मस्करी के वास्ते) स्थापन करतो कों अच्छा जाने"

यदि साधु-साध्वियों के मुँहपत्ती मुँह पर बान्धने का रिवाज होता तो साधु साध्वी के आगमन समय रास्ता में मुँहपत्ती क्यों रखता पर जैसे दंडा रजोहरण पास मे पड़ा था इस भांति मुँहपत्ती भी हाथ में ही थी कि वह साध्वी के आने वाले रास्ता पर रखदी इस पाठार्थ से नि.सदेह निश्चय होजाता है कि जैन साधु मुँहपत्ती हाथ मे ही रखते थे।

"जयं चरे जयं चिट्ठे, जयं आसे जयं सए।
जयं भुँजंतो भासंतो, पाव कम्मं न बंधइ ॥८॥

इस पाठ में 'भासंतो' का अनुवाद स्वामिजी ने यत्न से भाषा समिति युक्त बोले किया है यदि मुँह बन्धा हो, तो फिर यत्न क्यों कहते। यत्नपूर्वक बोलने का तो जब ही कहा जा सकता है कि मुँहपत्ती हाथ मे हो और बोलने का काम पड़े तब यत्नपूर्वक बोले यही शास्त्रकारों का अभीष्ट हैं ।

इत्यादि हमारे स्थानकवासियो के माने हुए सूत्रों मे और विशेष आपके ही किया हुआ हिंदी अनुवाद मे पूर्वोक्त प्रमाणों से और इनके अलावा और भी बहुत प्रमाणो से निःशंकतया सिद्ध होता है कि जैन साधु साध्वियां हमेशा मुँहपत्ती हाथमें ही रखते थे और श्रावक श्रविकाएं सामायिक पोसह समय मुँहपत्ती हाथ में रखते थे और बोलने के समय मुँह आगे रख यत्नपूर्वक बोलते थे एवं आज भी वह प्रवृति और मान्यता ज्यो की त्यों जैन समाज में विद्यमान हैं ।

आगे चल कर हम अन्यधर्मियो के शास्त्रों के थोड़े बहुत प्रमाण लिख देते हैं कि जैनमुनियो के मुँहपत्ती के विषय में वे लोग क्या कहते हैं ।

अन्य धर्मियों के धर्म शास्त्रों में जैनमुनियों की मुँहपत्ती

"दधानी मुखवस्त्रिका मुखे, बिभ्राणो दंडकं करे ।
शिरसो मुंडन कृत्वा, कुत्तौच कुब्भका, दधनं ॥

श्री माळ पुराण अ० ७९ गाथा ३३

इस श्लोक में मुँह पर मुँहपत्ती (बोलते समय) और एक हाथ में दंडा (गमन समय) रखना बतलाया है। पर मुँह पर

मुँहपत्ती बान्धना नहीं लिखा है इसी भाँति आज भी जैनसाधु बोलने के समय मुँहपर मुँहपत्ती रखके बोलते हैं यदि स्थानकवासी इस पाठ की ही शरण लेते हैं तो 'दंडकरे' यानि हाथ में दंडा रखना स्पष्ट लिखा है तो हाथ मे दंडा भी रखना चाहिये और दंडा हाथ में रखेगा तो मुँहपत्ती भी हाथ में ही रखनी पड़ेगी। और भी लीजिये—

> मुंडंमलीन वस्त्रं च, गुपी पात्र समन्वितं ।
> दधानं पुंजिका हस्ते, चालियं च पदे पदे ॥
> वस्त्रयुक्त तथा हस्तं, क्षिप्य माणं मुखे सदा ।
> धर्मेति व्याहरंतं, नमस्कृत्य स्थितं हरे ॥

शिवपुराण ज्ञान संहिता अ० २१-२२

भावार्थ—मुंडा हुआ मस्तक, मलीन वस्त्र, गुप्तपात्र समभाव, और रजोहरणसंयुक्त पग पग पर देखके चलते हैं—हाथ में वस्त्र (मुँहपत्ती) है बोलते समय शीघ्र मुख के आगे रखते हैं नमस्कार करने वालों को धर्म (धर्मलाभ) करना कहने का व्यवहार है।

इन श्लोकों से भी यही पाया जाता है कि जैनमुनि मुँखवस्त्रिका सदैव से हाथ में ही रखते थे जब ही तो पुराणकारों ने इस बात का उल्लेख किया है तथा नाभानरेश के पण्डितों ने भी जैन-शास्त्रों के अलावा इन श्लोकों के आधार पर ही इस विषय का फैसला दिया है कि जैनमुनियों का पक्ष बलवान् है अर्थात् जैन-मुनि मुँहपत्ती हमेशा हाथ में ही रखते आये हैं।

इन पुराणों को हमारे स्थानकवासी भाई पांच हजार वर्षों के प्राचीन मानते हैं (वास्तव में इतने प्राचीन नहीं हैं) यदि

आपकी कल्पना सही है तो पांच हजार वर्षों पूर्व जैनमुनि मुँख-वस्त्रिका हाथ में रखते थे इसके साथ दंडा हाथ में, पात्रों की झोली गुप्त और नमस्कार करने वाले को धर्मलाभ दिया करते थे। क्या हमारे स्थानकवासी भाई इन प्रमाणों से पूर्वोक्त धर्म विधान मानने को तैयार हैं ? अर्थात् यदि आत्म-कल्याण की अभिरुची है, तो वे अवश्य मानेगा। और मानना ही चाहिये। आगे हम कुछ प्राचीन ऐतिहासिक प्रमाणों को मयचित्रो के यहां उद्धृत करेंगे।

मुँहपत्ती के विषय में ऐतिहासिक प्रमाण

(१) श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी और तेरह-पंथी इस बात को स्वीकार करते हैं कि तीर्थङ्कर दीक्षा समय से ही अचेलक (निर्वस्त्र) रहते थे और घटों तक व्याख्यान दिया करते थे। अतएव उनके न थी मुँहपत्ती और न था डोरा।

(२) शास्त्रीय प्रमाणों से भी यही सिद्ध होता है कि साधु और श्रावक धर्म-क्रिया करते वक्त मुँहपत्ती हाथ में रखते हैं। बोलते समय सिर्फ मुँह के सामने रख यत्ना पूर्वक बोलते हैं। इस विषय के विशेष शास्त्रीय प्रमाणों के लिए मुनिश्री मणि-सागरजी म० रचित "आगमानुसार मुँखवस्त्रिका निर्णय" नामक वृहद् ग्रन्थ देखना चाहिए जो कि कोटा से मुफ्त मिलता है।

(३)—ऐतिहासिक प्रमाणों से भी यह सिद्ध नहीं होता है कि किसी जैन-तीर्थङ्कर साधु या श्रावक ने मुँहपत्ती मे डोरा डाल मुँह पर बाँधी हो। क्योंकि आज भगवान् महावीर स्वामी के

समय की अनेक तीर्थङ्करों की मूर्तिएँ मिलती हैं, यदि भगवान् ऋषभदेव मुँह पर मुँहपत्ती बाँधते थे और यह प्रथा उस समय से चली आती है तो ऋषभदेव की मूर्त्ति के मुँह पर पत्थर की मुँहपत्ती अवश्य होनी चाहिए। जैसे कि स्था० साधु हर्षचंदजी की पाषाणमय मूर्त्ति मारवाड़ के गीरी ग्राम में इस समय विद्यमान है। और उस मूर्त्ति के मुँह पर डोरावाली पाषाण पर मुँहपत्ती मूर्त्ति के साथ ही चित्री हुई है। यह साधु और इसकी यह मूर्त्ति इस वीसवीं शताब्दी की ही है। क्योंकि इस समय जिस समुदाय वाले मुँह पर मुँहपत्ती बाँधते हैं; यह प्रति-कृति उसी समुदाय के एक साधु की है।

जब तीर्थङ्करों की मूर्त्ति के मुँह पर मुँहपत्ती नहीं है तो इससे स्पष्टतया सिद्ध होता है कि किसी तीर्थङ्कर, गणधर, साधु या श्रावक ने लवजी के पहिले कभी मुँह पर मुँहपत्ती नहीं बाँधी थी, और अब जो मुँह पर मुँहपत्तीयुक्त तीर्थङ्करो के चित्र बनवाए गए हैं वे इस मुँह पर मुँहपत्ती धारक नवीन स्था० सम्प्रदाय के साधुओ की ही एक मानसिक कल्पना मात्र हैं।

(४) यद्यपि स्थानकमार्गी अपने आपको लौंकाशाह की संतान बताने का दम भरते है, परन्तु लौंकाशाह के सिद्धान्त भी इनको सर्वथा मान्य नही हैं। क्योंकि न तो लौंकाशाह ने कभी मुँह पर मुँहपत्ती बाँधी थी और न लौंकाशाह के अनुयायी आज पर्यन्त बाँधते हैं। इतना ही नहीं लेकिन वे तो उल्टा मुँहपत्ती बाँधने वालों का सख्त विरोध करते हैं। इस हालत में स्थानकमार्गियों को या तो लौंकाशाह का अनुयायी नहीं बनना चाहिये,

या मुँहपत्ती मे डोराडाल के मुँह पर बाँधना नहीं चाहिए, किन्तु उसे उनकी भाँति हाथ मे ही रखना चाहिये।

(५) उपकेशपुर (ओसियां) के मन्दिर के रङ्ग मण्डप मे एक आचार्य व्याख्यान दे रहे हैं, स्थापनाजी सामने हैं, हाथ में मुँहपत्ती है और कई श्रावक व्याख्यान सुन रहे हैं ऐसा पाषाणमय दृश्य है। ओसियाँ का यह मन्दिर प्राय २४०० वर्षों का प्राचीन है और इस बात को डके की चोट से बताता है कि उस समय जैन श्रमण मुँहपत्ती हाथ में ही रखते थे। देखो चित्र को—

(६) कण्ह (कृष्ण) श्रमण (साधु) की एक २००० वर्षों की प्राचीन मूर्ति मथुरा के कंकाली टीला के अन्दर से खोद काम करते अंग्रेजों को मिली है, जो अब सरकारी म्यूजियम में सुरक्षित है इसके भी हाथ मे मुँहपत्ती है। देखो चित्र—

(७) कुंभारियाजी का मन्दिर बहुत प्राचीन है जिसके मण्डप की छत मे एक आचार्य तथा साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाएं विशाल सख्या मे जो पाषाण म खुदाई का काम कर बनाए गए हैं, वे अद्यावधि भी स्पष्ट दिखते हैं, पर इन सबके हाथो में ही मुँखवस्त्रिका है। देखो चित्र—

(८) अजारी में वादी वेताल शान्तिसूरि की ग्यारहवीं शताब्दी में बनी एक मूर्ति है जिसके हाथ में मुंहपत्ती है। देखो चित्र—

(९) पाटण में आचार्य कक्कसूरि की पाषाणमय मूर्त्तिएं हैं जिनके हाथो में मुहपत्तिएं हैं।
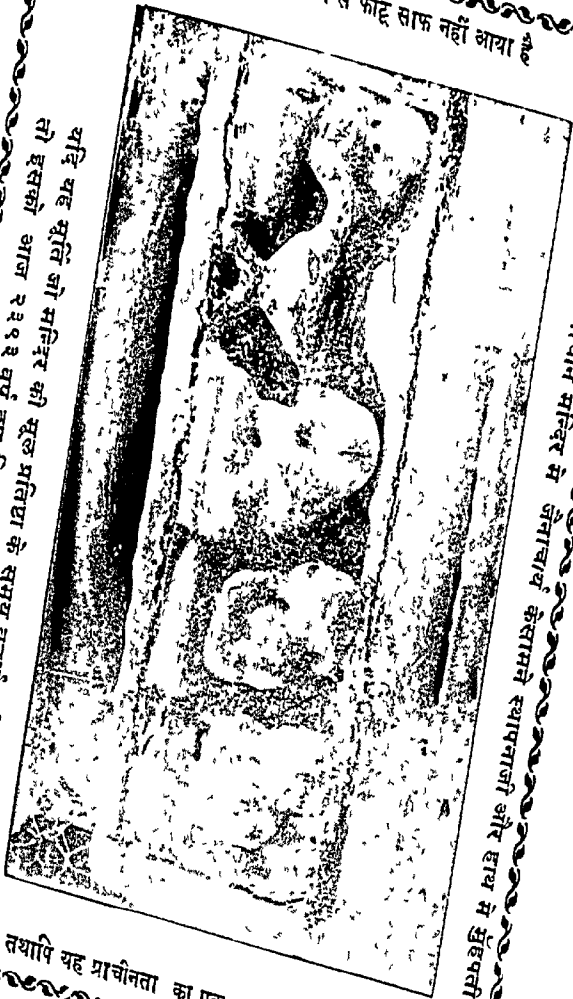
तीर्थश्री ओसियाँ के प्राचीन मन्दिर मे जैनाचार्य के सामने स्थापनाजी और हाथ मे मुँहपती है

चूना खड़ी का लेप लग जाने से फोट्ट साफ नहीं आया है

तथापि यह प्राचीनता का एक सबल प्रमाण है

यदि यह मूर्ति जो मन्दिर की मूल प्रतिष्ठा के समय बनाई गई हो
तो इसको आज २३९२ वर्ष हुए निःशंक कहा जा सकता है ।

मूर्त्ति पूजा का प्राचीन इतिहास

२२०० वर्षों की प्राचीन मूर्त्तियां

मथुरा के ककालीटीला के खोद काम से एक ःवंग विशेप मिला है जो चित्र ऊपर दिया गया है इसमे ऊपर के भाग में समवसरण के दोनों वाजु तीर्थङ्करों की मूर्त्तिया है। नीचे जैन श्रमण कृष्णार्पि की मूर्त्ति जिसके एक हाथ मे रजोहरण और दूसरे हाथ में मुखवस्त्रिक है। विद्वानों का मत है कि यह वि० स० के पूर्व दो शताब्दियों जितना प्राचीन है। इस प्राचीनता से सिद्द है कि जैनसाधु मुँहपत्ती कदीम से हाथ मे ही रखते थे।

चतुर्विध संघ के हाथ में मुंहपती।
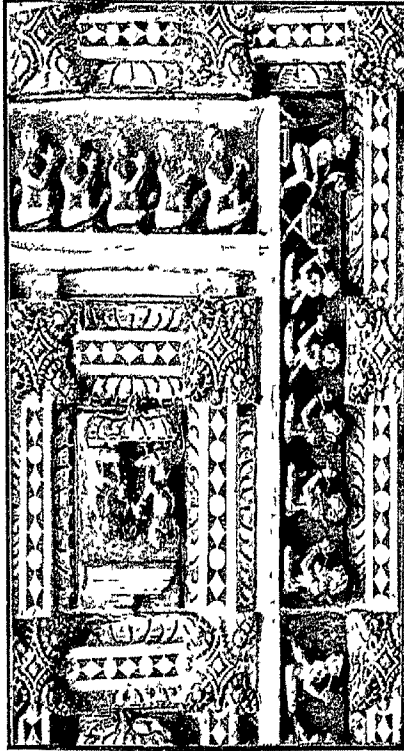
यह चित्र कुम्भारियाजी के प्राचीन मन्दिर के रंगमण्डप की छत में शिल्पकाल का उत्कर्ष समय का है। आचार्य व्याख्यान दे रहे है और चतुर्विध श्रीसंघ व्याख्यान सुन रहे हैं। इन सबके मुँहपती हाथ में ही है। यह मन्दिर बहुत पुराना है। उस समय जैन श्रमण मुँहपती हाथ में ही रखते थे क्या हमारे स्थानकवासी भाई लवजी (वि० सं० १७०८) के पूर्व समय का कोई ऐसा ऐतिहासिक प्रमाण पेश कर सकते हैं? नहीं।

जैनाचार्य के व्याख्यान समय हाथ में मुखवस्त्रिका
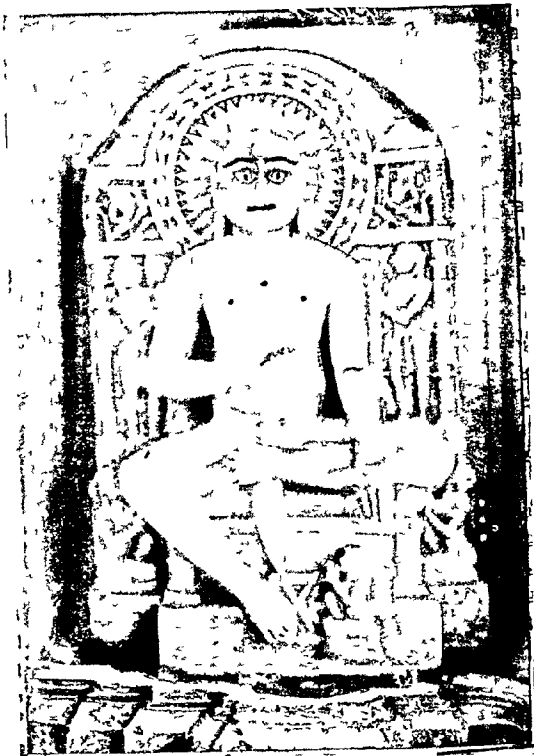
अजारी नामक प्राचीन तीर्थ मे एक जैन मन्दिर के अन्दर धाराधीश भोज राजा प्रतिवोधक और वृहद् शान्ति के कर्ता जैनाचार्य वादी वैताल शान्ति सूरि की पाषाणमय मूर्ति के एक हाथ में मुखवस्त्रिका और दूसरे हाथ मे दशवैकालिक सूत्र की प्रथम गाथा "धम्मोमगलमुक्किट्ठ" का पन्ना है। आपका समय विक्रम की ग्यारवी शताब्दी का है जिसको नौ सौ (९००) वर्ष जितना गहरा समय हुआ है।

प्राचीन जैनाचार्यों के हाथ में मुँहपत्ती

प्रथम चित्र में एक आचार्य अपने शिष्य व श्रावक श्राविको को उपदेश कर रहे है। यह चित्र पाटण के ज्ञान भडार की प्राचीन ताड़पत्र की प्रति पर से लिया गया है।

दूसरे चित्र में आचार्यश्री के सामने स्थापनाजी और एक मुनि के हाथ में ताडपत्र का सूत्र है और वह वाचना ले रहा है। नीचे के भाग मे तीन साध्वी हैं और कुछ श्रावक श्राविकाएँ है। यह चित्र भी ताडपत्र की प्राचीन प्रति पर से लिया गया है।

प्राचीन जैनाचार्य के हाथ में मुँहपत्ती

पहिला चित्र गणधर सौधर्मास्वामी और उनके शिष्य जम्बू स्वामी का है। ईडर के ज्ञान भण्डार की प्राचीन प्रत पृष्ठ १०९ से यह चित्र लिया गया है। वह प्रति ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत प्राचीन और महत्व की है।

दूसरा चित्र आचार्य कालिकसूरि और राजा ध्रुवसेन का है। इसी ध्रुवसेन राजा के कारण कालकाचार्य ने चोथ की संवत्सरि की थी जिसको आज करीबन १५०० वर्ष हुए है। यह चित्र भी पूर्वोक्त ईडर की प्राचीन प्रत से लिया गया है।

(१०) आबू देलवाड़ा के सुप्रसिद्ध मन्दिर में जैनाचार्यों की ग्यारहवीं शताब्दी की मूर्त्तिएँ हैं पर मुँहपत्ती तो उनके भी हाथों में ही है।

(११) आचार्य जिनेश्वरसूरि, हेमचन्द्रसूरि, धर्मघोषसूरि और जिनवल्लभसूरि के बहुतसे चित्र बारहवीं शताब्दी के मिले है उनके भी हाथों में मुंहपत्ती है।

(१२) वि० सं० ९३४ का लिखा हुआ एक कल्पसूत्र है जिसमें जैनाचार्यों के कई चित्रहै पर मुँहपत्ती सबके हाथों में ही हैं।

(१३) पाटण, खंभात, ईडरादि के प्राचीन ज्ञान भण्डारों से श्रीमान् सारा भाई नवाब ने बड़ा भारी भगीरथ प्रयत्न कर जैन चित्रों का संग्रह कर 'जैनचित्र कल्पद्रुम' नामक पुस्तक प्रकाशित की हैं, जिसमें बहुत से मुनियो के प्राचीन मूर्त्तियों और कल्प सूत्रादि हस्त लिखित सूत्रो की प्रतियो से उसी आकृति के ब्लाक बना के चित्र दिये हैं उसमे से पंचमगणधर श्रीसौधर्म स्वामी आचार्य कालकसूरि आदि नमूने के तौर पर ४ चित्र यहाँ भी दिये गये हैं जो आपके सामने विद्यमान हैं। ये चित्र भले ही उस समय के न हो और बाद मे बनाये गये हो, पर मुँहपत्ती मुँह पर बाँधने वाले स्वामि लवजो से सैकड़ों वर्ष पूर्व के जरूर हैं और इन चित्रों से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि जैनश्रमण सदैव सनातन से मुँहपत्ती हाथ में ही रखते थे, जिनको अधिक चित्र देखने हो उनको पूर्वोक्त नबाब भाई की पुस्तक को देखना चाहिये कि जिसमें भगवान् गौतम स्वामी आचार्य स्थुलभद्र जैसे प्राचीन महापुरुषों के भी कई चित्र दिये हुए हैं।

(१४) तीर्थ श्री कापरड़ाजी का भीमकाय मन्दिर के रंग मण्डप में एक आचार्य को पापणमय व्याख्यान देते हुए की मूर्त्ति है उसके भी हाथ में मुँहपती है। यह आकृति सत्रहवीं शताब्दी की बतलाई जाति है वहाँ तक मुँहपत्ती हाथ मे ही रखी जाती थी।

(१५) इस तरह विक्रम पूर्व चौथी शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक के सैंकड़ों प्रमाण आज विद्यमान हैं और मुँहपत्ती सभी के हाथों में ही है। क्या हमारे स्थानकमार्गी भाई एक भी ऐसा प्रमाण पेश करसकते हैं कि जो ऐतिहासिक होने के साथ २ स्था० मार्गियो की मान्यता मानने वाले भाइयों को अपनी मान्यता पर विश्वास रखाने को समर्थ हो सके ? यदि नही तो फिर नाहक की "मैं मैं तूँ तूँ" मे अमूल्य समय और अलभ्य मनुष्य जन्म को न गँवा सीधे जैनधर्म की ही शरण आना चाहिए जिससे वे अपना तथा पर का कल्याण साधने में सशक्त हो।

(१६) स्थानकमार्गियों के अन्दर ऐसे बहुत से मुमुक्षु हुए हैं कि जिन्होंने, शास्त्र, इतिहास और अनुभव से सत्य का संशोधन कर मुँहपत्ती का डोरा त्याग कर शास्त्राऽनुसार मुँहपत्ती हाथ में रखने का मार्ग स्वीकार किया है, वे भी साधारण श्रेणी के नहीं किन्तु पूज्य बूँटेरायजी महाराज, पूज्य मूलचन्दजी महाराज पूज्य वृद्धिचन्दजी महाराज, पू० आत्मारामजी महाराज, धर्मसिहजी म०, सोहन वि० म०, अजीतसागरजी महा०, रत्नचन्द्रजी महा० सरीखे सैंकड़ों मुनिवर हुए हैं, जिनका अमर नाम और यश आज भी जैन साहित्याऽऽकाश में ही सुरक्षित और चमत्कृत नहीं वरन् गर्जना कर रहा है। इन सबके चित्र आगे लौंकाशाह के जीवन में दिये जायँगे।

आगे इतिहास की सूक्ष्म शोध खोज करने पर भी हमे यह कहीं पर पता नहीं मिलता है कि विक्रम की अट्ठारहवीं शताब्दी पूर्व किसी जैनाचार्य ने डोराडाल मुँहपर मुँहपत्ती बाँधी हो? यहाँ पर मैं मेरे पाठकों के अवलोकनार्थ भगवान् महावीर के पश्चात् प्रत्येक शताब्दी के जैनाचार्यों के थोड़े-थोड़े नामोल्लेख करने का प्रयत्न करूँगा जिससे निर्णयार्थी स्वयं विचार कर सकेगा कि कहाँ तक मुँहपत्ती हाथ में रखने की प्रवृत्ति थी जिसको अखिल श्वेताम्बर समाज मानता था और बाद में किस समय मुँहपत्ती मुँह पर बाँधने का रिवाज श्रा और इस रिवाज के बारे में जैन समाज का कैसा सख्त विरोध था और आज भी है जिन आचार्यों के यहाँ नामोल्लेख करूँगा उनके अस्तित्व के विषय में ऐतिहासिक प्रमाण नीचे फुटनोट मे दे दिये जायंगे कि पाठकों को पढ़ने में और भी सुविधा रहे।

भगवान महावीर के पश्चात् पहिली शताब्दी—

गणधर सौधर्माचार्य[१], चरमकेवली जम्बु स्वामी, आचार्य स्वयंप्रभसूरि[२] प्रभवाचार्य, आचार्य रत्नप्रभसूरि[३], कनकप्रभ-

---

१—द्वादशांगी के रचयिता तथा वीरात् २३ वे वर्ष मे भद्रेश्वर स्थित मूर्ति की प्रतिष्ठा के कर्त्ता।

२—श्रीमाल नगर के राजा प्रजा ९०००० घरों को प्रतिबोध कर जैन बनाये और वहाँ भगवान ऋषभदेव के मन्दिर की प्रतिष्ठा करवाई। और पद्मावती नगरी में यज्ञ में बलिदान होते लाखों प्राणियों को अभयदान दिलाकर ४५००० अजैन कुटुम्बों को जैन बनाये और यहाँ शान्तिनाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा करवाई (उपकेशगच्छ पट्टावली)

३—इन्होंने उपकेशपुर में ३८४००० घरों को मास मदिरा छुड़ाकर

सूरि४, शय्यम्भवाचार्य ये सब मूर्त्तिपूजक आचार्य थे और मुँख-वस्त्रिका हाथ मे रखनेवाले ही थे। इनके शासन में बौद्ध, वेदान्ति और आजीवको के साथ चर्चा का भी उल्लेख मिलता है पर वस्त्र रखना या न रखना, मूर्त्ति मानना या नहीं मानना, मुँखवस्त्रिका हाथ में रखना या मुँह पर डोरा डाल बाँधने का कहीं पर भी वाद विवाद की गन्ध तक भी नहीं मिलती है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि उस समय अखिल जैनों की एक ही मान्यता थी। जिनकल्पी वस्त्र नही रक्खे, स्थविर कल्पी रक्खे, मूर्त्ति सर्वत्र मानी जा रही थी और मुँखवस्त्रिका क्रिया समय या बोलते वक्त मुँह आगे रक्खी जाती थी।

भगवान् महावीर की दूसरी शताब्दी—

आचार्य यशोभद्रसूरि, बलदेवसूरि१ सभूतिविजयसूरि भद्र-

जैन बनाये और वहाँ पर महावीर मन्दिर की प्रतिष्ठा करवाई वे लोग क्रमशः महाजनवंश उपकेशवंश या ओसवश के नाम से मशहूर हुए (उपकेशगच्छ पट्टावलि)

४—आपके उपदेश से कोरंटपुर नगर में महावीर मदिर तैयार हुआ और वीरात् ७० वर्ष में आचार्य रत्नप्रभसूरि के करकमलों से प्रतिष्ठा हुई (कोरंटगच्छ पटावली)

५—यज्ञ स्थम्भ के नीचे रही हुई शान्तिनाथ की मूर्ति के दर्शनमात्र से प्रतिबोध पाकर प्रभवाचार्य के पास दीक्षा ले क्रमश. जैनाचार्य हुए (दशवैकालिक चूलका)

१—आपने सिन्धभूमि मे भ्रमण कर वहाँ के राजा रुद्राट् और राजकुमार कक्वको तथा हजारों लाखों मांस भाहारियों को जैनधर्म में दीक्षित कर सैकड़ों जैन मन्दिरों की प्रतिष्ठा करवाई। (जैन जाति महोदय)

बाहुसूरि२ स्थुलीभद्र ये सब मूर्त्तिपूजक और हाथ में मुँहपत्ती रखने वाले ही थे।

भगवान् महावीर की तीसरी शताब्दी--

आचार्य महागिरि सुहस्तीसूरि३ कक्कसूरि४ आदि थे सब आचार्य हाथ मे मुँहपत्ती रखने वाले ही थे।

भगवान् महावीर की चौथी शताब्दी—

आचार्य सुस्थीसूरि५, सुप्रतिबुद्धसूरि६, दीनसूरि, देवगुप्तसूरि७, आदि ये सब मूर्त्तिपूजा के प्रचारक और हाथ में मुहपत्ती रखने वाले ही थे।

२—आप ने सम्राट् चन्द्रगुप्त को जैन बना कर भारत के बाहर जैनधर्म का प्रचार करवाया। तीन छेद सूत्र और दश निर्युक्तियों का निर्माण किया जिनमें से आज भी कई विद्यमान है।

३—सम्राट सम्प्रति को जैन बनाकर मेदनी जैन मन्दिरों से मंडित करवाई तथा सम्राट् ने अनार्य प्रदेशों में जैन धर्म की ध्वजा फहराई।

४—आपने कच्छ देश में विहार कर लाखों नये जैन बनाये और हजारों जिन बिंबों की प्रतिष्ठा करवा के जैनधर्म की अबाध उन्नति की।

५—आप श्री ने कलिंगपति महाराजा खारवेल को जैन धर्म की दीक्षा देकर जैन धर्म की बड़ी भारी प्रभावना करवाई जिनका शिलालेख उडीसा प्रान्त के खंडगिरि की हस्ती गुफा से मिला है। जिसकी प्राचीनता और महत्वता ने भारत और योरोप में खूब चहल पहल मचा दी है।

६—आपने सूरिमंत्र का एक करोड जाप किया जिससे निग्रन्थगच्छ का नाम कोटीक गच्छ हुआ आप महान् प्रभाविक पुरुष हुए।

७—आप श्रीमान् ने सौराष्ट्र लाटादि प्रदेशों में भ्रमण कर लाखों

भगवान् महावीर की पाँचवी शताब्दी—

कालकाचार्य८, इन्द्रदीनाचार्य, वृद्धवादीसूरि९, सिद्धसूरि, सिद्धसेन, दिवाकर१०, पादलिप्तसूरि११ आदि ये सब सूरीश्वर मूर्त्ति उपासक और हाथ में मुँहपत्ती रखने वाले थे ।

भगवान् महावीर की छठी शताब्दी—

आचार्य वज्रस्वामि१, वज्रसेनसूरि२, विमलसूरि३, देवगुप्त-

नये जैन और हजारों जैन मन्दिरों की प्रतिष्ठा करवा कर धर्म को खूब प्रसारित किया ।

८—आप श्री ने श्री पन्नवणाजी सूत्र को सकलित किया । आपका अपर नाम श्यामाचार्य भी था ।

९—आपने महान् पंडित सिद्धसेन को शास्त्रार्थ में जीत अपना शिष्य बनाया ।

१०—आपने सम्राट् विक्रम को अपना भक्त बनाया तथा साहित्य के आप धुरंधर पडित थे । आपने सम्म त तर्क जैसा न्याय का अपूर्व ग्रन्थ बनाया ।

११—आपकी स्मृति में आज पालीताना नगर विद्यमान है, निर्वाण-कलिका ग्रन्थ भी आपका ही बनाया हुआ है ।

१—यह प्रसिद्ध आचार्य हैं । दुष्काल में सघ का रक्षण और जिन मन्दिर के लिये पुष्प लाकर बौद्ध राजा को जैन बनाया ।

२—यह भी प्रसिद्ध आचार्य हैं । दुष्काल में सुकाल की सूचना देकर चन्द्र, नागेन्द्र, निवृति और विद्याधर नाम के चार शिष्यों को दीक्षा दी ।

३—आपने १०००० श्लोक प्रमाण का 'पउमचरिय' नामक प्राकृत भाषा का ग्रन्थ बनाया ।

सूरि४, आर्य खंदिल५, आर्य रक्षित६, आर्य जज्जगसूरि७ आदि सब आचार्य मूर्तिपूजक और हाथ में मुँहपत्ती रखने वाले ही थे।

भगवान् महावीर की सातवी शताब्दी—

आचार्य चन्द्रसूरि८, सामंतभद्रसूरि९, वृद्धदेवसूरि१०, मानदेवसूरि११, मानतुंगसूरि१२, कक्कसूरि१३, गन्धहस्ती आचार्य१४

४—वज्रसेन के ४ शिष्यों को ज्ञानाभ्यास करवा कर उनके चार कुल स्थापित किये। आज जितने गच्छ हैं वे सब चन्द्रकुल में और इन सब पर आचार्य देवगुप्तसूरि का महान् उपकार है।

५—आप श्री ने माथुरी वाचना कर जैन धर्म पर महान् उपकार किया है।

६—आपने जैनागमों के चारों अनुयोग अलग अलग कर साधारण बुद्धि वालों पर भी असीम उपकार किया है।

७—आपने सत्यपुर (सांचौर) में मन्त्री नहाड के बनाये महावीर मन्दिर की प्रतिष्ठा करवा कर भव्य जीवों के कल्याण करने में मुख्य निमित्त बन गए।

८—आपके कारण कोटीगच्छ का नाम चन्द्रगच्छ हुआ।

९—आपके वनवास करने से चन्द्रगच्छ का नाम वनवासीगच्छ हुआ।

१०—आप बडे भारी प्रभाविक हुए, कई राजाओं पर आपका प्रभाव पडता था।

११—आपने नाडोल में रहकर लघुशांति स्तव बनाकर शाकम्भरी के संघ के उपद्रव की शान्ति करवाई।

१२—आपने श्री भक्तामर स्तोत्र बना के जैन धर्म का प्रभाव डालकर एक राजा को जैनधर्मी बनाया।

१३—आपने लाखों नये जैन श्रावक बनाकर शासन की प्रभावना की।

१४—आपने सब से पहिले आगमों पर टीकाओं की रचना की।

आदि आचार्य मूर्त्तिपूजक और हाथ में मुँहपत्ती रखने वाले ही थे। इस शताब्दी मे साधुओ को वस्त्र नहीं रखने की एकान्त खेंच करने वाला दिगम्बर मत का प्रादुर्भाव हुआ और वह चर्चा उसी समय से प्रारंभ हो गई परन्तु मूर्त्ति या मुँहपत्ती के बारे में चर्चा तक भी किसी ने न की इससे स्पष्ट है कि मूर्त्तिपूजा करना और मुँहपत्ती हाथ मे रखने मे अखिल शासन एक मत था।

भगवान् महावीर की आठवीं शताब्दी--

आचार्य देवानन्दसूरि, सर्वदेवसूरि[१], सिद्धसूरि[२], मलवादी सूरि, वीरसूरि, यक्षदेवसूरि ये सब आचार्य वीर आज्ञाधारी हाथ में मुँहपत्ती रखने वाले ही थे।

भगवान् महावीर की नववीं शताब्दी--

विक्रमसूरि, नरसिंहसूरि, समुद्रसूरि, नन्नप्रभसूरि[३], रत्नप्रभसूरि ये सब आचार्य हाथ में मुँहपत्ती रखने वाले ही थे। इस शताब्दी मे कई साधु चैत्यवासी भी थे उनकी चर्चा इस समय के ग्रन्थो में विद्यमान है परन्तु मूर्त्ति या मुँहपत्ती की चर्चा इस समय खोजने पर भी नहीं मिलती है, कारण उस समय अखिल जैन श्वेताम्बर समाज मूर्त्तिपूजक और हाथ में मुँहपत्ती रखने वाला ही था।

१—यह कोरंटगच्छाचार्य हैं और बोथरा संकलेचादि २१ जैन जातियों के संस्थापक हैं।

२—इन्होंने जैन धर्म की बडी भारी प्रभावना की। क्योंकि, आप लब्धि पात्र थे।

३—यह कोरंटगच्छ के आचार्य हैं और इन्होंने १०००० ब्राह्मणों को जैन बनाये थे।

भगवान् महावीर की दशवीं शताब्दी—

धनेश्वरसूरि४, यत्तदेवसूरि, कालकाचार्य६, देवर्द्धिगणि क्षमण७ और यत्तदेवाचार्य८ ये सब आचार्य मूर्त्ति उपासक और हाथ मे मुँहपत्ती रखने वाले ही थे। इस शताब्दी में पञ्चमी की संवत्सरी चतुर्थी को करने का उल्लेख ग्रन्थो में मिलता है क्योंकि यह नयी प्रवृति हुई थी पर मूर्त्ति या मुँहपत्ती की कहीं भी चर्चा नहीं इसका कारण एक ही है कि मूर्त्ति और मुँहपत्ती विषय सब श्वेताम्बर जैनों की एक ही मान्यता थी।

भगवान् महावीर पश्चात् ग्यारहवीं शताब्दी—

आचार्य हरिभद्रसूरी१, जिनभद्रगणि, क्षमाश्रमण२, देला-

४—श्री शत्रुंजय महात्म्य नामक ग्रन्थ की रचना आप श्री ने ही की थी।

६—आपने राजा ध्रुवसेन के कारण पञ्चमी के स्थान मे चतुर्थी को संवत्सरी की वह आज पर्यन्त चालु ही है।

७—आपने वीरात् ९८० वर्ष वल्लभी नगरी में आगमों को पुस्तकारूढ किया।

८—आपके पास देवर्द्धिगणिजी ने एक पूर्व सार्थ और आधा पूर्व मूल का अभ्यास किया था।

१—प्रसिद्ध १४४४ ग्रन्थों के कर्त्ता। इनके समय के लिए नई शोध वाले कुछ आगे बढ़े हैं।

२—यह प्रसिद्ध भाष्यकार हैं।

महत्तर३, सिद्धर्षि४, सत्यमित्रसूरि५, देवगुप्ताचार्यादि६ ये सब मूर्त्तिपूजा प्रचारक और हाथ में मुँहपत्ती रखने वाले ही थे। इस शताब्दी में चैत्यवासियो का जोर बढ़ जाने से हरिभद्रसूरि ने उनके विरोध में पुकार उठाई पर मूर्त्ति या मुँहपत्ती के विषय में किसी ने एक शब्द भी उच्चारण नहीं किया कि इस समय मूर्त्ति नहीं मानने वाला या मुँहपत्ती मुँहपर बाँधने वाला कोई व्यक्ति है?

भगवान् महावीर की बारहवीं शताब्दी--

रविप्रभसूरि७, स्वातिआचार्य८, सिद्धसूरि९, नन्नप्रभाचार्यादि१० ये सब मूर्त्ति पूजक और हाथ में मुँहपत्ती रखने वाले ही थे।

भगवान् महावीर के बाद तेरहवीं शताब्दी—

आचार्यबप्पभट्टसूरि१०, शीलगुणसूरि११, कक्कसूरि१२,

३—आप चूर्णिकार के नाम से मशहूर हैं।

४—उपमितिभव प्रपंच कथा के रचयिता।

५—आपके समय में पूर्व ज्ञान का विच्छेद हुआ।

६—आपने हजारों नये जैन बना अनेक मन्दिरों की प्रतिष्टा करवाई।

७—आप महान् प्रभाविक हुए।

८—आपने पूर्णिमा के एवज में पाक्षी चतुर्दशी स्थपित की।

९—आप महान् धर्म प्रचारक एव प्रभाविक हुए।

१०—ग्वालियर के राजा आम को जैन बनाकर धर्म का प्रचार करवाया। भगवान् ऋषभदेव के मन्दिर की प्रतिष्ठा करवाई।

११—आप पाटण संस्थापक राजा वनराज चावडा के गुरू थे। पचासरा पार्श्वनाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा भी आप ही ने करवाई थी।

१२—आपने लाखों अजैनों को जैन बनाके उपकेशवंश की वृद्धि और जैन धर्म का प्रचार बढ़ाया।

देवगुप्तसूरि१३ ये सर्वाचार्य मूर्त्ति के उपासक और हाथ में मुँहपत्ती रखने वाले थे।

भगवान महावीर की चौदहवीं शताब्दी—

आचार्य शीलांगसूरि१ सर्वदेवसूरि देवगुप्तसूरि हरिभद्रसूरि (द्वितीय) इत्यादि यह सब मूर्त्ति मानने वाले और मुँहपत्ती हाथ में रखने वाले ही थे।

भगवान महावीर की पन्द्रहवीं शताब्दी—

गर्गमहर्षि २, यशोभद्रसूरि३, सिद्धसूरि ४, वीरगणि५, सर्वदेवसूरि६, उद्योतनसूरि७, शोभनमुनि८, सिद्धसूरि९, कक्कसूरि१० ये सब प्रभाविक आचार्य मूर्त्तिपूजा प्रचारक ही थे।

१३—रावगोसलभाटी आदि को उपदेश द्वारा जैन बनाकर आर्यगौत्र (लुणावत) की स्थापना की।

१—आपने वि० सं० ९३३ मे आचारांगादि सूत्रों पर टीकाएँ रचीं।

२—कर्म विपाक ग्रन्थ के कर्ता।

३—मालानी प्रान्त से जैन मन्दिर को विद्याबल से उड़ा के नडलाई में रखा वह आज भी विद्यमान है।

४—पाटण के महावीर के मन्दिर की प्रतिष्ठा कारक।

५—योगबल और अनेक विद्याओं के पारगामी।

६—वटवृक्ष के नीचे आठ शिष्यों पर वासक्षेप दे आचार्य बनानेवाले।

७—वटवृक्ष के नीचे ८४ शिष्यों को आचार्य पद देनेवाले।

८—संस्कृत साहित्य की प्रौढ सेवा करनेवाले।

९—नये जैन बनाके छाजेड गौत्र स्थापन करनेवाले।

१०—लाखों जैन बनाकर बागरेचादि गौत्र संस्थापक और पंच प्रमाण ग्रन्थ के कर्ता।

भगवान महावीर की सोलहवीं शताब्दी—

आचार्य वर्धमानसूरि ११, पार्श्वनागसूरि१२, देवगुप्तसूरि१३, जिनेश्वरसूरि १४, अभयदेवसूरि १५, द्रोणाचार्य १६, सूराचार्य १७, वादी वैतालशान्तिसूरि १८, नमिसाधु १९, नेमिचन्द्रसूरि २० इत्यादि ये महान् प्रभाविक आचार्य जैनधर्म के कट्टर प्रचारक हुए। यहाँतक न तो मूर्त्ति विषयक खण्डन-मण्डन था और न थी मुँहवस्त्रिका की चर्चा।

भगवान महावीर की सत्रहवीं शताब्दी—

आचार्य अभयदेवसूरि१ (मलधारी), कक्कसूरि,

११—आचार दिनकर ग्रन्थ और आबू पर विमलशाह के मन्दिरों की प्रतिष्ठा आप श्री ने ही करवाई।

१२—आत्मानुशासन ग्रन्थ के निर्माता।

१३—नौ पद प्रकरण ग्रन्थ के रचयिता।

१४—आपने वि० सं० १०८० में जालोर में रहकर हरिभद्रसूरि कृत अष्टकों पर टीकाएँ बनाईं। तथा जिन चैत्यवन्दन नामक ग्रन्थ की रचना की।

१५—नौ अंग-सूत्रों पर टीकाओं के रचयिता।

१६—अभयदेवसूरि की रची टीका के संशोधनकर्ता।

१७—धारा की राज सभा में विजय पता का फहराने वाले।

१८—राजा भोजको प्रतिबोध और बृहद् शान्ति के कर्त्ता।

१९—रुद्राट् के काव्यालङ्कार पर टीका रचयिता।

२०—उत्तराध्ययन सूत्र की टीका बनाई।

२१—अजमेर के राजा जयसिंह ने आपके उपदेश से अपने राज्य में जीव दया की घोषणा करवाई। मेड़ता के मन्दिरों की प्रतिष्ठा आप ही के करकमलों से हुई।

चन्द्रसूरि ३, विजयचन्द्रसूरि ४ (आर्य रक्षित), जिनवल्लभसूरि५, जिनदत्तसूरि ६, हेमचन्द्रसूरि ७, देवगुप्तसूरि आदि ये सब आचार्य मूर्त्तिपूजा के पक्के समर्थक और हाथ में मुँहपत्ती रखने वाले ही थे, इस शताब्दी में अनेक वादविवाद खण्डन-मण्डन पैदा हुए जैसे चन्द्रसूरि ने पूर्णिमियागच्छ की स्थापना की। विजयचन्द्रसूरि ने आंचलगच्छ को प्रवृत्ति की जिसमें श्रावक को पौषध व सामायिक में चरवाला मुँहपत्ती रखने का निषेध किया, भगवान् महावीर के पाँच या छः कल्याणक की चर्चा, औरतों को प्रभु पूजा करना या नहीं करने का वाद विवाद हुआ। परन्तु मूर्त्तिपूजा और मुँहपत्ती के विषय में किसी प्रकार का खण्डन या मण्डन उस समय के साहित्य मे दृष्टि गोचर नहीं होता है। अतएव उस समय मूर्त्तिपूजा और मुँहपत्ति हाथ में रखना शास्त्र सम्मत अखिल श्वेताम्बर समाज के लिए सर्वमान्य ही था।

३—आपने पूर्णिमा की पाक्षी करके पूर्णिमियागच्छ की नींव डाली।

४—आपने श्रावकों के सामायिक पौसहादि व्रत में चरवाला मुँहपत्ति का निषेध कर आंचल गच्छ अलग निकाला।

५—आपने संघ पट्टकादि कई ग्रन्थों का निर्माण किया।

६—आपने संदोहदोहावली आदि कई ग्रन्थों की रचना की और आप बड़े दादाजी के नाम से मशहूर हैं।

७—अनुयोगद्वार सूत्र की टीका कर्त्ता।

भगवान महावीर की अठारहवीं शताब्दी—

आचार्य जयसिंहसूरि१, हेमचन्द्रसूरि२, जगच्चन्द्रसूरि३, वादी देवसूरि४, जीवदेवसूरि५ कक्कसूरि६, जिनपत्तिसूरि७, अभयदेवसूरि८, भुवनचन्द्रसूरि९, विजयचन्द्रसूरि१० आदि ये सब आचार्य मूर्त्तिपूजा प्रचारक और हाथ में मुँहपत्ती रखनेवाले ही थे—

१—आप पाटण के नरेश सिद्धराज जयसिंह के परम माननीय थे। आपने बहुत अजैनों को जैन बनाये और पाक्षीसूत्र के वृत्तिकर्त्ता भी थे।

२—आप कलीकाल सर्वज्ञ विरुदधारक साढ़े तीन करोड़ श्लोकों के रचयिता और महाराज कुमारपाल के गुरू थे।

३—आपकी कठोर तपश्चर्या से मुग्ध बन चित्तौड़ के महाराणा ने तपा विरुद दिया जिससे वडगच्छ का नाम तपागच्छ हुआ।

४—आपने ८४ वादियों को पराजय कर वाद विरुद हासिल किया। स्याद्वाद रत्नाकर जैसे न्याय के ग्रन्थ रचयिता और फलौदी तीर्थ के पार्श्वनाथ मन्दिर की प्रतिष्ठा के कर्त्ता थे।

५—आप बड़े ही योगी और विद्यालब्धि सम्पन्न थे। एक समय ब्राह्मणों ने धर्मान्धता के कारण एक मृत गाय को सूरिजी के उपाश्रय में डलवादी तब सूरिजी ने परकाय प्रवेश विद्या बल से उसी गाय का शिवालय में डालदी। इस चमत्कार को देख ब्राह्मण सूरिजी के पक्के भक्त बन गये।

६—आप उस समय राजगुरु के नाम से मख्यात थे आचार्य हेमचन्द्रसूरि और महाराज कुमारपाल आपको बहुमान पूर्वक वन्दन करते थे।

७—आपने सघ पट्टक पर विस्तारवाली टीका रची।

८—यह मलधारी अभयदेवसूरि महान् प्रभाविक हुए हैं।

९—मंत्री आसपाल और वस्तुपाल तेजपाल के गुरू थे।

१०—वृद्ध पोसालिया शाखा के आदि पुरुष थे आपकी परम्परा में

भगवान महावीर की उन्नीसवीं शताब्दी—

प्रभाचन्द्रसूरि १ मल्लिषेनसूरि २ मेरूतुङ्गसूरि ३ सोमतिलकसूरि ४ सिद्धसूरि ५ आदि आचार्य मूर्त्ति उपासक और हाथ में मुँहपत्ती रखने वाले ही थे।

भगवान महावीर की बीसवीं शताब्दी—

आचार्य सोमसुन्दरसूरि६, मुनिसुन्दरसूरि७, रत्नशेखरसूरि८, ज्ञानसागरसूरि९ सिद्धसूरि आदि आचार्य मूर्त्तिपूजक और हाथ में मुँहपत्ती रखने वाले ही थे। इस शताब्दी में लौंकाशाह हुआ और मूर्त्तिपूजा के विरोध में पुकार उठाई और इसी शताब्दी में मूर्त्तिपूजा विषयक खण्डन-मण्डन प्रारम्भ हुआ इसके पूर्व मूर्त्तिपूजा के विषय में किसी प्रकार की चर्चा या खण्डन-मण्डन जैन साहित्य में नहीं मिलती है।

आचार्य ज्ञानसागरसूरि (यति ज्ञानजी) हुए जो लौंकाशाह के गुरू थे।

१—आपने प्रभाविक चरित्र नामक ऐतिहासिक ग्रंथ की रचना की।

२—आप वडे ही प्रभाविक और अनेक ग्रन्थों के कर्त्ता हुए।

३—प्रवन्ध चिन्तामणि और विचार श्रेणी के कर्त्ता।

४—जिन प्रभसूरि ने पद्मावती देवी के वचन से जाना कि इस समय भरतक्षेत्र में तपागच्छ का अभ्युदय होगा। इस कारणसे अपने बनाये हुए आगम स्तवादि स्तोत्र आचार्य सोमतिलकसूरि को अर्पण किये।

५—श्री शत्रुँजय तीर्थ के पन्द्रहवें उद्धारक समरसिंह के धर्मगुरू और आप ही के कर कमलों से इस महान् तीर्थ की पुनः प्रतिष्ठा हुई।

६—प्रसिद्ध राणकपुर के त्रिलोक्यदीपक मन्दिर की प्रतिष्ठा कारक।

७—अध्यात्म कल्पद्रुम ग्रन्थ के कर्त्ता।

८—श्राद्ध विधि आदि अनेक ग्रन्थों के निर्माता।

९—लौंकाशाह के गुरू।

भगवान् महावीर की इक्कीसवीं शताब्दी—

आचार्य हेमविमलसूरि१, आनन्दविमलसूरि२, उपाध्याय विद्यासागर३, विजयदानसूरि, जयकेशरीसूरि, कक्कसूरि, देवगुप्तसूरि इत्यादि ये सब आचार्य मूर्त्तिपूजक और हाथ में मुँहपत्ती रखने वाले ही थे। इस शताब्दी में मूर्त्तिपूजा के विषय में खण्डन-मण्डन चालू था पर मुँहपत्ती वो क्या मूर्त्तिपूजक और क्या मूर्त्तिअपूजक सब लोग हाथ में ही रखते थे। इस शताब्दी तक मुँहपत्ती विषय की किसी ने भी चर्चा नहीं की थी।

भगवान् महावीर की बावीसवीं शताब्दी—

आचार्य विजयहीरसूरि४, विजयसेनसूरि५, उदयसिंह६, कनक-

१—आपके चरणों में लौंकामत के ३७ साधुओं ने जैन दीक्षा ग्रहण की थी।

२—आप क्रिया उद्धारक हुए और आपके पास कुल ७८ लौंकामत के साधुओं ने पुनः दीक्षा ली थी।

३—आपने जैसलमेर, मारवाड़ और मेवाड़ में बहुत श्रावक जो तपागच्छ के थे और वे अन्य मत के उपासक बन गये थे, उनको पुनः तपागच्छ में स्थिर किये।

४—प्रसिद्ध यवन सम्राट् अकबर को प्रतिबोध कर तीर्थों के रक्षण निमित्त फरमान या एक वर्ष में छः मास जीव दया के परवाने और लौंकामत के पूज्य मेघजी आदि अनेक साधुओं (शाह वाड़ीलाल मोतीलाल लिखित ऐतिहासिक नोंध पृष्ट ६० अनुसार ५०० साधुओं) को पुनः मूर्त्तिपूजक बनाके जैन दीक्षा दी। आप बड़े ही प्रभाविक आचार्य हुए।

५—बादशाह अकबर के पास रह कर हमेशा उपदेश देने वाले।

६—श्राद्ध प्रतिक्रमण भाष्य के कर्त्ता।

कुशल७, जयसोमसूरि, कल्याणसागरसूरि८, सिद्धसूरि, उ० समय सुन्दर९, परमयोगि आनन्दघनजी१०, महोपाध्याय यशोविजय-जी११, पन्यास सत्यविजयगणि१२ आदि ये सब मूर्त्तिपूजक और हाथ में मुँहपत्ती रखने वाले थे। इस शताब्दी में भी मूर्त्ति पूजा का खण्डन-मण्डन जोर से था परन्तु मुँहपत्ती की चर्चा बिल्कुल नहीं थी। कारण अखिल जैन श्वेताम्बर समाज मुँहपत्ती हाथ में रखने वाला ही था परन्तु इस शताब्दी के अन्त में स्वामि लवजी ने डोराडाल दिनभर मुँहपर मुँहपत्ती बाँधने की नयी प्रथा चलाई उसके बाद इस विषय की चर्चा शुरू हुई है।

पाठको! आप इस उपरोक्त भगवान् महावीर प्रभु के पश्चात् क्रमशः बावीस शताब्दियों और इन शताब्दियों में धुरंधर विद्वानाचार्यों की नामावली से स्वतः समझ गये होंगे कि इन शताब्दियों में साधुओं को वस्त्र रखना या न रखना, भगवान् महावीर के पांच या छः कल्याणक मानना. स्त्रियों को प्रभु पूजा करना या नहीं करना, सामायिक के समय श्रावकों को मुँहपत्ती चरवला रखना या नहीं रखना, मूर्त्तिपूजा मानना या नहीं मानने के मतभेद जिस-जिस समय और जिस-जिस पुरुष के द्वारा उत्पन्न हुए वे

७—भक्तामर स्तोत्र की टीका कर्त्ता।

८—वर्धमानशाह जामनगर वाले के बनाये मन्दिर की प्रतिष्ठा करवाने वाले।

९—प्रसिद्ध कवि तथा अष्टलक्षी के कर्त्ता।

१०—प्रसिद्ध अध्यात्म-योगी अनेक स्तवन पदों के रचयिता।

११—परम गीतार्थ और ११० ग्रन्थों के निर्माता।

१२—क्रिया उद्धारक।

बावीसवीं शताब्दी तक ज्यों के त्यों चले आये परन्तु डोरा डाल दिनभर मुँहपत्ती मुँहपर बाँधने का न तो किसी ने दुराग्रह किया और न इस बात का साहित्य के अन्दर खण्डन-मण्डन का किसी ने एक शब्द तक भी उच्चारण किया है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि भगवान् महावीर के बाद इकवीस सौ वर्ष तक तो किसी ने डोरा डाल दिनभर मुँहपत्ती मुँहपर नहीं बाँधी थी पर बावीसवीं शताब्दी के अन्त में स्वामि लवजी ने डोराडाल दिनभर मुंहपत्ती मुंहपर बाँधने की कुप्रवृति चलाई और उसी समय से इस विषय का खण्डन-मण्डन प्रारम्भ हुआ।

यदि कोई भाई अपनी अल्पज्ञता के कारण यह सवाल करे कि जो भगवान् महावीर के पश्चात् बावीस शताब्दियों के अन्दर के आचार्यों के नाम दिये गये हैं वे सबके सब मूर्त्तिपूजक और हाथों में मुंहपत्ती रखने वालो के हैं पर इस समय के बीच कहीं मुंह-पत्ती मुंह पर बान्धने वाले आचार्य भी हुए होंगे ?

अव्वल तो ऐसे कहने वालो को अपने आचार्य होने का एकाध प्रमाण देना चाहिये जैसे कि हमने पूर्वोक्त बावीस शताब्दियों में हुए आचार्यों के अस्तित्व के फुट नोट में प्रमाण दिये हैं। दूसरा इन बावीस शताब्दियों की प्रचलित क्रिया में थोड़ा भी रद्दोबदल हुआ कि उनकी चर्चा उसी समय प्रारम्भ होना हम ऊपर बतला आये हैं तो मुंहपत्ती के विषय मे यदि पहिले डोरा-डाल मुँहपत्ती मुँह पर बाँधी जाती हो और बाद में किसी ने डोरा फेंक कर मुंहपत्ती हाथ में रखनी शुरू कर दी हो तो उसका समय व आदि पुरुष बतलाना चाहिये और जिस समय डोरा तोड़

हाथ में मुंहपत्ती रक्खी हो उस समय इसका खंडन-मंडन भी अवश्य हुआ हो, ऐसा उल्लेख बतलाना चाहिये।

यदि यह कहा जाय कि डोरा डाल मुंहपत्ती मुंहपर बाँधने वाले थोड़ी संख्या में थे तब बहुत सख्या वाले जो हाथ में मुंहपत्ती रखने वाले अपनी प्रवृति की पुष्टि और आपसे खिलाफ वालों का खंडन-मंडन किया होगा पर यह तो कभी भी नहीं हो सकता कि इतना बड़ा जबर्दस्त परिवर्तन हो और उभय पक्ष शान्ति धारण कर एक शब्द तक उच्चारण न करे।

वास्तव मे भगवान् आदीश्वर से भगवान् महावीर और आपके पश्चात् बावीसवीं शताब्दी तक किसी जैन ने डाराडाल दिन भर मुंहपत्ती मुंह पर नहीं बाँधी थी। यह कुप्रथा स्वामि लवजी द्वारा (वि० सं० १७०८ से) ही शुरू हुई है।

जब स्वमत के शास्त्रो, परमत के शास्त्रों और ऐतिहासिक साधनों से यह स्पष्ट सिद्ध है कि डोराडाल दिनभर मुंहपत्ती मुँह पर बाँधना प्राचीन नहीं पर अर्वाचीन अर्थात् वि० की अट्ठरहवीं शताब्दी में प्रचलित हुई है तब भगवान ऋषभदेव, बाहुबली, ब्राह्मी, सुन्दरी, प्रश्नचन्दराजर्षि, केशीश्रमण, भगवान् महावीर और अरणक कामदेव श्रावको के डोरा वाली मुंहपत्ती बँधाने के कल्पित चित्र बनवा कर उन महापुरुषो की अन्य धर्मियों से निंदा करवाने का काम सिवाय मूर्खता के क्या हो सकता है? इस बात को हमारे स्थानकमार्गी भाई फिर खूब सोचें, समझें और मनन करें।

यदि उन कल्पित चित्रों को अजमेर के स्था० साधुसम्मेलन के बीच रक्खे जाते तो ज्ञात होता कि स्थानकमार्गी समाज, विशेषतया स्थानकवासी साधु इन चित्रो से सहमत हैं या इनका एक दम

विरोध करते हैं। जाने दीजिए साधुओं को आज भी स्थानकवासी कान्फरेन्स की जनरल सभा में भगवान ऋषभदेव से भगवान महावीर के जितने कल्पित चित्र जो उनके मुंहपर डोरावाली मुँहपत्ती के बनाये गये और पुस्तकों में दिये गये हैं उन्हे रखकर उनको मानने के मत लीजिये आपको कितने मत मिलते हैं। मेरे ख्याल से विरोध में ९८ मत और शायद ही दो मत पक्ष में मिलेंगे क्योंकि अब स्थानकवासी समाज इतना अज्ञान और हटग्राही नहीं रहा है कि तीर्थंकरों को इतने अज्ञान और उपयोग शून्य मानने को तैयार हो। कारण मुंहपत्ती में डोराडाल दिनभर मुँहपर बान्धी है उन का खास ध्येय यही था कि उपयोग न रहने से खुल्ले मुंह न बोला जाय। तो क्या यह उपयोग शून्यता तीर्थंकरों के लिए भी कही जा सकती है या स्थानकवासियों के तीर्थंकर ही कोई अलग हों और वे उपयोग शून्य हों, इसी कारण वे मुंहपत्ती में डोरा डाल दिनभर बान्धी रखते हों तो बात ही दूसरी है वरन् जैन तीर्थंकर, गणधर, साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविकाओं ने न तो आज पर्यन्त डोरा डाल दिनभर मुंहपत्ती मुंहपर बाँधी थी और न भविष्य में बांधेंगे। इतना ही क्यों, पर डोरा डाल मुंहपर दिनभर मुंहपत्ती बाँधने वालों को उत्सूत्र प्ररूपक निन्हव और कुलिंगी समझते हैं।

सज्जनो ! यह बात तो एक साधारण मनुष्य भी समझ सकता है कि किसी भी धर्म की प्रचलित क्रिया में जब थोड़ा ही फेरफार होता है तो उसकी चर्चा भी उसी समय प्रचलित हो जाती है। जैसे, जैनधर्म में भगवान् महावीर के समय जमाली व गोशाला भगवान् से खिलाफ हुए तो उनकी चर्चा भी उसी समय

से प्रारम्भ हुई जो आज भी उपलब्ध है। बाद में श्वेताम्बर दिगम्बरों का मतभेद हुआ तो उसका भी खण्डन मण्डन उसी वक्त से शुरू होगया। तदन्तर गच्छों का प्रादुर्भाव हुआ और उसके अन्दर जो प्रचलित क्रियाओं में रद्दोबदल हुआ तो उसी समय उनके चर्चा के ग्रन्थ बन गये। श्रीमान् लौंकाशाह ने जैन सिद्धांत के विरोध में जब अपना उत्पात मचाया तो उसका भी खण्डन मण्डन उसी समय से चल पड़ा, पर भगवान् आदिनाथ एवं महावीर के समय से विक्रम की अठारहवीं शताब्दी अर्थात् स्वामी लवजी के पूर्व समय तक किसी भी साहित्य में मुंहपत्ती विषयक खण्डन-मण्डन दृष्टि गोचर नहीं होता है। यदि पहिले मुंहपत्ती बाँधी जाती थी और बाद में किसी आचार्य ने खोल कर हाथ में लेने की रीति चलायी होती तो उसका भी जरूर विरोध होता और बाँधने वाले तथा खोलने वालों का पारस्परिक खण्डन मण्डन भी चलता, परन्तु जब इसका सर्वथा अभाव है तो फिर कैसे मान लिया जाय कि इस प्रक्रिया में भी रद्दोबदल हुआ था। वस्तुस्थिति के देखने से तो यही पता पड़ता है कि सर्व प्रथम तो मुंहपत्ती हाथ में रखने की प्रक्रिया ही जारी थी किन्तु बाद में जब गच्छ एवं गुरु द्वारा तिरस्कृत हुए स्वामि लवजी ने इसके मूल रूप में कुछ भेद डाला तो उसका विरोध भी उस समय हुआ था जो आज के प्राप्त प्रमाणों से जाहिर होता है, जैसे कि लौंकाशाह ने सर्व प्रथम मूर्ति का विरोध किया तो उस समय का इतिहास इस बात को डंके की चोट बताता है कि जैनों में मूर्ति विरोधी सबसे पहिला लौंकाशाह ही हुआ। और मुँहपत्ती में डोरा डाल दिनभर मुँहपर बाँधने वाला सब से पहिला

यति लवजी हुआ। उक्त दोनों व्यक्तियों के पहिले न तो मुंहपत्ती बाँधने वालो का अस्तित्व था और न मूर्ति विरोधियो का अस्तित्व था, किन्तु बाद मे ही इनसे यह प्रवृत्ति चली है। ये सब अपने दोष छिपाने के लिए ही तीर्थङ्कर जैसे महापुरुषो के कल्पित चित्र तैयार करवाए गये हैं और इनसे अन्य धर्मियो को हंसाने का तथा जैन शासन को नाचा दिखाने का बड़ा दु.साहस किया गया है। हम पूछते हैं कि क्या आपकी यह नीति वस्तुत. ठीक है ? यदि नहीं तो इसके लिए ऐसा करने वालों को प्रायश्चित्त करना चाहिये और यह सत्य है तो स्वामी लवजी (अर्थात् अट्ठारहवी शताब्दी) के पूर्व का इसका समर्थक कोई प्रमाण पेश करना चाहिए कि जिससे डोरा डाल मुंहपत्ती का मुंहपर बाँधना सिद्ध हो।

स्थानकमार्गियो ! आपकी मुँहपर मुँहपत्ती बांधने की अनुचित प्रवृत्ति से आज कई लिखे पढ़े स्थानकवासो साधुओं के उपासक लोग, सामायिक पौसह प्रतिक्रमणादि क्रियाओ से वंचित रहते है, क्योकि जब वे इतिहास देखते हैं तो मुँह पर मुँहपत्ती बाधने का कोई उल्लेख नहीं मिलता है तथा खास लौकाशाह के बाद भी २०० वर्षों तक इसका अस्तित्व नजर नहीं आता है, एव जब लौंकागच्छीय श्रीपूज्यो और यतियो से जाकरके वे पूछते हैं तो उनसे भी कोरा जवाब मिलता है कि लौकाशाह ने भूल कर भी मुंहपत्ती मुहपर नही बांधी थी, यह प्रथा तो स्वामी लवजी ने चलाई है, तो लिखे पढ़े ग्रेजुयेट बोल उठते हैं कि हम कोई लकीर के फकीर नहीं है कि जो इस अंध परम्परा में विश्वास रख कर इस कुप्रथा को सदा के लिए गले से चिप-

टाए रक्खें। हम तो सत्य धर्म के उपासक हैं जिस धर्म में सत्य का आभास और उसकी सिद्धि का कोई प्रमाणिक प्रमाण मिल जाता है बस वही धर्म हमारे गले का हार है नहीं तो इस प्रमाण शून्य प्रथा को कौन अपनायेगा? इस प्रकार के निर्भीक प्रत्युत्तर को सुनकर यदि तुम्हारे में कुछ शक्ति शेष है तो दिखादो ऐसा उत्तर देने वाले अपने भाईयों को कि इसका कोई प्रबल प्रमाण बतलावें कि जिसे देख कर वे निःशंक बन जांय। अन्यथा वे "अतो भ्रष्टस्ततोभ्रष्टः" बन कर कभी वे खुद म जैन धर्म से हाथ धो बैठेंगे। जैसे लाला लाजपतराय और लाला सागरचन्द जैसे विद्वानों के उदाहरण आपके सामने विद्यमान हैं। ये दोनो विद्वान स्थानकवासी समाज के नेता थे और अपनी समाज की पूर्वोक्त संकीर्णवृत्ति के कारण ही लाला लाजपतरायतो समाजी और लाला सागरचन्द ने मुसलमान धर्म को स्वीकारकर जैनों को ही नहीं पर हिन्दू समाज को भी बड़ा भारी नुकसान पहुँचाया है। क्या हमारा स्थानकमार्गी समाज अब भी सावधानहोगा? क्या अब भी कुप्रथा को तिलांजली देकर और सनातन जैनधर्म को समझ कर स्थानकमार्गी समाज उस रास्ते पर चलने को कटिबद्ध होगा?

मुंहपत्ति विषयक कई बार शास्त्रार्थ भी हुए, पर स्थानकवासी भाई पराजय हो जाने पर भी अन्य स्थान पर जाकर कह देते हैं कि शास्त्रार्थ में क्या धरा है? हम करते हैं वह शास्त्रानुसार ही करते हैं। पर जहां ऐसे विषय में सत्ताधारी नरेश या पण्डित मध्यस्थ न हों वहां जय पराजय का सम्पूर्ण निर्णय नहीं हो सकता है। पर एक समय ऐसा अवसर मिल गया कि न्याय

शील नाभा (पंजाब) नरेश की राजधानी नाभा में इधर जैनाचार्य श्री विजयवल्लभ सूरिजी (उस समय के मुनि श्री वल्लभ विजयजी महाराज) उधर स्थानकवासी पूज्य सोहनलालजी म० अपने विद्वान शिष्य मुनि श्री उदयचन्दजी के साथ नाभा में पधार गये। इन दोनों महात्माओं के आपसी प्रश्नोत्तर का कार्य नाभा नरेश की राज सभा के पण्डितों पर रख दिया गया जिसमें जय पराजय का निर्णय नाभानरेश की मारफत उनकी सभा के विद्वान पण्डित करें। बस ! उन्होंने जो फैसला दिया उसको अक्षरशः यहां उद्धृत कर दिया जाता है।

फैसला शास्त्रार्थ नाभा.

ॐ श्रीगणाधिपतये नमः

श्रीमान्मुनिवर **वल्लभविजयजी !**

पंडित श्रेणि सरकार नाभा इस लेख द्वारा आपको विदित करते हैं। गत संवत्सर में आपने हमारे यहां श्री १०८ मन्महाराजाधिराज नाभानरेशजी के हजूर में ६ (छः) प्रश्न निवेदन करके कहा था कि यद्यपि जैन मत और जैन शास्त्र भी सर्वथा एक हैं परन्च कालान्तर से हमारे और ढुंढियो में परस्पर विवाद चला आता है बल्कि कई एक जगह पर शास्त्रार्थ भी हुआ परन्तु वह बात निश्चय नहीं हुई कि अमुक पक्ष साधु है। श्रीमहाराज की न्यायशीलता और दयालुता देशांतरो में विख्यात है इससे हमें आशा है कि हमारे भी परस्पर विवाद का मूल आपके न्याय प्रभाव से दूर हो जावेगा, भगवदिच्छा से इन दोनों में

ढुंढियों के महंत सोहनलालजी यहां आये हुए हैं, उनके सन्मुख ही हमें इन ६ (छः) प्रश्नों का उत्तर जैन मत के शास्त्रानुसार उनसे दिलाया जावे। आपके कथनानुसार उक्त महंतजी को इस विषय की इत्तला दीगई, आपने इतला पाकर साधु उदयचन्दजी को अपने स्थानापन्न का अधिकार देकर उनके हानि लाभ को अपना स्वीकार करके शास्त्रार्थ करना मान लिया था।

तदनंतर श्री १०८ श्रीमन्महाराजाधिराजजी की आज्ञानुसार हम लोगों को शास्त्रार्थ के मध्यस्थ नियत किया गया। तिस पीछे कई दिन तक हमारे सामने आपका और उदयचंदजी का शास्त्रार्थ होता रहा। शास्त्रार्थ के समय पर जो परिणाम आपने दिखलाये सो शास्त्रविहित थे। आप की उक्ति और युक्तियें भी निःशंकनीय और प्रामाण्य थीं। प्रायः करके श्लाघनीय हैं॥ उक्त शास्त्रार्थ के समय पर और इस डेढ वर्ष के अंतर में भी जो इस विषय को विचारा है उससे यह बात सिद्ध नहीं हुई कि जैन मत के साधुओं को वार्तालाप के सिवाय अहोरात्र अखंड मुख बंधन और सर्व काल मुख पोतिका के मुख पर रखने की विधि है। केवल भ्रांति है। केवल वार्तालाप के समय ही मुख वस्त्र के मुख पर रखने की आवश्यकता है हमारे बुद्धि बल की दृष्टि द्वारा यह बात प्रकाशित होती है कि आपका पक्ष ढूंढियों से बलवान है।

यद्यपि आपका और ढूंढियों का मत एक है और शास्त्र भी एक हैं इसमें भी सन्देह नहीं, साधु उदयचंदजी महात्मा और शान्तिमान है परंच आपने जैन मत के शास्त्रों में अधीक

परिश्रम किया है और आप उनके परम रहस्य और गूढार्थ को प्राप्त हुए हैं। सत्य वोही होती है जो शास्त्रानुसार हो और जिसमें उसके कायदों से स्वमत और परमतानुयायिओं की शंका न हो। शास्त्र के विरुद्ध अंधपरंपरा का स्वीकार करना केवल हठ धर्म है। पूर्व विचारानुसार जब आप का शास्त्र और धर्म एक है उसके कर्त्ता आचार्य भी एक हैं फिर आश्चर्य की बात है कि कहा जाता है कि हमारे आचार्यों का यह मत नहीं है और ना वो इन ग्रन्थों के कर्ता हैं। आप देखते हैं कि हमारे भगवान् कलकी अवतार की बाबत जहां आप देखोगे एक ही वृत्त पावेगा, ऐसे ही आप के भी जरूरी है।

आप के प्रतिवादीके हठके कारण और उनके कथनानुसार हमें शिवपुराण के अवलोकन की इच्छा हुई। बस इस विषय में उसके देखने की कोई आवश्यकता नहीं थी। ईश्वरेच्छा से उसके लेख से भी यही बात प्रगट हुई कि वस्त्र वाले हाथ को सदा मुख पर फैंकता है इस से भी प्रतीत होता है कि सर्व काल मुख वस्त्र के मुख पर बांधे रखने की आवश्यकता नहीं है किन्तु वार्तालाप के समय पर वस्त्र का मुख पर होना जरूरी है। आप के शास्त्रार्थ से एक हमें बड़ा भारी लाभ हुवा है कि हमें मालूम हो गया कि जैन मत में भी सूतक पातक ग्रहण किया है और जैनी साधुओं को उन के घरों के आहारादि के लेने की विधि नहीं है।

व्यतीत संवत्सर के जेष्ठ सुदी पञ्चमी सं० १९६१ को जो शास्त्रार्थ मध्य में छोड़ा गया जिसका यह आशय-था कि ढूंढियों की ओर से सदा मुख वन्धन की विधि का कोई प्रमाण मिले सो आज दिन तक कोई उत्तर उन की तरफ से प्रगट नहीं हुआ, अतः उन की मूकता आप के शास्त्रार्थ के विजय की सूचिता है। बस इस विषय में हमारी संमति है और हम व्यवस्था याने फैसला देते हैं कि आप का पक्ष उन की अपेक्षा बलवान् है, आप की विद्या की स्फूर्ति और शुद्ध धर्माचार की नेष्टा अतीव श्रेष्ठतर है। प्रायः करके जैन शास्त्र विहित प्रतीत होता है और है।

इत्यलम् १८ पौह सं० १९६२ मु० रियासत नाभा।

हस्ताक्षर पंडितों के
1. पण्डित भैरवदत्त.
2. पण्डित श्रीधर राज्य पण्डित नाभा.
3. पण्डित दुर्गादत्त.
4. पण्डित वासुदेव.
5. पण्डित वनमालिदत्त ज्योतिषी.

उक्त फैसले के आने पर श्रीमुनि वल्लभविजयजी ने श्रीमान् नाभा नरेश को एक पत्र लिखा, उस की नकल आगे देते हैं।

श्रीमान् महाराजा साहिब नाभापतिजी जयवन्ते रहे, और राय-कोट से साधु वल्लभविजय की तरफ से धर्मलाभ वांचना।

देवगुरू के प्रताप से यहां सुख शान्ति है, और आप की हमेशा चाहते हैं। समाचार यह है कि आप के पंडितों का भेजा हुआ फैसला पहुँचा, पढ कर दिल को बहुत आनन्द हुआ, न्यायी और धर्मात्मा महाराजों का यही धर्म है, कि सत्य और झूठ का निर्णय करें जैसा कि आपने किया है, कितने ही समय से बहुत लोगों के उदास हुए दिल को आप ने खुश कर दिया, इस बारे में आप को वार वार धन्यवाद है। अब इस फैसले के छपवाने का इरादा है, सो रियासत नाभा में छपवाया जावे या और जगह भी छपवाया जा सकता है। आशा है कि इसका जवाब बहुत जल्द मिले। ता० १८-१-१९०६, द० वल्लभविजय, जैन साधु।

पूर्वोक्त पत्र के उत्तर में नाभा नरेश ने पण्डितों के नाम पत्र लिखा, उसकी नकल नीचे मुजब है:—

ब्रह्ममूर्त पण्डित साहिबान कमेटी सलामत—
नम्बर ११९३.

इन्दुल गुजारिश पेशगाह खास से इरशाद सायर पाया कि बावा जी को इत्तला दी जावे कि जहां उनकी मनशा हो वहां इसको तवअ करावें, यह उन को अखतियार है, जो कुछ पंडतान ने बतलाया वह भेजा गया है, लिहाजा मुतकल्लिफ खिदमत हूँ कि आप बमनशा हुक्म तामील फर्मावें, १० माघ संवत् १९६२ अज सरिशतह ड्योढी पन्नालाल, सरिशतहदार।

इस पत्र के उत्तर में कमेटी पंडितान ने श्रीमुनि वल्लभविजयजी के नाम पत्र लिखा, उसकी नकल यह है—"ब्रह्म स्वरूप बावा साहिबजी श्रीमहात्मावल्लभविजयजी साहिब साधु सलामत. नं ७७६

सरकार बाला दाम हश्मतहू से चिट्ठी आपकी पेश होकर बर्दी जवाब बतवस्सुल ड्योढ़ी मुबारिक व हवालह हुक्म खास बर्दी इरशाद सदूर हुआ कि बाबजी को इतला दी जावे कि जहाँ उनका मनशा हो तबअ करावे, बखिदमद महात्माजी नमस्कार दस्त बस्तह होकर इल्तिमास किया जाता है कि जहाँ आपका मनशा हो छपवाया जावे, और जो फैसला तनाजअ बाहमी साधुआन् महात्मा का जो जैनमत के अनुसार पण्डितान ने किया था, आपके पास पहुँच चुका है मुतअ हो चुका है, तहरीर ११ माघ संवत् १९६२, द० सपूर्णसिंह अज सरिशहत कमेटी पण्डितान ॥

जिस प्रकार नाभा का फैसला हुआ और इस में स्थानक-वासियों का पराजय हुआ था इसी प्रकार पटियाला इलाका के समाना शहर मे भी शास्त्रार्थ हुआ उस मे भी स्थानकवासियो का ही पराजय हुआ था और बात भी ठीक है कि जिन लोगो ने जैन-शास्त्र विरूद्ध आचरण की है उन लोगो का पराजय होता ही है क्योंकि डोराडाल दिनभर मुँहपत्ती बाधने मे न तो जैन-शास्त्र सहमत है न परधर्म के शास्त्र । और न ऐतिहासिक साधनों के प्रमाण ही सम्मत है इतना ही क्यो पर यह प्रथा लोक विरूद्ध भी है इस कुलिंग की स्थान स्थान निंदा और अवहेलना होती है जैन धर्म की निंदा और हँसी करवाई है तो ऐसे कुलिंग धारियो ने ही करवाई है इन लोगो के लिये हमें दया आती है शासन देव इन को सद्बुद्धि प्रदान करे इन के अलावा और क्या किया जाय ।*

* ऐसे फैसलों से और ऐतिहासिक साधनों से इन कल्पितमत

इस नाभानरेश व पण्डितों के फैसले से पाठकवर्ग और विशेषकर हमारे स्थानकवासी भाई ठीक तौर पर समझ गये होंगे कि जैनशास्त्रों व अन्यधर्म के ग्रन्थो के आधार पर दिया हुआ फैसला साफ-साफ पुकार रहा है कि जैन मुनियो के मुखवस्त्रिका सनातन से हाथ में और बोलते समय मुंह आगे रखना ही विधान है।

यदि फिर भी किसी भाई का आग्रह हो तो जैनियो की

[स्थानकवासी] की कार्रवाई और पोल खुलने लगी और समझदार भव भीरू स्थानकवासी साधु एक के पीछे एक मुंहपती का मिथ्या डोरा तोड़ कर मूर्तिपूजा के उपासक बनने लगे। इस हालत में स्थानकवासियों के पास दूसरा कोई उपाय न रहा जिस से रहे हुए अबोध लोगों को कुछ भी आश्वासन देकर उन के चल चित को स्थिर कर सके। फिर भी यह करना इन लोगों के लिए जरूरी था अतएव हाल ही मे इन लोगों ने 'पीताम्बर पराजय' नामक एक छोटा सा ट्रैक्ट छपवाया जिस में बिलकुल कल्पित और असभ्य शब्दों मे आप अपनी जय और जैन मुनियों का पराजय होने का मिथ्या प्रयत्न किया है पर अब जनता एवं विशेष स्थानकवासी समाज इतना अज्ञानान्धकार में नहीं है कि नाभा-नरेश की सभा के पण्डितों के हस्ताक्षर से दिया हुआ फैसला और खास नाभानरेश के साथ पत्र व्यवहार द्वारा महाराज नाभानरेश ने अपनी सभा के पण्डितों द्वारा दिया हुआ न्यायपूर्वक फैसला को छपाने की इजाजत दें। उस फैसला को असत्य समझे और स्थानकवासी कई मताग्रही लोगों की कल्पित एवं बिलकुल झूठी बातें को सत्य समझ ले? यदि स्थानकवासी भाई जैनमुनियों को पराजय और अपनी जय होना घोषित करते है तो उनको चाहिये कि नाभानरेश की सभा के किसी पण्डित का दिया हुआ फैसला कि एक लाइन तक भी जनता के सामने

ओर से शास्त्रार्थ करने को एक पंच प्रतिक्रमण पढ़ा हुआ मुनि भी इस प्रकार का न्यायालय मे शास्त्रार्थ करने को तैयार है।

एक अंग्रेज ने सूरि सम्राट् आचार्य श्री शान्तिसूरि से प्रश्न किया कि आपके धर्म में और तो सब अच्छा है पर कई लोग मुँह पर कपडे का एक टुकड़ा दिनभर बाध रखते हैं इसका क्या मतलब है। सूरिजी ने कहा कि वे लोग इससे जीव दया पालना कहते हैं इस पर डॉक्टर साहब ने कहा कि मेरे खयाल से इससे जीवदया नहीं, पर जीवहिंसा विशेष होती है क्यो कि दिन भर कपड़ा मुँहपर बान्धने से वह गीला हो जाता है और उसमे असँख्य जीव पैदा होते हैं और वे सब मुंह की गरम हवा से मर जाते हैं और वह गन्धी हवा वापिस मुँह मे जाने से स्वास्थ्य को हानि भी पहुँचतो है। इस लिये इस प्रथा को चलाने वाला

रखे। यदि आपका यह कहना हो कि मध्यस्थ पण्डितों के अन्दर से सब के सब नहीं किन्तु कुछ पण्डितों ने फैसला दिया है परन्तु आप उन मध्यस्थ पण्डितों से किसी एक का तो इस फैसला के विषय में विरोध हो तो उनके हस्ताक्षर से जाहिर करें वरना अब थोथी बातों और मिथ्या लेखों से जनता को भ्रम मे डाल देने का जमाना नहीं है कि नाभानरेश की सभा के नियत किये हुए मध्यस्थ पण्डित उभय तरफ की दलीलें सुन निर्पक्ष भावों से फैसला दे और उस फैसला को छपवाने को खास नाभा नरेश अपनी अनुमति दें उसको तो जनता असत्य समझले और प्रमाण शून्य मन० कल्पित बिलकुल झूठो बातें पर सहस दुनिया विश्वास करले? इससे तो ऐसी रद्दी पुस्तकें प्रकाशित करवाने वालों की उल्टी हँसी होती है फिर भी यह लोग युक्ति मशहूर है कि "हारिया जुवारी दूना खेले" इसी युक्ति को हमारे स्थानकवासी कई मतग्राही लोग ठीक चरतार्थ कर रहे हैं तथापि इस सत्यता के युग में सदैव सत्य की ही जय हो रही है।

जानकार नहीं पर बिलकुल अज्ञानी थो और आज पर्यन्त इस प्रथा को पालने वाले भी इस बात को नहीं समझते यह ही एक आश्चर्य की बात है । इत्यादि ।

अन्त मे मैं मेरे स्थानकवासी भाइयो को नम्रता और प्रेम पूर्वक कहूँगा कि कृपया आप जैन, जैनेतर शास्त्रीय एवं ऐतिहासिक प्रमाणो और विशेष जमाने की ओर खयाल कर देखिये जैन मुनियो की पवित्रता और उनके वेश के सामने देव, देवेन्द्र एवं नर, नरेन्द्र सिर झुकाते थे । तब आज आपके इस जैन शास्त्रों के विरुद्ध एवं लोकनिन्दनीय वेश को देख तटस्थ विद्वानो को किस प्रकार घृणा आती है और वे किस प्रकार सहसा बोल उठते हैं कि यह कैसा धर्म है इतना ही क्यो पर कई लोगो ने तो अपने ग्रन्थो में यहां तक भी लिख दिया है कि—

"The Dhoondia ascetic is a disgusting object—He wears a screen of cloth called Muhpattee, tied over his mouth His body and clothes are filthy in the last degree and covered with vermin"

Rasmala 1878

इस लेख का भावार्थ ऐसा है कि—"ढूंढियो के साधु घृणा करने योग्य हैं वे अपने मुँह को एक प्रकार के कपड़े से ढंका रखते है कि जिसको वे लोग मुंहपती कहते हैं और शरीर तथा कपड़े तो इतने मलीन रखते है कि उनमे जूंए आदि जीव पैदा हो जाते हैं ।

"फॉर्बस साहब की रासमाला ई० सन् १८७८"

हां मताग्रही लोगो को अपने अवगुण नहीं दिखते हैं तथापि ऐसे निर्पक्ष लोगो के वाक्यो पर ध्यान लगा कर देखने से साफ साफ मालूम हो जायगा कि ऐसी कुप्रवृति शास्त्र विरुद्ध तो है ही पर साथ में लोक विरुद्ध होने के कारण ही मध्यस्थ लोगो को अपने इस प्रकार के उद्गार निकालने पड़ते हैं खैर ! "गई को जान दो, राख रही को" इस लोक युक्ति पर लक्ष देकर अब भी अपनी प्रवृति को सुधारो और जैन शास्त्रानुसार साधुओ का पवित्र वेश को धारण कर स्व पर का कल्याण करने मे समर्थ बनो, यही हार्दिक भावना है। यदि आप मे एक दम इतनी उदारता न हो तो कम से कम लौंकाशाह कि 'जिनके आप अनुयायी होने का दावा करते हो' उन्हीं की परम्परा के श्री पूज्यादि आज विद्यमान हैं उनकी आज्ञा का पालन कर इस कुलिंग से वो बचने की उदारता बतलाओ।

॥ इति ॥

परिशिष्ट
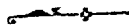
जैनागमो, अन्यमत के शास्त्रों, और ऐतिहासिक साघनो में डोराडाल दिनभर मुँहपत्ती मुँहपर बाँधने का कोई भी प्रमाणिक प्रमाण नहीं मिलता है लेकिन सर्वत्र हाथ मे मुँहपत्ती रखने के एवं बोलते समय मुँह के सामनेरख कर यत्ना पूर्वक बोलनेके प्रमाण प्रचुरता से दृष्टिगोचर हो रहे हैं और वे हैं भी सभ्य समाज के विश्वसनीय। इस हालत मे भी हमारे भाई अपनी कृत्रिम मान्यता को सत्य ठहराने के लिये, ऐतिहासिक प्रमाणों की परवाह न करते हुए, जैनागमों के व अन्यधर्मियो के शास्त्रों के बिलकुल झूठे अर्थ कर, बिचारे भद्रिक लोगो को धोका देने का मिथ्या प्रयत्न कर रहे हैं। फिर भी यह एक आश्चर्य की बात है कि कई विद्वान एवं लिखे पढ़े कहलाते हुए भी मिथ्या प्रवृति के लिए बुगलो की भाति मौन साधन कर बैठे हैं।

आगे चल कर हम यह भी देख रहे हैं कि कई अज्ञ लोग तो पूर्वाचार्यों रचित ग्रन्थो के नाम लेकर बिचारे भोले भाले लोगो को यो बहका रहे हैं कि मुँहपत्ती में डोराडाल उसे मुँहपर केवल हम ही नही बाँधते हैं पर मूर्त्तिपूजक आचार्य भी इसी प्रकार बाँधते थे। तब ही तो उन्होने अपने ग्रन्थो मे इस विधान

का उल्लेख किया है, और उन आचार्यों के असली आशय को नहीं समझते हुए कई लोग अपनी पुस्तकों में ऐसा छपवा भी दिया है और कई स्थानों पर अर्थ के बदले अनर्थ भी कर डाले हैं, फिर भी झूठे कभी सच्चे बन ही नहीं सकते हैं। उन पूर्वाचार्य के ग्रन्थों से देखा जाय तो किसी हालत में डोराडाल दिन भर मुँहपत्ती मुँह पर बाँधनी सिद्ध नहीं होती हैं।

दूसरा जब जैनागम लेखबद्ध किये गये थे, वे प्राय: ताड़पत्रों पर ही लिखाये गये थे और वे लम्बे ज्यादा और चौड़े कम थे जिनको यदि एक हाथ से पकड़ा जाय तो दोनों किनारे नीचे गिर कर टूट जाने का डर था अतएव उन ताड़पत्रों को दोनों हाथो से दोनों किनारे पकड़ कर व्याख्यान मे बांचे जाते थे। इस दशा में मात्र व्याख्यान के समय वे लोग मुँहपत्ती को त्रिकोनी कर कानों के छेद्रो मे डाल देते थे कि जिससे सूत्रों का रक्षण हो खुल्ले मुँह बोला न जाय और सूत्रो पर मुँह का थूक भी न लग सके तथा स्थापना प्रतिलेखन समय अपने नाक की वायु स्थापनजी को न लगने के कारण, या मकान का कचरा जो बहुत असों का पड़ा हुआ हो खराब रज उड़कर मुँह मे पड़ जाती हो और थंडिल की भूमिका दुर्गन्धमय हो, इस हालत मे जैनमुनि वस्त्र से मुँह आच्छादित कर सकते हैं और वे उतने ही समय के लिये, न कि दिनभर डोराडाल मुँहपत्ती मुँहपर बाँधी हो अर्थात् न तो किसी जैनाचार्य ने अपने ग्रन्थ मे डोराडाल मुँहपर मुँहपत्ती दिन भर बाँधना लिखा है और न उन्होने या उनकी परम्परा में आज पर्यन्त किसी ने बाँधी है।

परन्तु हमारे स्थानकवासी भाइयो को डोराडाल दिनभर

मुंहपत्ती मुंहपर बाँधने का कोई भी प्रमाण नहीं मिला तब वे इस अपवाद मार्ग को बिना समझे, इसी का नाम लेकर अपने भक्तो को बहका देते हैं कि देखो मूर्तिपूजक आचार्य भी लाभ समझ के थोड़ी देर के लिये मुंहपर मुँहपत्ती बाँधते थे और उसमें फायदा समझते थे। दिन भर बाँधने मे तो अधिक फायदा है तो इसमें शंका ही क्यों करना चाहिये इत्यादि ?

इस पूर्वोक्त कुयुक्ति से तो उन भाइयों की अनभिज्ञता ही जाहिर होती है क्योंकि उन्होंने अबी उत्सर्गोपवाद को समझा तक भी नहीं है। यदि कारणवसात् अपवाद रूप थोड़े समय के लिये जो कार्य किया गया हो पर कारण के अभाव उस अपवाद रूप कार्य को सदैव के लिये करना और उसमें अधिक फायदा समझना या भद्रिको को समझाना इसके सिवाय अनभिज्ञता ही क्या हो सकती हैं ? यदि ऐसा हीं हो तो बतलाइये—

(१) थोड़ी देर के लिये किया हुए विहारको दिन रात्रि करते ही रहना ?

(२) थोड़ी देर के लिये किया हुआ आहार पानी दिन रात्रि में करते ही रहना ?

(३) थोड़ी देर के लिये ली हुई दवाइ दिन रात्रि लेते ही रहना ?

(४) थोड़ी देर के लिये की हुई प्रतिलेखन दिन रात्रि करते ही रहना ?

(५) थोड़ी देर के लिये दिया हुआ व्याख्यान दिन रात्रि देते ही रहना ?

(६) थोड़ी देर के लिये रजोहरण से लिया हुआ काजा दिन रात्रि लेते ही रहना ?

इत्यादि समय समय पर करने योग्य क्रियाओ को हमारे स्थानकवासी भाई दिन रात्रि तक वही क्रिया करना स्वीकार कर लेंगे ? यदि नहीं तो फिर यह उदाहरण आगे क्यों रखा जाता है कि मूर्त्तिपूजक आचार्य जिस समय ताड़ पत्रों पर सूत्र थे और व्याख्यान के समय मुँहपत्ती से मुँह आच्छादित किया करते थे, इसलिये हम भी दिन रात्रि डोराडाल मुँहपत्ती मुँहपर बाँधी रखते हैं। समझना इतना ही है कि अपवाद है वह आफत समय के लिये है प्रत्युत हमेशा के लिये नहीं।

फिर भी हमारे स्थानकवासी भाई क्या यह बतलाने का थोड़ा ही साहस कर सकेंगे कि किसी जैनाचार्य या लोकागच्छ के आचार्य ने व्याख्यान के समय के अतिरिक्त मुँहपत्ती मे डोरा तो क्या, पर मुँहपत्ती के कोने भी कानो के छिद्रों में डाल मुँह आछादित कर व्याख्यान के पाटे के सिवाय एक कदम भी गमनागमन किया था ? क्या आहार विहार निहार के निमित्त उपाश्रय के बाहार उसी अवस्था मे एक कदम भी भरा था ? और इसी कारण किसी विधर्मियो ने उनकी निन्दा की थी ? जैसे डोराडाल मुँहपत्ती मुँहपर बाँधने वालो की इस प्रवृत्ति के प्रारंभ से आज पर्यन्त हो रही हैं।

तीसरा स्थानकवासी मित्रों ने अपनी पुस्तको में जिन जिन आचार्यों के ग्रन्थों के नाम लेकर मुँहपत्ती मुँहपर बाँधना सिद्ध करने का मिथ्या प्रयत्न किया हैं वह भी केवल भद्रिक जनता को

धोखा ही दिया है। अथवा यह भी हो सकता है कि आज संशोधकयुग में कई स्थानकवासी भाई मुँह पर दिनभर मुँहपत्ती बाँधी रखना कल्पित समझ कर इस कुप्रथा का त्याग कर मूर्त्तिपूजक समाज मे चलेगये, और जा रहे हैं। पर शेष भ्रमित चित वालो को आश्वासन देने के लिये ही यह व्यर्थ प्रयत्न किया गया हो। परन्तु यह सब स्वप्नवत् कल्पना ही है। ग्रन्थ वढ़ जाने के भय से मैं इन सबका खुलासा यहाँ नही करता हूँ परन्तु मै मेरे पाठकों को इतना ही कह देना पर्याप्त समझता हूँ कि इस विपय में विद्वान् मुनिश्रीमणिसागरजी महाराज ने "आगमानुसार मुखवस्त्रिका निर्णय" नामक बृहद् ग्रन्थ प्रकाशित करवाया है उसको मंगवा कर पढ़िये और वह ग्रन्थ कोटे से मुफ्त मिलता है। प्रस्तुत ग्रन्थ पढ़ने से अव्वल तो आपको स्थानकवासी समाज की सत्यता मालूम हो जायगी कि वे लोग एक मिथ्या बात को किस प्रकार सत्य करना चाहते हैं दूसरा यह भी ज्ञान हो जायगा कि न तो किसी जैनाचार्यों ने दिनभर मुँहपत्ती मुँहपर बाँधी थी और न इसका विधान ही किसी ग्रन्थ में लिखा है। यह तो हमारा कमनसिब है कि विक्रम की अठारहवी शताब्दी में तीर्थङ्करों की और खासकर लौकागच्छ के आचार्यों को आज्ञा का भंग कर स्वामी लवजी ने हाथ मे मुँहपत्ती रखने की कठिनाइयो को सहन न करते हुए उस आपत्ति को मिटाने के लिये ही डोराडाल दिन भर मुँहपत्ती को मुँहपर बांधकर स्वयं कुलिंग धारण कर अन्य धर्मियों से जैनधर्म की निंदा करावाई है और अन्ध परम्पर मे विश्वास रखने वाले कई जानते व अनजानते भी इस कुप्रथा को झूठमूँठ ही चला रहे है परन्तु समझदार लोग तो इस कुप्रथा को

कालपनिक एवं मिथ्या समझ मुँहपत्ती के डोरे को तोड़ शुद्ध सनातन मार्ग का अवलम्बन कर स्वपर का कल्याण करना ही अच्छा समझा और समझते हैं। इतना ही क्यों पर इस कार्य करने वालों की शुभ नामावली और कतिपय चित्र हम श्रीमान् लोकाशाह के जीवन पर ऐतिहासिक प्रकाश नाम की पुस्तक में दे दिये हैं उस को देखें और पढ़कर असत्य का त्याग और सत्य को स्वीकार करें। यही हार्दिक शुभ भावना है।

॥ इति ॥

———

इति

क्या जैन तीर्थङ्कर

डोराडाल मुँहपत्ती मुँहपर बाँधते थे?
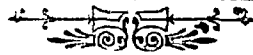
पूज्यपाद मुनिश्री ज्ञानसुन्दरजी महाराज साहिब के पूर्ण परिश्रम और सदुपदेश द्वारा श्रीरत्नप्रभाकर ज्ञान पुष्पमाला-फलोदी (मारवाड़) से आज पर्यन्त मुद्रित हुई पुस्तकों का—

संक्षिप्त सूचीपत्र

विभाग पहिला तात्विक विषय की पुस्तकें

पुस्तक	मूल्य
१ शीघ्रबोध भाग १ला	१॥)
२ शीघ्रबोध भाग २रा	
३ शीघ्रबोध भाग ३रा	
४ शीघ्रबोध भाग ४था	
५ शीघ्रबोध भाग ५वा	
६ शीघ्रबोध भाग ६वां	१।)
७ शीघ्रबोध भाग ७वा	
८ शीघ्रबोध भाग ८वां	
९ शीघ्रबोध भाग ९वा	
१० शीघ्रबोध भाग १०वा	
११ शीघ्रबोध भाग ११वां	१॥)
१२ शीघ्रबोध भाग १२वा	
१३ शीघ्रबोध भाग १३वां	
१४ शीघ्रबोध भाग १४वां	
१५ शीघ्रबोध भाग १५वा	
१६ शीघ्रबोध भाग १६वां	
१७ शीघ्रबोध भाग १७वां	४)
१८ शीघ्रबोध भाग १८वां	
१९ शीघ्रबोध भाग १९वा	
२० शीघ्रबोध भाग २०वां	
२१ शीघ्रबोध भाग २१वां	
२२ शीघ्रबोध भाग २२वा	
२३ शीघ्रबोध भाग २३	॥।)
२४ शीघ्रबोध भाग २४	
२५ शीघ्रबोध भाग २५	
२६ सुखविपाक सूत्रमूल	≡)
२७ दशवैकालिक सूत्र मूल	=)
२८ नन्दीसूत्र मूल पाठ	।)
२९ समवसरण प्रकरण	भेट
३० द्रव्यानुयोग प्रथम प्र०	=)
३१ द्रव्यानुयोग द्वितीय प्र०	=)
३२ तत्त्वसार संग्रह प्रथम भाग	≡)
३३ तत्त्वसार संग्रह दूसरा भाग	=)
३४ कर्म ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद	।)
३५ नयचक्रसार हिन्दी अ०	।=)
३६ तत्त्वार्थ सूत्र हिन्दी अ०	॥)
३७ व्यवहारसमकित के ६७ बोल	-)
३८ तत्वार्थसूत्र मूल	भेट
३९ कक्कावतीसी सार्थ	।)
४० दशवैकालिकसूत्र ४ अ०	भेट
४१ पैंतीस बोल का थोकडा	=)
४२ आनन्दघन चौवीसी	भेट
४३ आनन्दघन पदमुक्तावलि	=)
४४ जड़ चैतन्य का संवाद	=)

विभाग दूसरा-ऐतिहासिक विषय की पुस्तकें।

१	उपकेशगच्छ लघुपटावलि	-)
२	दानवीर जगडूशाह	
३	जैनजाति निर्णय प्रथमांक	।)
४	जैनजाति निर्णय द्वितीयांक	
५	जैनजातियों का सचित्र इ०	।)
६	ओसवालजाति समय निर्णय	=)
७	उपकेशवंश का इति०	-)
८	बालके मन्दिर का इति०	भेट
९	कापरड़ातीर्थ का इति०	।)
१०	धर्मवीर समरसिंह इति०	३।)
११	जैसलमेर का विराट् संघ	
१२	रत्नप्रभसूरि की जयन्ती	
१३	ओसवालोत्पत्ति शंका० सं०	
१४	प्राचीन जैन इ० संग्रह भाग १	
१५	,, ,, ,,	२
१६	,, ,, ,,	३
१७	,, ,, ,,	४
१८	,, ,, ,,	५
१९	,, ,, ,,	६
२०	,, ,, ,,	७
२१	,, ,, ,,	८
२२	जैनजाति महोदय प्रकरण	१ला
२३	,, ,,	२रा
२४	,, ,,	३ रा
२५	,, ,,	४ था
२६	,, ,,	५ वां
२७	,, ,,	६ ट्टा
२८	मूर्त्तिपूजा का प्रा० इति०२	२
२९	मूर्त्तिपूजा विषय प्रश्नोत्तर	
३०	क्या जै० ती० मुँ० मुँ०बाँधते थे	
३१	श्रीमान् लौंकाशाह के० इ०	
३२	ऐतिहासिक नोंध की ऐति०	
३३	कडुआमत की पट्टावलि	
३४	गोडवाड के जैनों और सादड़ी के लौंका० इ०	।

विभाग तीसरा औपदेशिक पुस्तकें।

१	स्तवन संग्रह भाग १	=)
२	,, ,, ,, २	=)
३	,, ,, ,, ३	=)
४	दादा साहिब की पूजा	भेट
५	देवगुरु वन्दनमाला	-)
६	जैन नियमावली	)॥
७	जैनमंदिरकीचौरासीआशातना	)॥
८	चैत्य वंदनादि	-)
९	जैन स्तुति	)।
१०	सुबोध नियमावली	)॥
११	प्रभु पूजा विधि	)॥
१२	व्याख्याविलास प्रथमभाग	=)

विभाग चौथा चर्चा विषयक पुस्तकें।

१ श्री प्रतिमा छत्तीसी)।
२ श्री गयवर विलास ।)
३ दान छत्तीसी)॥
४ अनुकंपा छत्तीसी)॥
५ प्रश्नमाला स्तवन -)
६ चर्चा का पब्लिक नोटिश)॥
७ लिंग निर्णय बहुत्तरी -)
८ सिद्ध प्रतिमा मुक्तावली ॥)
९ बत्तीस सूत्र दर्पण ≡)
१० डंका पर चोट भेट
११ आगम निर्णय प्र० अङ्क =)
१२ जैन दीक्षा)॥
१३ कागद, हुंडी, पेट, परपेट, और मेझरनामा ॥)
१४ तीन निर्नामा लेखों का उत्तर भेट
१५ अमे साधु शा माटे थया „
१६ विनंति शतक -)
१७ तीन चतुर्मास का दिग्दर्शन भेट
१८ हित शिक्षा प्रश्नोत्तर ॥)
१९ व्यवहार की समालोचना =)
२० मुखवस्त्रिका नि० निरीक्षण -)
२१ निराकार निरीक्षण भेट
२२ प्रसिद्धवक्ता की तस्करवृत्ति -)
२३ धूर्त पंचोंकी क्रांतिकारी पूजा भेट
२४ वालों संघ का फैसला भेट
२५ समीक्षा की परीक्षा „
२६ लेखसंग्रह भाग १ ला
२७ „ „ २ रा
२८ „ „ ३ रा
२९ जैन मन्दिरों के पुजारी =)
३० श्री वीर स्तवन भेट
३१ हाँ! मूर्ति पूजा शास्त्रोक्त है ≡)

शुद्धि-पत्रक
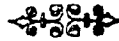
पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
२	२२	पापण	पाषाण
५	२१	सहिब	साहिब
७	५	भाद्रिक	भद्रिक
९	२४	पात्रिका	पत्रिका
११	२०	साहब	साहिब
१३	५	ह	हैं
१६	२१	शताब्दा	शताब्दी
१७	१३	हितचार्य	हिताचार्य
१८	१५	मुर्तिपूजा	मूर्तिपूजा
२२	४	देवा	देव
२७	१	परिक्षा	परिज्ञा
२७	१	मव्जसा	मव्जसा
२८	८	हंसूरि	हंससूरि
२८	१०	शीलांका	शीलाङ्का
२८	१२	अनुगृहार्थं	अनुग्रहार्थं
२८	१३	न्दैः	न्द्रैः
२८	१९	सुर	सूरि
२८	१३	पणम्य	प्रणम्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्धि
२८	२३	श्रीगुरुणामनुगृहान्द	श्रीगुरुणामनुग्रह त
२८	२४	लिखते	लिख्यते
२८	२४	गार्थ	गार्थ
२९	४	पकारायादि मांडगार्थः पतन्यते	पकरायाऽऽदिमांऽगाऽर्थः प्रतन्यते
२९	२४	प्ररूपण	प्ररूपणा
३१	२	आठग्राटि	आठकोटि
३६	११	संदह	संदेह
४२	२	मुँद	मुँह
४३	१९	पुर्णवा	पूर्णता
४३	१९	येषां भास्ति	येषामस्ति
४३	२०	त	ते
४३	२४	अर्हैति	अर्हति
४३	२४	कृ तां	कृतां
४४	१	य + त्व	ये – त्वं
४५	१	तीर्थकरो	तीर्थकरो
४७	९	बेडी	वेडी
५०	२२	त + कि	ती + किं
५२	१८	एव	एवं
५४	१९	हुहणं	रुहणं
५६	५	प्रमाजी	प्रमार्जी
५८	११	स्तूभ	स्तूप
५९	१	नमोत्थूणं	नमोत्थुणं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्धि
५९	३	सिद्धयत	सिद्धायतन
६२	१७	गागिक	गामिक
६३	११	चम	चेम
६८	१	चतुथ	चतुर्थं
६८	१६	का × का	की + को
७१	७	कहीं कैसी	केही कैसे
७२	१६	पुरुषों	पुष्पों
७३	२३	नमना	नमूना
७४	२०	शा— शा	श—श
७८	२२	पश्चरक्खाण	पच्चक्खांण
७९	८	णु + ग	ण + गा
८३	४	युज्येते	युज्यते
८३	६	र्थी	र्थां
८३	९	ति	नि
८३	११	तक्ष	त्य
८४	१८	हलदरा	हलधरा
८४	२३	व	वा
८५	१२	णा	ण
८७	२१	कुड़ा	कुरडा
८७	१६	मूति	मूर्ति
८९	८	सहायिकं	सहायकं
८९	९	अत्यान्तसमथं	अन्तान्ताऽसमर्थं
८९	१०	व्यवेदं	वेदं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
८९	२१	अवक	श्रावकों
९३	२३	ग	गा
९८	१	सादार	सादर
९८	९	गात	गति
१०२	१	पादुका	पादुका
१०३	१७	त्तात	ज्ञाता
१०४	२५	वंद	वंदइ
१०५	१४	लागडे	लगाड़े
१०६	६	तस्कार	तस्कर
१०६	२३	उसकी	उसका
१०८	१८	सी	इसी
१०९	५	अऊट	आऊट
१११	१	यन	येन
११३	६	माणि	मणि
१२०	१८	नेमि	नमि
१२१	४	नेमि	नमि
१२१	११	नेमि	नमि
१२२	१०	मर्ति	मूर्ति
१२४	२१	लिखा	शिलालेख
१२५	१३	मोघ	मेघ
१२७	१५	स्कंदिल	स्कंदिला
१२८	१५	का	के
१३९	२	वें	वर्ष

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१४७	१—६	कुट	कूंट
१५०	९	पुरात्वज्ञो	पुरातत्वज्ञो
१५८	१७	मूर्ति ूजा	मूर्तिपूजा
१६२	८	स्त्रीकार	स्त्रीआकार
१६४	१६	सिद्ध	सिद्धि
१६५	८	२२	३२
१६७	११	छाड़	छोड
१६८	१२	र्त्ति	मूर्त्ति
१६८	२४	पज्य	पूज्य
१६९	१९	शुकरन	शुकरात
१७४	७	घढो	घड़ी
१७४	११	मूर्ति ूजा	मूर्तिपूजा
१७६	३	वनाने में	हिंसा होती है
१७६	१९	निकलाते	निकालते
१८१	११	मुद्र	मुद्रा
१९०	१८	उनके	उसने
१९९	१५	कल्लीए	वल्लीए
१९९	१५	भवाश्र	भावाश्रो
१९९	१८	३३	३६
२०३	२१	जन	पूजन
२०९	६	पलट	पलटा
२०९	२३	मूर्ति	मूर्तियों
२५१	२३	जैनयो	जैनियों

पृष्ठ	ंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
२५७	२१	यत्न	यत्ना
२५८	६	पराडव	पांडव
२६५	१०	स्नान	स्नात्र
२६६	२१	सूक्ष	सूत्र
२८४	१	उसका	उसको
२८४	१८	पंडव	पांडव
३०१	१७	सोलह	०
३०३	१८	भेदा	भेदी
३२०	२	मुंह	मुँह
३४५	२	बाँधत	बाँधते

फार्म छपजाने के पश्चात् आये हुए पत्रों से ग्राहकों की

शुभ नामावली

१०	श्रीमान्	हमीरमलजी धनरूपमलजी	अजमेर
१	,,	वन्शीलालजी बोहरा	पीपाड़
१	,,	प्रेमराजजी देसरड़ा	,,
१	,,	गंभीरमलजी मुथा	,,
१	,,	मेघराजजी मुनोयत	,,
१	,,	धनराजजी कांसटिया	पाली
१	,,	बखतावरमलजी लोढ़ा	,,
१	,,	रत्नचन्दजी लोढ़ा	,,
१	,,	मुनिलालजी बाफना	,,
१	,,	मुनिलालजी जबलपुरवाला	,,
१	,,	प्रेमचन्दजी रांका	,,
१	,,	मुल्तानमलजी मुनीम	तीर्थ कापरड़ाजी
१	,,	केसरीमलजी चोरड़िया	बीलाड़ा